प्राकृत भारती पुष्प—84

प्रधान सम्पादक :
म. विनयसागर

कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : ५-६, भाग : ४

[भ० शान्तिनाथ से मुनिसुव्रत तक ५ तीर्थङ्कर, ५ चक्रवर्ती, २ वासुदेव, २ बलदेव, २ प्रतिवासुदेव—१६ महापुरुषों का चरित]

अनुवादक
श्री गणेश ललानी
एवं
श्रीमती राजकुमारी बेगानी

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशकीय

अप्रतिम-प्रतिभा-धारक, कलिकाल-सर्वज्ञ, परमार्हत् कुमारपाल प्रतिबोधक, स्वनामधन्य श्री हेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टिशलाका-पुरुष चरित का पंचम एवं षष्ठ पर्व, भाग-4 के रूप में प्राकृत भारती की पुष्प संख्या 84 के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

त्रिषष्टि अर्थात् तिरेसठ, शलाका पुरुष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट महापुरुष। सृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका-पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरकों में प्रत्येक काल में सर्वोच्च 63 पुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पिणी में 63 महापुरुष हुए हैं, उनमें 24 तीर्थङ्कर, 12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव और 9 बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं 63 महापुरुषों के जीवन-चरितों का संकलन इस 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे 10 पर्वों में विभक्त किया है जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त 63 महापुरुषों के जीवनचरित संगृहीत है।

प्रथम पर्व में 6 सर्ग हैं, जिनमें भगवान ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्ती का जीवनचरित गुंफित है। द्वितीय पर्व में भी 6 सर्ग हैं, जिनमें भगवान अजितनाथ एवं द्वितीय चक्रवर्ती सगर का सांगोपांग जीवनचरित है। ये दोनों पर्व दो भागों में हिन्दी अनुवाद के साथ प्राकृत भारती के पुष्प 62 एवं 77 के रूप में प्राकृत भारती द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं।

तृतीय भाग में पर्व 3 और 4 संयुक्त रूप से प्रकाशित हो चुके हैं। तृतीय पर्व में 8 सर्ग हैं जिनमें क्रमशः भग. संभवनाथ से लेकर दसवें भगवान शीतलनाथ के जीवनचरित हैं। चतुर्थ पर्व में ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ से लेकर 15वें तीर्थङ्कर धर्मनाथ तक, तीसरे-चौथे चक्रवर्ती, 5 वासुदेव, 5 बलदेव और 5 प्रतिवासुदेवों का विस्तृत जीवनचरित है। यह तीसरा भाग भी प्राकृत भारती की ओर से मार्च, 1992 में प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत चतुर्थ भाग में पर्व 5 और 6 संयुक्त रूप से प्रकाशित किए जा रहे हैं। पांचवें पर्व में 5 सर्ग हैं, जिनमें सोलहवें तीर्थङ्कर एवं पंचम चक्रवर्ती भगवान शान्तिनाथ का सविशद जीवन वर्णित है। प्रथम सर्ग में भगवान शान्तिनाथ के पूर्व के पांच भवों, दूसरे सर्ग में छठे-सातवें भव का, तीसरे सर्ग में आठवें-नवें भव का, चतुर्थ सर्ग में दसवें भव में मेघरथ

राजा का एवं ग्यारहवें भव का वर्णन और पांचवें सर्ग में भगवान शांतिनाथ के पांचों कल्याणकों तथा चक्रवर्ती पद प्राप्ति का विस्तृत वर्णन है।

छठे पर्व मे 3 सर्ग हैं—

पहले सर्ग में सतरहवें तीर्थङ्कर एवं छठे चक्रवर्ती कुंथुनाथ का जीवनचरित है।

दूसरे सर्ग में सातवें चक्रवर्ती एवं 18वें तीर्थङ्कर भगवान अरनाथ का जीवनचरित है।

तीसरे सर्ग में छठे वासुदेव पुरुष पुण्डरीक, बलदेव आनन्द और प्रतिवासुदेव बलिराजा का चरित है।

चौथे सर्ग में आठवें चक्रवर्ती सुभूम का चरित है। इसी के अन्तर्गत महर्षि परशुराम का चरित भी है।

पांचवें सर्ग में क्रमशः सातवें वासुदेव दत्त, बलदेव नन्दन और प्रतिवासुदेव प्रह्लाद का चरित है।

छठे सर्ग में उन्नीसवें तीर्थङ्कर भगवान मल्लिनाथ का जीवन चरित है। इसी के साथ उनके पूर्व भव के छह मित्रों का जीवन अङ्कित है।

सातवें सर्ग में बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रत स्वामी का जीवनचरित, हरिवंश की उत्पत्ति एवं अश्वावबोध तीर्थ की उत्पत्ति का वर्णन है।

आठवें सर्ग में महापद्म नामक नौवें चक्रवर्ती का जीवनचरित है।

इस प्रकार भाग 4—पर्व 5-6 में सोलहवें से बीस-5 तीर्थङ्कर, 5 से 9—5 चक्रवर्ती, छठे-सातवें 2-2 वासुदेव, बलदेव, प्रतिवासुदेव—कुल 16 महापुरुषों का जीवन संकलित है। इस प्रकार देखा जाए तो भाग 1 से 4, पर्व 1 से 6 के कुल 40 सर्गों में 20 तीर्थङ्कर, 9 चक्रवर्ती, 7 वासुदेव, 7 बलदेव, 7 प्रतिवासुदेव—50 शलाका महापुरुषों का विशद जीवनचरितों का समावेश हो गया है। विशेष ज्ञातव्य है कि 16-18वें तीर्थङ्कर उसी भव में चक्रवर्ती पद का उपभोग कर तीर्थंकर बने हैं।

पूर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन-महापुरुष-चरियं' नाम से इन 63 महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने 9 प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः 63 के स्थान पर 54 महापुरुषों की जीवन-गाथा ही उसमें सम्मिलित थी।

आचार्य हेमचन्द्र 12वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सरस्वती-पुत्र थे, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखिनी से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्द-शास्त्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिन्तनपूर्ण लेखिनी का सफल प्रयोग इन्होंने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे; अपितु जैनधर्म के एक दिग्गज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार में अहिंसा का सर्वत्र व्यापक सकारात्मक प्रयोग हो इस दृष्टि से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में भी सजगता से आए और सिद्धराज जयसिंह तथा परमार्हत् कुमारपाल जैसे राज-ऋषियों को प्रभावित किया और सर्वधर्मसमन्वय के साथ विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पटह के रूप में उद्घोष भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को जिन के रूप में आलेखित कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे; अपितु उन्होंने गुर्जर धरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम के साथ गुर्जर भाषा को जो अनुपम अस्मिता प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकाष्ठा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते हैं। पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने इस चरित-काव्य को साहित्यशास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह ग्रन्थ छत्तीस हजार श्लोक परिमाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखते हैं—

'चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिन्ध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत् चालुक्यकुलोत्पन्न कुमारपाल राजर्षि ने एक समय आचार्य हेमचन्द्रसूरि से विनयपूर्वक कहा—'हे स्वामिन्! निष्कारण परोपकार की बुद्धि को धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त-कारण मृगया, जुआ, मदिरादि दुर्गुणों का मेरे राज्य में पूर्णतः निषेध कर दिया है और पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहन्त के चैत्यों से सुशोभित एवं मण्डित कर दिया है। अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं सम्प्रति राजा जैसा हो गया हूं। मेरे पूर्वज महाराजा सिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से आपने पंचांगीपूर्ण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। भगवन्! आपने मेरे लिए निर्मल

'योगशास्त्र' की रचना की और जनोपकार के लिए द्वयाश्रय काव्य, छन्दोऽनुशासन, काव्यानुशासन और नामसंग्रहकोष प्रमुख अन्य ग्रन्थों की रचना की। अतः हे आचार्य! आप स्वयं ही लोगों पर उपकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को प्रतिबोध देने के लिए 63 शलाका-पुरुषों के चरित पर प्रकाश डालें।'

इससे स्पष्ट है कि राजर्षि कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी। पूर्वांकित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचनाकाल विक्रम संवत् 1220 के निकट ही स्वीकार्य होता है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रौढ़ावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानव स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है। यही कारण है कि काल की इयत्ता में बन्धी पुराण कथाओं में इधर-उधर बिखरे उनके विचारकण कालातीत हैं। यथा—शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, बेईमानी रहित वणिक्, ईर्ष्या रहित प्रेमी, व्याधि रहित शरीर, धनवान-विद्वान्, अहङ्कार रहित गुणवान्, चपलता रहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं।'

श्री गणेश ललवानी इस पुस्तक के अनुवादक हैं। वे बहुविध विधाओं के सफल शिल्पी हैं। उन्होंने इसका बंगला भाषा में अनुवाद किया था और उसी का हिन्दी रूपान्तरण श्रीमती राजकुमारी बेगानी ने सफलता के साथ किया है। शब्दावली में कोमलकान्त पदावली और प्राञ्जलता पूर्णरूपेण समाविष्ट है। इसके सम्पादन में यह विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि अनुवाद कौन से पद्य से कौन से पद्य तक का है, यह संकेत प्रत्येक गद्यांश के अन्त में दिया गया है। हम श्री गणेश ललवानी और श्रीमती राजकुमारी बेगानी के अत्यन्त आभारी हैं कि इन्होंने इसके प्रकाशन का श्रेय प्राकृत-भारती को प्रदान किया और हम उनसे पूर्णरूपेण आशा करते है कि इसी भांति शेष 6 पर्वों का अनुवाद भी हमें शीघ्र ही प्रदान करें जिससे हम सम्पूर्ण ग्रन्थ धीरे-धीरे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकें।

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

विषयानुक्रम

	पंचम पर्व	**1—125**
प्रथम सर्ग	— भ० शान्तिनाथ के पूर्व के 5 भवों का वर्णन	1—31
द्वितीय सर्ग	— छठे-सातवें पूर्व भव का वर्णन	31—57
तृतीय सर्ग	— आठवें-नौवें पूर्व भव का वर्णन	57—70
चतुर्थ सर्ग	— दसवें भव में मेघरथ राजा एवं ग्यारहवें भव का वर्णन	70—92
पंचम सर्ग	— 16वें तीर्थंकर एवं पंचम चक्रवर्ती भ. शान्तिनाथ का चरित	92—125
	षष्ठ पर्व	**127—219**
प्रथम सर्ग	— छठे चक्रवर्ती एवं 17वें भ० कुंथुनाथ का चरित	127—135
द्वितीय सर्ग	— सातवें चक्रवर्ती एवं 18वें भ० अरनाथ का चरित	125—159
तृतीय सर्ग	— छठे-पुरुष पुण्डरीक वासुदेव, आनन्द बलदेव एवं बलि प्रतिवासुदेव का चरित	159—162
चतुर्थ सर्ग	— आठवें चक्रवर्ती सुभूम का चरित	162—170
पंचम सर्ग	— सातवें—दत्त वासुदेव, नन्दन बलदेव एवं प्रह्लाद प्रतिवासुदेव का चरित	170—173
षष्ठ सर्ग	— 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का विशद चरित	173—190
सप्तम सर्ग	— 20वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का चरित एवं हरिवंश की उत्पत्ति	190—205
अष्टम सर्ग	— नौवें चक्रवर्ती महापद्म का चरित	205—219

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्

श्री शान्तिनाथचरितम्

पंचम पर्व

प्रथम सर्ग

मैं उस शान्तिनाथ को प्रणाम करता हूं जिनका समस्त कर्म-मल क्षय हो गया है एवं जो कि पंचम चक्रवर्त्ती और सोलहवें तीर्थंकर है। (श्लोक १)

मैं उनके जीवनचरित का वर्णन करूंगा जो कि परम पवित्र और अज्ञानान्धकार को दूर करने में सूर्यरूप हैं। (श्लोक २)

चक्राकार जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र नामक एक क्षेत्र है जो देखने में चन्द्र के सप्तमांश की तरह है। इसी भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में रत्नपुर नामक एक नगर है जो कि मध्य दक्षिणार्द्ध का अलङ्कार तुल्य और अमरावती की तरह है। उसी नगर में श्रीसेन नामक एक राजा राज्य करते थे। वे पद्मचक्षु थे। कारण प्रस्फुटित पद्म पर ही श्री निवास करती है। धर्म पर उनकी अपने अग्रज की तरह श्रद्धा थी और अर्थ एवं काम को वे अपने अनुज की भाँति सुरक्षित रखते थे। वे सदैव आवेदन करने वालों का आवेदन पूर्ण करते; किन्तु कामी परस्त्री का आवेदन नहीं सुनते थे, कारण वे सम्यक चारित्र में अधिष्ठित थे। उनका सौन्दर्य इतना अनन्य था कि चित्रकार भी उसे अंकित नहीं कर पाते थे। आधिपत्य की रक्षा के लिए वे कर ग्रहण करते थे; किन्तु कल्प वृक्ष की तरह करुणा की उपासना करते थे अर्थात् कर रूप में जो ग्रहण करते थे वह प्रार्थियों को दान कर देते थे। (श्लोक ३-९)

उनकी पत्नी का नाम अभिनन्दिता था। उनका चरित्र जैसा अनिन्द्य था वैसी ही उनकी वाणी मनमुग्धकर और दृष्टि रूपी कमल के लिए वे स्वयं चन्द्रिका की तरह मनोहर थी। वे

सच्चरित्रता का परित्याग कभी विचारों में भी नहीं करती थीं। बाह्य अलङ्कार का मूल्य ही क्या होता है ? जब वे अलङ्कार धारण करती तब अलङ्कार भी अलंकृत होते; किन्तु स्वाभाविक सौंदर्य के कारण वे भार स्वरूप ही प्रतीत होते थे। उनका प्रतिरूप केवल दर्पण में ही मिल सकता था, अन्यत्र कहीं नहीं। उनके अङ्ग अङ्ग से शील व सौन्दर्य प्रवाहित होता था। उन्होंने सद्‌गुण से अलंकृत होकर पिता, माता और पति के तीनों कुलों को एक साथ अलंकृत किया था। वे एक होकर भी अनेक थीं। (श्लोक १०-१४)

राजा की शिखिनन्दिता नामक एक और पत्नी थी। वह मेघ की तरह मन-मयूर को आनन्दित करती थी। (श्लोक १५)

कालक्रम से राजा के साथ सुखभोग करते हुए रानी अभिनन्दिता गर्भवती हुई। गर्भधारण के समय उन्होंने सूर्य और चन्द्र को अपनी गोद में खेलते हुए देखा। यह स्वप्न सुनकर राजा बोले, तुम्हारे श्रेष्ठ युगल पुत्र होंगे। समय पूर्ण होने पर रानी अभिनन्दिता ने सूर्य चन्द्र-से दीप्तिमान दो पुत्रों को जन्म दिया। राजा श्रीसेन ने उत्सव कर उन दोनों का नाम रखा इन्दुसेन और बिन्दुसेन। माली जिस प्रकार लगाए हुए वृक्षों की सेवा करता है उसी प्रकार धात्रियों द्वारा पालित होकर वे राजा की दोनों बाहुओं-से क्रमशः बढ़ने लगे। तब राजा उनके नाम की तरह शिक्षक द्वारा ज्ञान-विज्ञान व्याकरण आदि की शिक्षा देने लगे। सामरिक विद्या और अन्यकलाओं में भी वे पारंगत हो गए। व्यूह प्रवेश और व्यूह निर्गमन की शिक्षा भी उन्होंने प्राप्त कर ली। क्रमशः जो सर्वांग को पुष्ट कर प्रेम रूपी कमल को प्रस्फुटित करने में ऊषा रूप है ऐसे यौवन को वे प्राप्त हुए। (श्लोक १६-२३)

भरत क्षेत्र के मगध देश में अचल ग्राम नामक एक समृद्धिशाली और अग्रगण्य ग्राम था। उस ग्राम में ब्राह्मणश्रेष्ठ धरणीजट नामक एक ब्राह्मण रहता था। वेद वेदांगों के ज्ञाता होने के कारण उनकी ख्याति सर्वत्र थी। उनकी यशोभद्रा नामक एक पत्नी थी। वह सद्‌गुण सम्पन्ना कल्याणकारिणी और रूप में गृहलक्ष्मी जैसी थी। कालक्रम से उसने गृह उज्ज्वलकारी दो पुत्रों को जन्म दिया। ज्येष्ठ का नाम नन्दीभूति और कनिष्ठ का नाम श्रीभूति था। ब्राह्मण के कपिला नामक एक दासी थी। दीर्घकाल तक गुप्त रूप

से उसने उसके साथ भी यौवन सुख भोग किया था। सचमुच ही इन्द्रिय दमन करना बहुत कठिन है। कालक्रम से कपिला ने भी कपिल नामक एक पुत्र को जन्म दिया। (श्लोक २४-२९)

ब्राह्मण धरणीजट यशोभद्रा के दोनों पुत्रों को वेद वेदांग निघण्टु आदि पढ़ाने लगा। कपिल महाप्रतिभा सम्पन्न था। अतः पिता के न पढ़ाने पर भी श्रवण मात्र से वेद वेदांग में पारंगत हो गया। प्रतिभा द्वारा भला क्या सम्भव नहीं है? तदुपरान्त पितृ-गृह का परित्याग कर वह शिखा, उपवीत धारण कर पण्डित के वेश में ब्राह्मण श्रेष्ठ हूं प्रचार करता हुआ विदेश में विचरण करने लगा। विद्वानों के लिए विदेश क्या? इस प्रकार विचरण करते हुए वह रत्नपुर नगर में आया और उसने मेघ की भाँति गर्जन कर स्वविद्या का परिचय दिया। (श्लोक ३०-३४)

इस शहर में समस्त कलाविद नगर-शिक्षक सत्यकि नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनके सभी शिष्य विलक्षण मेधा सम्पन्न थे। कपिल उनकी चतुष्पाठी में प्रतिदिन जाकर सत्यकि के प्रश्नों के उत्तर देता। उसकी मेधा से आश्चर्यचकित होकर सत्यकि ने कौतूहल वश वैदिक पाठों का गूढ़ार्थ जो कि ब्राह्मणों के सिवाय अन्य के लिए जानना सम्भव नहीं, पूछा। कपिल ने वह सब कण्ठस्थ सुना दिया। इससे सत्यकि ने सोचा कपिल वास्तव में कोई वेदज्ञ पण्डित है। तब सत्यकि ने राजा जैसे युवराज नियुक्त करते हैं वैसे ही कपिल को अपना स्थलवर्ती नियुक्त किया। गुणों का आदर कहां नहीं होता? कपिल वहाँ प्रतिदिन शिष्यों को वेदाभ्यास कराने लगा और सत्यकि कर्ममुक्त होकर उससे पुत्रवत् स्नेह करने लगा। कपिल भी उसके प्रति पिता का-सा आदर भाव दिखाने लगा। इससे आनन्दित होकर सत्यकि सोचने लगा इसके लिए मैं और क्या कर सकता हूं। (श्लोक ३५-४१)

सत्यकि की पत्नी जम्बूका ने एक दिन कहा—'तुम यद्यपि इस विषय में सोच रहे हो फिर भी तुम्हें कहती हूं कि सत्यभामा नामक हमारे एक ही कन्या है जिसका रूप देवोपम है। वह सदाचार सम्पन्ना सुशीला सहनशील विनयी और गम्भीर है। तुम उसके लिए उपयुक्त वर की खोज क्यों नहीं करते? जिसके घर कन्या, ऋण, शत्रुता और व्याधि है वह कैसे सो सकता है?

जब कि तुम निश्चिन्त होकर सो रहे हो।' (श्लोक ४२-४५)

सत्यकि बोला—'प्रिये, तुमने जो कुछ कहा वह सत्य है। अब तक मुझे सत्यभामा के योग्य वर मिल नहीं सका था। यह ब्राह्मण कपिल जो कि देखने में भी सुन्दर, प्रतिभासम्पन्न और सदाचारी है यह सत्यभामा के लिए उपयुक्त है।' जम्बूका भी इससे सहमत हो गयी। अतः एक शुभ दिन सत्यकि ने कपिल के साथ विधिवत् सत्यभामा का विवाह कर दिया। नगरवासियों द्वारा भी सत्यकि की तरह ही सम्मानित होकर कपिल सुशीला सत्यभामा के साथ यौवन सुख भोग करने लगा। इसे तो सत्यकि से भी अधिक सम्मान हमें देना चाहिए ऐसा सोचकर नगरवासी उसे विशेष दान-दक्षिणा देने लगे। इस प्रकार सदाचारी ब्राह्मण की तरह रहकर कपिल क्रमशः सद्गुणी के साथ साथ धनवान भी हो गया। (श्लोक ४६-५१)

वर्षाकाल में एक रात कपिल एक नाटक देखने गया। वहाँ रात्रि अधिक हो गयी। लौटते समय जब वह आधे रास्ते तक आया तो जोर से वर्षा होने लगी। सूचिभेद्य अन्धकार में कोई उसे नहीं देखेगा सोचकर कपिल ने अपने पहने हुए वस्त्रों को खोलकर बगल में दबा लिए और घर आने पर घर के द्वार पर वस्त्र पहन लिए। पति के वस्त्र जल में भीग गए हैं ऐसा सोचकर सत्यभामा पति के पहनने के लिए अन्य वस्त्र ले आयी। कपिल बोला, 'तुम क्या पागल हो, देखो मन्त्र बल से मेरे वस्त्र बिल्कुल भीगे नहीं है।' सत्यभामा ने जब पति की समस्त देह भींगी हुयी और कपड़ों को सूखा देखा तो मन ही मन सोचने लगी यदि मंत्र बल से उसने अपने वस्त्रों को सूखा रखा तो शरीर को सूखा क्यों नहीं रखा? निश्चय ही वह नग्न होकर घर लौटा है। इस व्यवहार से लगता है मेरा पति हीन कुल जात हैं। प्रतिभाशाली होने के कारण श्रवण मात्र से वेद ज्ञान प्राप्त कर लिया है। ऐसा सोचकर वह अपने पति के प्रति विराग सम्पन्न हो गयी और एक क्रीतदासी की तरह उसका जीवन दुर्वह हो गया। (श्लोक ५२-६०)

उधर धरणीजट दरिद्र हो गया। कपिल धनी हो गया है सुनकर वह धन के लिए उसके पास आया। कपिल ने उसके पैरों को धोकर सादर अभ्यर्थना की। साधारण अतिथि का ही जब सम्मान किया जाता है तब पिता की तो बात ही क्या? फिर जब

उसने स्नान आह्निकादि समाप्त कर लिए तब कपिल अपनी पत्नी से बोला—'मेरे और पिताजी के लिए अन्यत्र खाने की व्यवस्था करो।' जब पिता पुत्र एक साथ खाने नहीं बैठे तो सत्यभामा का सन्देह और दृढ़ हो गया। कारण उच्चकुल का व्यक्ति हीन कुल के व्यक्ति के साथ आहार नहीं करता। अपने श्वसुर के अनिन्दित व्यवहार से वह यह भी समझ गई कि उसका श्वसुर उच्चकुल जात है। तब उसने उसकी पिता, गुरु और देवता की तरह भक्ति की।

(श्लोक ६१-६६)

एक दिन गुप्त रूप से उसने अपने श्वसुर को ब्रह्महत्या की शपथ देकर पूछा, 'पिताजी, आपके इस पुत्र का उभय कुल पवित्र है या कोई दोष है? आप मुझे सत्य बताएँ।' धरणीजट स्वभाव से ही सरल था और शपथ भङ्ग के भय से उसने उसे सत्य बता डाला। तदुपरान्त कपिल से बिदा लेकर अपने गाँव लौट गया।

(श्लोक ६७-७०)

तब सत्यभामा ने राजा श्रीसेन के पास जाकर निवेदन किया —'दुर्भाग्य से यह नीच जाति का व्यक्ति मेरा पति बन गया है। किन्तु; अब बाघ के हाथ से गाय की तरह, राहु के ग्रास से चन्द्र की तरह, बाज के पंजों से कबूतर की तरह आप मुझे उससे मुक्त कराएँ। उससे मुक्त होकर मैं सम्यक चारित्र ग्रहण करना चाहती हूं। पूर्व जन्मकृत् असद् कर्मों के कारण मैं अब तक छलना का शिकार बनी रही।' (श्लोक ७१-७३)

तभी श्रीसेन ने कपिल को बुलवाया और कहा, 'सत्यभामा को सम्यक चारित्र पालन करने के लिए तुम मुक्त कर दो। अन्य की स्त्री को जबरदस्ती ग्रहण करने पर वह जिस प्रकार विरक्त रहती है उसी प्रकार विरक्त बनी सत्यभामा के साथ तुम क्या सुख भोग करोगे?' कपिल बोला, 'उसे छोड़कर मैं एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकता। वह मेरी सर्वस्व व जीवनदायिनी है। मैं क्या कभी उसका परित्याग कर सकता हूं? परित्याग करना और करवाना मणिकाओं के लिए ही प्रयोज्य है।' इस पर सत्यभामा क्रुद्ध होकर बोली—'तुम यदि मेरा परित्याग नहीं करोगे तो मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगी, जल में डूब मरूँगी।' तब राजा कपिल से बोले, 'उसको मरने के लिए विवश मत करो। वह कुछ दिन मेरे

प्रासाद में रहे। फिर जैसा होगा किया जाएगा।' कपिल इससे सहमत हो गया। राजा ने सत्यभामा को रानी के पास भेज दिया। वहाँ वह नाना प्रकार की तपस्याएँ करने लगी। (श्लोक ७४-८०)

कौशाम्बी में तब बल नामक एक पराक्रान्त राजा राज्य करता था। उसकी महारानी श्रीमती के गर्भ से उत्पन्न श्रीकान्ता नामक एक सुन्दर कन्या थी। उसके स्वेच्छा से श्रीसेन के पुत्र इन्दुसेन के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट करने पर बल ने उसे रत्नालङ्कारों से विभूषित कर उपहारों सहित श्रीसेन की सभा में भेजा। श्रीकान्ता के साथ आई हुई गणिका अनन्तमतिका के रूप पर मुग्ध होकर इन्दुसेन और बिन्दुसेन वह मेरी है वह मेरी है कहते हुए झगड़ने लगे। यहाँ तक कि द्वन्द्व युद्ध के लिए वे देवरमण उद्यान में गए। वहाँ से दोनों सशस्त्र उस अलौकिक सौन्दर्य भोग के लिए वृषभ की तरह युद्ध करने लगे। (श्लोक ८१-८५)

राजा श्रीसेन उन्हें युद्ध करने से रोक नहीं सके। वे सर्वदा सामनीति को ही श्रेष्ठ मानते आ रहे थे किन्तु; उद्धत को बल द्वारा ही वशीभूत किया जा सकता है। पुत्रों का यह व्यवहार जब लोक-चर्चा का विषय बन गया तब उन्होंने अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता के साथ परामर्श कर 'अब मेरे जाने का समय आ गया' कहकर तालपुट विष मिले कमल को सूँघा। सूँघने के साथ ही उनकी मृत्यु हो गई। दोनों रानियों ने भी तब विषमय कमल को सूँघकर मृत्यु को वरण कर लिया। पति से रहित होने पर अभिजात कुल सम्पन्न नारियाँ जीवित नहीं रहती। सत्यभामा ने देखा कि उसने जिनका आश्रय ग्रहण किया था जब वे ही नहीं रहे तब कपिल की ओर से अनिष्ट आशंका कर उसने भी विषकमल सूँघ कर मृत्यु को वरण कर लिया। (श्लोक ८६-९०)

इस भाँति ये चारों मरकर जम्बूद्वीप के उत्तर कुरु देश में युगलिया रूप में उत्पन्न हुए। श्रीसेन और अभिनन्दिता, शिखि-नन्दिता और सत्यभामा अब वहाँ पति-पत्नी के रूप में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। उनका आयुष्य था तीन पल्योपम का एवं देह तीन धनुष ऊँची थी। (श्लोक ९१-९३)

इन्दुसेन और बिन्दुसेन जब युद्ध कर रहे थे तब एक विद्याधर-राज विमान द्वारा वहाँ आए। वे दोनों के मध्य खड़े होकर अनुकूल

देवों के द्वाररक्षी की तरह हस्तोत्तोलित कर उन्हें युद्ध करने से रोक कर बोले, 'हे राजकुमारो, उसे पत्नी रूप में पाने की कामना कर तुम युद्ध क्यों कर रहे हो ? तुम लोग नहीं जानते वह तुम्हारी बहन है। मैं उसकी कथा सुनाता हूं। सुनो— (श्लोक ९४-९६)

'इस जम्बूद्वीप के महाविदेह में सीता नदी के उत्तर में पुष्कलावती नामक एक विजय है। वहाँ पृथ्वी के मुकुट-सा विद्याधरों के निवास रूप वैताढ्य नामक एक उत्तुंग पर्वत है। पर्वत की उत्तरी श्रेणी पर आदित्याभ नामक एक नगर है। वहाँ कुण्डलेन्द्र (शेष नाग) की तरह एक वैभवशाली सकुण्डलीन नामक राजा राज्य करते थे। उनकी अजितसेना नामक एक पतिव्रता पत्नी थी। मैं उनका पुत्र हूं। मेरा नाम मणिकुण्डलीन है। (श्लोक ९७-१००)

'एक दिन मैं वहाँ से जिनोपासना के लिए गरुड़ की तरह आकाश पथ से पुण्डरीकिणी नगर में गया। वहाँ जिनेश्वर अमितयश की उपासना कर युक्त होकर उनका प्रवचन सुना। प्रवचन के अन्त में मैंने उनसे पूछा, भगवन्, किस कर्म के कारण मैंने विद्याधर रूप में जन्म ग्रहण किया ? उन्होंने कहा सुनो— (श्लोक १०१-१०३)

'पुष्करवर द्वीप के पश्चिम द्वीपार्द्ध में शीतोदा नदी के दक्षिण तट पर सलिलावती विजय में पृथ्वी की स्वस्तिक की भाँति वीतशोका नामक एक नगरी है। वहाँ के अधिवासी शोक हीन होने के कारण उस नगरी का यह नाम है। किसी समय वहां रत्नध्वज नामक एक चक्रवर्ती थे। रूप में वे मीनध्वज (कामदेव) और शक्ति में कुलिशध्वज (इन्द्र) थे। उनकी चारित्र अलङ्कार से भूषित दो रानियाँ थी। एक का नाम कनकश्री और दूसरी का नाम हेमामालिनी था। बुद्धि और श्री की भाँति कनकश्री के दो कन्याएँ हुई। उनके जन्म के पूर्व उसने अपनी क्रोड़ में स्थापित कल्पवृक्ष के दो पल्लव देखे। जन्मोत्सव समारोह में माता-पिता ने उनके नाम कनकलता और पद्मलता रखा। वे कला शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ यौवन को प्राप्त होती हुई ऐसी लगी मानो त्रिलोक की श्री वहाँ एकत्र हो गई है। (श्लोक १०४-१११)

'पद्मा साध्वी अजितसेना के सम्पर्क में आकर संसार से विरक्त हो गई अतः उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार गुरुनी जी का आदेश लेकर उसने कर्म चतुर्थ उपवास रूप तपस्या की। इनमें ६३

दिनों तक एक दिन उपवास और एक दिन पारना करना होता है। इस कठिन तपश्चर्या के पश्चात् जब वह भिक्षाचर्या के लिए जा रही थी तब राह में गणिका मदनमंजरी के लिए दो राजपुत्रों को युद्ध करते देखा। यह देखकर पद्मा ने मन ही मन सोचा वास्तव में यह रूपवती है जिसके लिए दोनों राजपुत्र युद्ध कर रहे हैं। मेरी तपस्या का यदि कुछ फल हो तो मैं भी आगामी जन्म में ऐसा ही रूप प्राप्त करूँ। ऐसा निदान करके उसकी बिना शुद्धि किए वह मृत्यु को प्राप्त हो गई और सौधर्म कल्प में विपुल समृद्धिशाली देवी के रूप में उत्पन्न हुई। (श्लोक ११२-११८)

'कनकश्री भव भ्रमण करती हुई दानादि शुभ योग के फल-स्वरूप तुम मणिकुण्डल विद्याधरराज के रूप में जन्मे हो। कनक-लता और पद्मलता भी भव भ्रमण करती हुई दानादि देने के कारण जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में रत्नपुर नरेश श्रीसेन के पुत्र इन्दुसेन व बिन्दुसेन के रूप में जन्मे हैं। इसी भरत क्षेत्र के कौशाम्बी नगर में पद्मा सौधर्म देवलोक से च्यव कर गणिका अनन्तमतिका के रूप में जन्मी है। इन्दुसेन व बिन्दुसेन अभी रत्नपुर के देवरमण उद्यान में अनन्तमतिका के लिए परस्पर युद्ध कर रहे हैं। (श्लोक ११९-१२३)

'पूर्व जन्म की कथा अवगत कर स्नेहवशतः पूर्व जन्म की कथा विवृत कर तुम्हें युद्ध से निवृत करने के लिए मैं यहाँ आया हूं। पूर्व जन्म में मैं तुम्हारी माँ थी और अनन्तमतिका थी तुम्हारी बहन। अज्ञान वश संसार में यही सब घटित होता रहता है। पूर्व जन्म के माता-पिता भाई-बहन यहाँ तक कि शत्रु को भी स्मृति पर पड़े आवरण के कारण पहचाना नहीं जाता। मकड़ा जैसे जाल में अटका रहता है आत्मा भी वैसे ही रागद्वेष आदि के जाल में अटक कर बार-बार जन्म ग्रहण करती है। अतः रागद्वेष का परित्याग कर मुक्ति का द्वार रूप दीक्षा ग्रहण करो।' (श्लोक १२४-१२८)

'यह सुनकर वे बोले—'हमें धिक्कार है! अज्ञान के कारण उन्मत्त पशु की भाँति हम अपनी बहिन को ही भोगने जा रहे थे। पूर्व जन्म में आप हमारी माँ थीं; किन्तु इस जन्म में आप हमारे गुरु हो गए हैं। कारण ज्ञान दान कर आपने हमें कुकर्म करने से रोका है। (श्लोक १२९-१३०)

यह कहकर अस्त्र परित्याग कर उन्होंने एक साथ चार हजार

राजाओं सहित धर्मरुचि मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। तदुपरान्त उन्होंने ध्यान द्वारा पथ के कर्म रूपी कण्टकों को दग्ध कर सरल पथ से शीघ्र स्थित ध्रुव को जय कर सिद्धा अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लिया। (श्लोक १३१-१३२)

श्री सेन आदि चारों युगलिक मृत्यु के पश्चात् प्रथम देवलोक सौधर्म कल्प में देव रूप से उत्पन्न हुए। (श्लोक १३३)

इस भरत क्षेत्र के वैताढ्य पर्वत के ऊपर रथनुपुर चक्रवाल नामक एक नगर था। वहाँ विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता मानो इन्द्र के अनुज हों ऐसे विद्याधर राजा ज्वलनजटि रहते थे। मार्तण्ड की तरह देदीप्यमान उनका पुत्र अर्ककीर्ति शत्रुराज्य की लक्ष्मी द्वारा मानो युवराज निर्वाचित हुआ था। अर्ककीर्ति से छोटी स्वयंप्रभा नामक उनके एक कन्या थी। वह चन्द्र की चन्द्रिका की भांति सभी को प्रिय लगती थी। प्रजापति के पुत्र और अचल के अनुज पोतनपुर के अधिपति त्रिपृष्ठ ने उससे विवाह किया था। उन्होंने परितुष्ट होकर वैताढ्य की उभय श्रेणियों की विद्याधर नगरियों का एकाधिपत्य ज्वलनजटि को अर्पित किया था। अर्ककीर्ति की पत्नी का नाम था ज्योतिर्माला। वह विद्याधरराज मघवन की कन्या थी। (श्लोक १३४-१४०)

श्रीसेन का जीव सौधर्म कल्प से च्यवकर हंस जैसे कमल पर अवतरित होता है उसी भाँति ज्योतिर्माला के गर्भ में अवतरित हुआ। ज्योतिर्माला ने समस्त आकाश को आलोकित करने वाले अनन्त ज्योतिपुंज सूर्य को स्वप्न में अपने मुख में प्रवेश करते देखा। यथा समय उसने सर्व सुलक्षण युक्त एक साम्राज्य रूपी प्रासाद के स्तम्भ रूप पुत्ररत्न को जन्म दिया। स्वप्न में जैसा देखा गया था वैसा ही अमित तेज सम्पन्न उस बालक का नाम अमिततेज रखा गया। (श्लोक १४१-१४४)

ज्वलनजटि ने अपने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य भार देकर जगनन्दन और अभिनन्दन नामक दो चारण मुनियों से श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। (श्लोक १४५)

सत्यभामा का जीव सौधर्म कल्प से च्युत होकर ज्योतिर्माला और अर्ककीर्ति की कन्या रूप में जन्मा। गर्भ प्रवेश काल में माँ ने स्वप्न में सुन्दर नक्षत्र देखा था। अतः माता-पिता ने उसका नाम

रखा सुतारा । (श्लोक १४६-४७)

अभिनन्दिता का जीव भी सौधर्म कल्प से च्यवकर त्रिपृष्ठ और स्वयंप्रभा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । माँ ने स्वप्न में लक्ष्मी का स्नानाभिषेक देखा था । अतः माता-पिता ने इसका नाम श्री विजय रखा । (श्लोक १४८-१४९)

स्वयं प्रभा के द्वितीय पुत्र होने पर विजय और सौभाग्य के निकेतन रूप उसका नाम रखा विजयभद्र । (श्लोक १५०)

शिखिनन्दिता के जीव ने प्रथम स्वर्ग से च्युत होकर त्रिपृष्ठ और स्वयंप्रभा की कन्या के रूप में जन्म ग्रहण किया । नाम हुआ ज्योतिप्रभा । (श्लोक १५१)

कपिल ने जो कि पूर्व जन्म में सत्यभामा का पति था दीर्घकाल तक तिर्यंक योनियों में भ्रमण कर चमरचंचा नगरी में विद्याधर-राज अशनिघोष के रूप मे जन्म ग्रहण किया । (श्लोक १५२-१५३)

अर्ककीर्ति ने अपनी आँखों की तारा जैसी कन्या सुतारा का विवाह त्रिपृष्ठ-पुत्र श्रीविजय के साथ कर दिया । त्रिपृष्ठ ने अपनी सुश्री कन्या ज्योतिप्रभा का विवाह अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज के साथ कर दिया । श्रीविजय सुतारा और दीर्घबाहु अमिततेज ज्योतिप्रभा के साथ यौवन सुख भोग करते हुए दिन व्यतीत करने लगे । (श्लोक १५४-५६)

एक दिन रथनुपुर चक्रवाल नगरी के बाहर सौन्दर्य में सोमनस जैसा जो विस्तृत उद्यान था उसी उद्यान में अभिनन्दन, जगनन्दन और ज्वलनजटि सम्यक ज्ञानादि त्रिरत्नों की भाँति आकर अवस्थित हुए । जब अर्ककीर्ति को ज्ञात हुआ कि उसके पिता अपने दोनों गुरुओं सहित उद्यान में आए हैं तो वे वहां पहुंचे और उन्हें वन्दना की । जहाँ आग्रह होता है वहाँ देरी को अवकाश कहाँ ?

(श्लोक १५७-५९)

मुनि अभिनन्दन ने मोह रूपी जमी हुई तुषार को गलाने में समर्थ सूर्य सदृश प्रवचन दिया । उस प्रवचन को सुनकर अर्ककीर्ति के मन में संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया । उन्होंने करबद्ध होकर मुनि से निवेदन किया, 'भगवन्, पुत्र अमिततेज को सिंहासन पर बैठाकर जब तक मैं यहाँ दीक्षा ग्रहण करने न आऊँ तब तक आप लोग यहीं अवस्थित रहें ।' उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा, 'वत्स, शुभ

कार्य में विलम्ब मत करो।' महर्षि द्वारा इस प्रकार अभिहित होकर अर्ककीर्ति दृढ़ संकल्प लेकर राजधानी लौट आए। अनेक अनुरोध-उपरोध द्वारा उन्होंने पुत्र अमिततेज को राज्य ग्रहण करवाया। पिता और पुत्र का व्यवहार ऐसा ही होता है। राजा अमिततेज ने पिता की प्रवज्या ग्रहण करने का उत्सव मनाया। अर्ककीर्ति ने अभिनन्दन मुनि से दीक्षा ग्रहण की। राजर्षि अर्ककीर्ति शान्ति-राज्य शासित करते हुए गुरुदेव के साथ पृथ्वी पर भ्रमण करने लगे। अमिततेज पादपीठ पर रखे हुए जिनके चरण-कमल विद्याधर राजाओं के मुकुट-मणियों द्वारा चर्चित होते थे पिता से प्राप्त उसी राज्य पर शासन करने लगे। (श्लोक १६०-१६७)

वासुदेव त्रिपृष्ठ की मृत्यु होने से विरक्त होकर बलराम अचल ने श्रीविजय को सिंहासन पर बैठाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। विजयलक्ष्मी द्वारा स्वामी रूप में वरण किए हुए श्रीविजय राजाओं द्वारा सेवित होकर अपने पूर्व पुरुषों का राज्य शासन करने लगे।
(श्लोक १६८-१६९)

एक दिन अमिततेज सुतारा और श्रीविजय से मिलने के लिए पोतनपुर गए। वहाँ उन्होंने आकाश से नगरी को ध्वज-पताका-तोरण-मंच आदि से सुशोभित और अनुत्तर विमानों के प्रासादों की तरह आनन्द से आपूरित देखा। राज-परिवार को विशेष रूप से आनन्दित देखकर आश्चर्यचकित वे सूर्य जैसे समुद्र में उतरता है उसी प्रकार आकाश से वहाँ उतरे। दूर से ही उन्हें देखकर राजा श्रीविजय उठकर खड़े हो गए। अतिथि तो कोई भी हो सम्माननीय होता है फिर राज-अतिथि का तो कहना ही क्या? दोनों ने परस्पर एक दूसरे का आलिंगन किया। अमिततेज अपनी बहिन सुतारा से भी मिले। आनन्द की अमृतधारा प्रवाहित होने लगी। तदुपरान्त दोनों पूर्वांचल और पश्चिमांचल अवस्थित सूर्य और चन्द्र की तरह महार्घसिंहासन पर बैठे। (श्लोक १७०-१७५)

तब स्वच्छमना अमिततेज ने पूछा—'बन्धु, आज कौमुदी उत्सव का दिन नहीं है, न ही आज अग्रहायण मास की पूर्णिमा है। ग्रीष्म ऋतु भी नहीं है, न बसन्त ऋतु। न आपके पुत्र का जन्म हुआ है। तब किस आनन्द से आज नगरी उत्सव मुखर हो उठी है?'
(श्लोक १७६-१७७)

श्रीविजय ने कहा, 'मित्र सुनो, आज से आठ दिनों पूर्व हमारे यहाँ एक नैमित्तिक आया था।' मैंने उससे सम्मान पूर्वक पूछा, आप यहाँ कुछ प्रार्थना करने आए हैं या कोई सूचना देने ?' प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—'यद्यपि हम भिक्षाजीवी हैं फिर भी इस समय आपसे कुछ प्रार्थना करना उचित नहीं है। मैं आपसे जो कुछ कहने आया हूं वह कहने योग्य नहीं है। फिर भी जो कुछ कहूंगा उसका प्रतिषेध धर्म द्वारा करणीय है। आज से सातवें दिन दोपहर में पोतनपति के ऊपर आकाश से वज्रपात् होगा। (श्लोक १७८-१८२)

'उसके विष से कड़ुए कथन पर क्रुद्ध होकर महामात्य बोले—'नैमित्तिक, तुम्हारे ऊपर क्या पतित होगा ?' नैमित्तिक बोला, 'महामंत्रीजी, आप मुझ पर कुपित न हों। शास्त्रों में जो देखा है मैं वही कह रहा हूं। मेरा यहाँ कोई शत्रु नहीं है। मुझ पर क्या गिरेगा ? मुझ पर तो उस दिन वस्त्र, अलङ्कार, रत्न और स्वर्ण की वर्षा होगी।' (श्लोक १८३-१८५)

'तब मैंने महामात्य से कहा, 'हे महामना, आप उस पर क्रुद्ध न हों। गुप्तचर की भांति उसने हमको सत्य बतलाया है। वह तो हमारा उपकारी है। किन्तु; नैमित्तिक अब आप बतलाएँ कि आपने निमित्त शास्त्र का अध्ययन कहाँ किया है ? शास्त्र-ज्ञान के प्रमाण के अतिरिक्त साधारण जनों के कथन पर विश्वास नहीं होता।'

(श्लोक १८६-१८७)

'तब नैमित्तिक बोला, 'हे राजन्, बलदेव ने जब दीक्षा ग्रहण की तब मेरे पिता सांडिल्य ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। पिता के प्रति स्नेहवशतः मैं भी उनके साथ दीक्षित हो गया। उस समय मैंने समस्त नैमित्तिक शास्त्रों का अध्ययन किया। परिपूर्ण ज्ञान केवल जिनवाणी में ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। लाभ-हानि, सुख-दुःख, जय-पराजय, जीवन और मृत्यु का अष्टविध निमित्त मैंने इस प्रकार अधिगत कर लिया।' (श्लोक१८८-१९१)

'बड़े होने के पश्चात् एक दिन घूमते-घूमते पद्मिनी खण्ड नामक नगर में पहुंचा। मेरे पितृस्वसा हिरण्यमालिका तब अपनी वयस्क कन्या चन्द्रयशा के साथ वहां रहती थी। चन्द्रयशा जब छोटी थी तब उन्होंने उसे मुझे देने की प्रतिज्ञा की थी। मेरे दीक्षा ग्रहण कर लेने के कारण विवाह में बाधा उपस्थित हो गई। किन्तु;

जब मैंने उसे देखा तो सहज ही उसकी ओर आकृष्ट हो गया और बोझ की तरह व्रत परित्याग कर उससे विवाह कर लिया। जो काम के वशीभूत हो जाते हैं उनका विवेक भला कब तक रह पाता है ? मेरा भाग्योदय और आपका भाग्यनाश निमित्त द्वारा जानकर मैं यहाँ आया हूं। अब जो कुछ करणीय हैं वह आप करें।'

(श्लोक १९२-१९६)

'ऐसा कहकर वह चुप हो गया। मेरे मन्त्री चतुर होने पर भी मेरी रक्षा के लिए क्या करना उचित है उस समय निश्चत नहीं कर पाए। एक मन्त्री ने कहा, 'समुद्र में विद्युत्पात नहीं होता। अतः महाराज सात दिन समुद्र के भीतर नौका में रहें ? दूसरा मन्त्री बोला, 'यह युक्ति मेरे मन के अनुकूल नहीं है। यदि वहाँ विद्युत्पात हो जाए तो उनकी रक्षा कौन करेगा ? अवसर्पिणी काल में वैताढ्य पर्वत पर विद्युत्पात नहीं होता अतः महाराज वहाँ जाकर पर्वत-गुफा में सात दिन निवास करें।' तीसरा मन्त्री बोला, 'मैं इससे सहमत नहीं हूं। जो कुछ घटित होने वाला है वह स्थान परिवर्तन द्वारा रोका नहीं जा सकता। एक कहानी सुनो- (श्लोक १९७-२०१)

'इसी भरत क्षेत्र के विजय नामक नगर में रुद्रसोम नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके कोई पुत्र नहीं था। बहुत यागयज्ञ और प्रार्थना के पश्चात् उसकी पत्नी ज्वलनशिखा ने दीर्घकाल बाद एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रखा गया शिखी। एक बार दुर्भाग्यवश उसी नगर में नरमांसभोजी एक क्रूर राक्षस आकर रहने लगा। वह प्रतिदिन अनेक मनुष्यों की हत्या करता। यद्यपि वह खाता तो सामान्य-सा ही था, अधिकांश को तो इधर-उधर बिखराकर छोड़ देता। यह देखकर राजा उससे बोले, 'तुम क्यों प्रतिदिन इतने मनुष्यों की हत्या करते हो ? बाघ जैसा अज्ञानी जीव भी क्षुधा शान्ति के लिए मात्र एक ही जीव की हत्या करता है। अतः तुम भी प्रतिदिन आहार के लिए एक ही मनुष्य को ग्रहण करो। और उसे मैं ही तुम्हारे पास भेज दूँगा।' इस प्रस्ताव पर राक्षस सहज ही सम्मत हो गया। (श्लोक २०२-२०७)

'किस दिन कौन जाएगा यह निर्धारित करने के लिए राजा ने प्रजाजनों के नाम की गुटिका प्रस्तुत करवाई। जो गुटिका हाथ में आ जाएगी उस दिन उसी को राक्षस के आहार रूप में भेज दिया

जाएगा। एक दिन उसी ब्राह्मण पुत्र के नाम की गुटिका उठ गई। गुटिका में यम के आमन्त्रण रूप शिखी नाम लिखा था। जब यह बात शिखी की माँ ने सुनी तो वह 'हा पुत्र हा पुत्र' करती हुई इस भाँति रोने लगी कि सभी रो पड़े। ब्राह्मण के घर के पास एक भूतों का मकान था। उसमें कई भूत रहते थे। ब्राह्मणी का क्रन्दन सुनकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। वे आकर ब्राह्मणी से बोले, 'तुम रोओ मत, शान्त हो जाओ। अपने पुत्र को राक्षस के पास जाने दो। हम उसे राक्षस के पास से पुनः तुम्हारे पास ले आएँगे। उससे राज्य का नियम भी भङ्ग नहीं होगा और तुम्हारा पुत्र भी नहीं मरेगा।' भूतों की बात समाप्त भी नहीं हो पाई कि राज्य के रक्षकगण बकरे की भाँति खींचकर उसके पुत्र को ले गए। रक्षकों ने उसे राक्षस के हाथ में ज्यों ही सौंपा भूतों ने उसे पकड़ लिया और उसकी माँ को ले जाकर दे दिया। न जाने कौन सी घटना घट जाए इस भय से उसकी माँ उसे एक पर्वत गुफा में छिपा आई। वहाँ एक अजगर रहता था वह उस बालक को निगल गया। अतः केवल स्थान परिवर्तन द्वारा विपद-निवारण नहीं हो सकता। इस लिए यह युक्ति मुझे नहीं जँची। निकाचित कर्म भी तप द्वारा विनष्ट किए जा सकते हैं एतदर्थ आओ हम सब तप करें।

(श्लोक २०८-२१९)

'चतुर्थ मन्त्री बोला, 'इस व्यक्ति ने यह भविष्य वाणी की है कि वज्रपात पोतनपति पर होगा, श्रीविजय पर होगा यह तो नहीं कहा है। अतः सात दिनों के लिए यदि अन्य किसी को राजा बना दें तो कैसा रहे? फिर तो यदि वज्रपात हुआ भी तो उसी पर होगा। इस भाँति विपदा भी टल जाएगी और महाराज की रक्षा भी हो जाएगी।' (श्लोक २२०-२२१)

'यह सुनकर वह नैमित्तिक उस मन्त्री से बोला, 'आपका मतिज्ञान मेरे नैमित्तिक ज्ञान से अधिक प्रखर है। मैं तो कहता हूं कि इस दुर्घटना को रोकने के लिए आप ही सात दिनों के लिए राजा बन जाएँ और राजा ये सात दिन जिनालय में जिन पूजा करते हुए व्यतीत करें।' (श्लोक २२२-२२३)

'तब मैं बोला,—'एक निरपराध को राजा बनाकर विनष्ट कर दिया जाए मैं तो ऐसा सोच भी नहीं सकता। इन्द्र से लेकर

सामान्य से कीट की मृत्यु भी कष्टप्रद है। एक व्यक्ति मेरे लिए विनष्ट हो जाए और मैं बच जाऊँ ? मानव रूप में मेरा प्रथम कर्त्तव्य है अन्य के जीवन की रक्षा करना। अपनी जीवन रक्षा के लिए मैं अन्य का वध नहीं करवा सकता।' (श्लोक २२४-२२६)

'तब मन्त्रीगण बोले, 'महाराज हमारे दो उद्देश्य हैं—आपकी विपदा का निवारण करना और जीवहत्या भी नहीं करना। इसलिए हम कहते हैं कि राजा के रूप में वैश्रवण की मूर्ति स्थापित कर दी जाए। समस्त प्रजा आपकी ही तरह सात दिनों तक उसकी सेवा करेगी। यदि उसकी शक्ति रहे, कोई दुर्घटना नहीं घटी तो भी अच्छा, और यदि घटी तो उससे जीवघात नहीं होगा।'

(श्लोक २२७-२२९)

'इस प्रस्ताव से मैं सम्मत हो गया और जिनालय जाकर दस दिन बाद सात दिनों के लिए पौषध व्रत ग्रहण कर लिया। प्रजागण वैश्रमण की मूर्ति को मानों वह उनका राजा ही है, इस भाँति सेवा करने लगे। कारण ज्ञानी अपने प्रभु के मङ्गल के लिए अन्य प्रभु की भी सेवा करने को तैयार हो जाते हैं। जब सातवाँ दिन आया तब सचमुच ही दोपहर के समय आकाश में बादल छा गए और बिजली चमकने लगी। प्रलयकालीन मेघ की तरह उस भयंकर मेघ से अकस्मात् बिजली गिरी और उस यक्ष मूर्ति को विदीर्ण कर डाला। यह देखकर पुर-ललनाओं ने नैमित्तिक पर वस्त्र, रत्नादि की वर्षा प्रारम्भ कर दी। वह नैमित्तिक ही श्रेष्ठ है जिसने इस प्रकार मेरी रक्षा कर दी। सह-अलङ्कार मैंने उसे प्रचुर धन देकर विदा किया। मेरे सङ्कट में सहोदर की भाँति मेरा उपकारी बना यह सोचकर मैंने दिव्य रत्नों से एक अन्य वैश्रवण यक्ष की मूर्ति बनवाकर तत्काल उसे स्थापित करवा दी। इसी उपलक्ष में प्रजावृन्द, मन्त्रीगण और मैं विपदमुक्त होने के कारण महा-महोत्सव कर रहे हैं।' (श्लोक २३० -२३७)

श्रीविजय की कथा सुनकर अमिततेज आनन्दित हो गया। उसने बहिन सुतारा को खूब वस्त्रालङ्कार दिए और कुछ दिन वहाँ रहकर स्व-नगर को लौट गया। (श्लोक २३८)

राजा श्रीविजय भी सुतारा को लेकर आनन्द मनाने के लिए ज्योतिर्वन उद्यान में चले गए। (श्लोक २३९)

उस समय कपिल का जीव अशनिघोष विप्रतारनिका विद्या हस्तगत कर आकाश पथ से लौट रहा था। राह में उसने ज्योतिर्वन उद्यान में अपने पूर्व जन्म की पत्नी को स्व-स्वामी के साथ क्रीड़ा करते हुए देखा। यद्यपि पूर्व जन्म का सम्बन्ध उसे स्मरण नहीं था फिर भी सुतारा को देखकर मानो वह उसकी पत्नी हो ऐसा आकर्षण अनुभव किया। विद्या प्रभाव से उसने एक स्वर्णमृग की सृष्टि की। वह मनोहारी मृग कन्दुक की भाँति इधर-उधर उछलने लगा। जब रानी सुतारा ने उस मृग को देखा—जिसके खुर और सींग नीलकान्त मणियों द्वारा निर्मित थे, जिसके नेत्र नील कमल-से थे, देह पीले रङ्ग की होने के कारण सुवर्ण छटा बिखर रही थी, कभी वह भूमि स्पर्श करता, कभी आकाश में उछलता। उसके रूप पर मुग्ध होकर रानी ने स्व-पति से कहा, 'उस मृग को पकड़ लीजिए, वह मेरी क्रीड़ा का साथी रहेगा।' यह सुनकर राजा उसे पकड़ने के लिए पीछे दौड़े। वह पार्वत्य नदी की भाँति कभी अपनी देह को संकुचित करता तो कभी विस्तृत किन्तु; बिना कहीं रुके राजा को बहुत दूर ले गया। कभी वह दिखाई पड़ता, कभी नहीं पड़ता। कभी वह जमीन पर होता तो कभी आकाश में, इस भाँति अछूते देवों की तरह उसे पकड़ा नहीं गया। (श्लोक २४०-२५०)

श्रीविजय जब बहुत दूर चला गया तब अशनिघोष जहाँ सुतारा थी वहाँ आया और उसने वनदेवी की भाँति एकाकिनी सुतारा को अपने विमान पर चढ़ा लिया। फिर प्रतारिणी विद्या द्वारा सुतारा की प्रतिमूर्ति निर्मित कर वहाँ रख दी जो उसकी आज्ञा पर मानो वह सर्प द्वारा काटी गई है इस प्रकार चीत्कार उठी। श्रीविजय ने जब वह चीत्कार सुनी तो वह मृग का पीछा छोड़कर लौट आया। जो कुछ प्राप्त है उसे सुरक्षित ज्ञात करके ही विचक्षण नवीन को पाने का प्रयास करता है। जब उसने सुतारा को निष्प्राण धरती पर पड़े पाया तब वह मादुली मन्त्र और औषधि द्वारा उसे जीवित करने का प्रयास करने लगा। जो औषधि पहले काम कर सकती थी अब तो वह घृण्य लोक के लाभ की भाँति व्यर्थ हो गई। सुतारा के कमलतुल्य नयन बन्द हो गए, मुख का रङ्ग पीला पड़ गया, जांघें कांपने लगी, वक्ष स्पन्दित होने लगा, शरीर की अस्थियाँ, अस्थिबंध और सन्धिस्थल शिथिल हो गए और उसने अन्तिम श्वांस का

परित्याग किया। राजा कुछ कर नहीं सके। (श्लोक २५१-२५७)

राजा श्रीविजय ने जब उसे मृत देखा तो मूर्च्छित होकर वे भी मृत की भाँति जमीन पर गिर पड़े। किन्तु; चन्दन पंक से सिंचित होने के कारण जब उनकी मूर्च्छा टूटी तब वह श्रेष्ठ नृपति इस प्रकार विलाप करने लगे—'हे निरुपमा, तुम्हें अपहरण कर भाग्य ने मुझे छला है। तुम्हारी सुन्दर देह और रूप पर ही तो मैं जीवित था। तुम्हारी अनुपस्थिति में स्तम्भहीन गृह जिस प्रकार गिर जाता है उसी भाँति इस दुःख-भार से मैं भी विनष्ट हो जाऊँगा। कैसा मूर्ख था मैं जो तुम्हारे कथन पर स्वर्णमृग द्वारा ठगा गया? वही तुम्हारी मृत्यु का कारण बना। मेरे रहते तक्षक भी तुम्हें दंशन नहीं कर सकता था, कुर्कुट सर्प की तो बात ही क्या? भाग्य ही बलवान है, किन्तु; मैं तुम्हारी चिता पर आरोहण कर अपने दुर्भाग्यपूर्ण भविष्य को खण्डित करूँगा।

(श्लोक २५८-२६४)

ऐसा कहकर राजा ने तत्क्षण चिता तैयार करवाई और मानो वह केलिगृह की सुकोमल शय्या हो इस प्रकार चिता पर पत्नी सहित आरोहण किया। जैसे ही चिता प्रज्वलित हुई वैसे ही वहाँ दो विद्याधर आकर उपस्थित हुए। उनमें से एक के मन्त्र पाठ कर चिता पर जल छिड़कते ही अट्टहास करती हुई प्रतारिणी विद्या भाग छूटी। 'अरे जलती हुई चिता कहाँ गई? मेरी मृत पत्नी की देह कहाँ गई? किसने इस भाँति अट्टहास किया? भाग्य का यह कैसा खेल है?' इस प्रकार चिन्तन करते हुए अग्नि से जिनकी जरा भी क्षति नहीं हुई वे राजा उन दोनों सौम्यदर्शन व्यक्तियों से पूछने लगे—'यह सब क्या है?' (श्लोक २६५-२६९)

उन्होंने राजा को प्रणाम कर ससम्मान उत्तर दिया—'हम विद्याधरराज अमिततेज के सैनिक हैं। परस्पर पिता-पुत्र हैं। हमारे नाम सम्भिन्नस्रोत और दीपशिख है। हम जिन-प्रतिमा की पूजा और तीर्थस्थलों के परिदर्शन के लिए निकले हैं। जब हम इधर से जा रहे थे तब कानों के लिए दुःसह ऐसे करुण कण्ठ का विलाप सुना जो पशु-पक्षियों को भी द्रवित कर दे रहा था—'हे श्रीविजय, हे स्वामिन्, शत-शत राजन्यवर्ग जिनकी सेवा करते हैं, हे भ्राता अमिततेज, जो कि प्रताप में सूर्य की भाँति हैं, हे बान्धव

विजयभद्र, जो कि बलभद्र की तरह बलवान हैं, हे सन्निकटवर्ती त्रिपृष्ठ के कुल देवता, इस दुष्ट विद्याधर के हाथ से बाघ के मुख में फँसी हरिणी-सी सुतारा की रक्षा कीजिए। वह दुष्ट हमारे प्रभु की बहिन को हरण कर लिए जा रहा है, देखकर शब्दभेदी बाण जैसे शब्द का अनुसरण करता है उसी भाँति हमने उस विलाप ध्वनि का अनुसरण किया। शीघ्र ही हमने हस्तीधृत कमलिनी की भाँति अशनिघोषधृत देवी सुतारा को देखा। तब हम क्रुद्ध स्वर में बोले —'अरे दुष्ट विद्याधर अशनिघोष, अछूत के देवमूर्ति को चुरा कर ले जाने की तरह देवी सुतारा को चुरा कर कहाँ ले जा रहा है? तेरी मृत्यु सन्निकट है। हम तेरा वध करेंगे। अस्त्र धारण कर। हम विद्याधरराज अमिततेज के सैनिक हैं।' इस भाँति उसे अपमानित कर उसे मारने के लिए गोक्षुर सर्प जिस प्रकार तीतर पक्षी को मारने दौड़ता है वैसे अस्त्र धारण कर हम उसे मारने दौड़े। तब देवी सुतारा ने हमसे कहा, 'तुमलोग युद्ध बन्द करो। शीघ्र ज्योतिर्वन उद्यान में जाओ। वहाँ हमारे स्वामी श्रीविजय हैं। वे प्रतारिणी विद्या की छलना से अपने प्राण विसर्जन को उद्यत हो गए हैं। उन्हें रोको। उनके जीवित रहने पर ही मेरा जीवन है। उनके आदेश से हम शीघ्रतापूर्वक यहाँ आए और मन्त्रपूत जल से चिताग्नि निर्वापित की। सुतारा का रूप धारण करने वाली प्रतारिणी विद्या मन्त्रपूत जल छिड़कते ही भूत भागने की तरह अट्टहास कर भाग गई।' (श्लोक २७०-२८५)

सुतारा अपहृत हुई है, सुनकर राजा खिन्न हो गए। अब चिताग्नि से अधिक वियोग की अग्नि उन्हें दग्ध करने लगी। तब सैनिक उनसे बोले, 'प्रभु, दुःख मत करिए। शत्रु चतुर नहीं है। भाग्य की तरह वह आपसे दूर नहीं गया है। और जाएगा भी कहाँ?' तत्पश्चात् सैनिकों ने ननजानु होकर राजा को प्रणाम कर उन्हें उनके साथ चलने को कहा और उन्हें लिए वे वैताढ्य पर्वत पर पहुंचे। अमिततेज विजय के प्रतिरूप श्रीविजय को आते देखकर ससैन्य उठे और उनकी अभ्यर्थना की। आदर सहित उन्हें महार्घ आसन पर बैठाकर साग्रह उनके वहाँ आने का कारण पूछा। तब विद्याधर सैनिकों ने श्रीविजय के आदेश से सुतारा हरण का सारा वृत्तान्त शुरू से अब तक का निवेदन किया। (श्लोक २८६-२९१)

यह सुनते ही अमिततेज के भ्रू कुंचित हो गए। क्रोध से कपोल आरक्त हो उठे। उन्होंने श्रीविजय से कहा—'वह दुष्ट अशनिघोष मेरी बहिन और आपकी पत्नी सुतारा का हरण कर कितने दिन बचेगा? कारण उसने तत्काल सर्प के मुँह में हाथ दिया है, सोते हुए सिंह के केश पकड़ कर उसे जगाया है।' ऐसा कहकर अमिततेज ने श्रीविजय को शस्त्रावरणी, बन्धनी और विमोचनी विद्या दी। उन्होंने शत्रु संहार के लिए ससैन्य रश्मिवेग, अमिततेज, रविवेग, अर्ककीर्ति, भानुवेग, आदित्ययश, भानु, चित्ररथ, अर्कप्रभ, अर्करथ, रवितेज, प्रभाकर, किरणवेग, सहस्रकिरण आदि अपने पचास हजार पुत्रों को अशनिघोष के हाथों से सुतारा का उद्धार करने के लिए चमरचंचा भेजा। त्रिपृष्ठपुत्र श्रीविजय तब विद्याधर सैन्य से आकाश को आच्छादित कर चमरचंचा पहुंचे। सेना के अस्त्रों की चमक से मानो आकाश में हजार-हजार धूमकेतु उदित हुए हैं, ऐसा प्रतीत होने लगा। उनके अश्वों के हेषारव से सूर्यरथ के अश्व भी हेषारव कर उठे। हस्ती यूथ से आकाश में मानो द्वितीय मेघमाला विस्तृत हो गई हो, ऐसा भ्रम होने लगा।
(श्लोक २९२-३०१)

अशनिघोष को विद्या का अधिकारी समझकर जब कि अमिततेज भी किसी अंश में उससे कम नहीं थे, फिर भी महाज्वाला विद्या अधिगत करने के लिए वे पुत्र सहस्ररश्मि सहित हिमवन्त पर्वत पर चले गए। महाज्वाला विद्या शत्रु की समस्त विद्याओं को नष्ट कर देती है। वहाँ वे जहाँ ऋषि जयन्त प्रतिमा धारण किए हुए थे वहीं उनके चरणों के समीप धरणेन्द्र को स्मरण कर एक मास के उपवास के पश्चात् सात दिनों की प्रतिमा धारण कर विद्या प्राप्त करना प्रारम्भ किया। सहस्ररश्मि अपने पिता की रक्षा करने लगे। इस प्रकार एक मास से अधिक समय व्यतीत हो गया। (श्लोक ३०२-३०७)

श्री विजय चमरचंचा नगरी के बाहर सैन्य सह अवस्थित हुए और अशनिघोष के पास दूत भेजा। दूत अशनिघोष के पास जाकर निर्भयतापूर्वक बोला—'कौए की भाँति जो घृणित कार्य तुमने किया है उसके लिए तुम्हें धिक्कार है। जिसमें शक्ति व साहस का अभाव है वह यदि स्वयं को मनुष्य समझता है तो यह उसका

भ्रम है। तुम तो ऐसे ही व्यक्तियों में अग्रगण्य हो कारण तुमने छलना का आश्रय लेकर देवी सुतारा का अपहरण किया है। ऐसा व्यवहार तो इसके पहले कभी देखा नहीं गया। प्रतारिणी विद्या से श्रीविजय को प्रतारित कर तुम यमश्रवण के अयोग्य हो गए हो। सूर्य की भाँति प्रभावशाली श्रीविजय को तुम नहीं जानते। जिनका प्रभाव नहीं है उनके लिए ही तुम्हारी प्रतारिणी विद्या कार्यकर होती है। जिस प्रकार उस विद्या को शक्ति हीन कर वे यहाँ आए हैं उसी प्रकार वे बलपूर्वक सुतारा का उद्धार कर उसे यहाँ से ले जाएँगे। अतः तुम में यदि बुद्धि है तो सुतारा को उन्हें लौटा दो। यदि तुम सुतारा को लौटा दोगे और उनकी अधीनता स्वीकार कर लोगे तो तुम्हारी जीवन रक्षा हो सकती है। नहीं तो समझ लो यम तुम्हारे द्वार पर खड़ा है।' (श्लोक ३०८-३१४)

अशनिघोष ने वज्र की तरह कठोर कण्ठ से इसका प्रत्युत्तर दिया—'दूत, तुम यहाँ आए यह अच्छा हुआ। तुम्हारे जैसा मनुष्य तो मैंने कहीं नहीं देखा। दुर्भाग्यवश यदि श्रीविजय यहाँ आया है तो क्या हुआ? पक्षी तो सुमेरु पर्वत पर भी जाते हैं। क्या इससे यह मान लें उनमें पौरुष है? मेरी सामान्य-सी शक्ति का संचालन करते ही वह उड़ जाएगा। नदी का खर स्रोत बालू के अवरोध से नहीं रुकता अब वह जिस पथ से आया है उसी पथ से उसे जाने को कहो और यदि वह सुतारा को ले जाना चाहता है तब तो उसे यमलोक जाना होगा। अब वह जैसा चाहे—रहना हो रहे जाना हो जाए। मैंने जो कुछ कहा है उसे वहाँ जा कर कहो।

(श्लोक ३१५-३१९)

यह सुनकर दूत ने शीघ्र उस नगरी का परित्याग किया और त्रिपृष्ठ-पुत्र को उस दुर्जन ने जो कुछ कहा था निवेदित किया, यह सुनते ही श्रीविजय का क्रोध उसी प्रकार बढ़ गया जैसे हवा में अग्नि बढ़ती है। यद्यपि उसकी सेना प्रस्तुत थी फिर भी उसने सेना को युद्ध के लिए प्रस्तुत होने का आदेश दिया। श्रीविजय की सेना को युद्ध के लिए लिए उद्ग्रीव देखकर अशनिघोष ने भी अपने पुत्रों को युद्ध में उनका आतिथ्य करने को कहा। अश्वघोष, सहस्रघोष, महाघोष, भीमघोष, धनघोष आदि पुत्र एवं मेघघोष आदि पौत्र ससैन्य युद्ध के लिए चमरचंचा से बाहर निकले। (श्लोक ३२०-३२४)

शरदकालीन बादल की गड़गड़ाहट की तरह उभय पक्ष के नगाड़े बज उठे। उभय पक्ष के सैनिकों ने घमासान युद्ध प्रारम्भ किया। काटे छत्र के पतन से आकाश शत चन्द्रमय हो गया, काटे मुण्डों में शत राहुमय। उज्ज्वल शरों के पतन से लगा मानो आकाश से उल्काएँ बरस रही हैं। मदमत्त दोनों हाथियों को परस्पर सन्नद्ध होते देख लगा मानों दो पर्वत परस्पर मिल रहे हैं। धूल के साथ रक्त मिश्रित हो जाने से लगा मानो रक्तवर्ण सान्ध्य मेघ पृथ्वी पर अवतरित हो गया है। मदिरा पान-से रक्त पान कर उन्मत्त हुए भूत-पिशाच वहाँ विचरण करने लगे मानो मन्त्रोच्चार सहित सेनाओं के निक्षिप्त अस्त्रों से आहत होकर वे वहां आए हैं। तीरों के द्वारा उत्क्षीप्त गज-मुक्ता से आकाश तारकामय हो गया और सैनिकों के पदचाप से उत्क्षिप्त धूल से रात्रि का अवतरण हो गया।
(श्लोक ३२५-३३०)

भीषण दण्डों के आघात से जो हतज्ञान हो गए उनके मित्र और बन्धुगण अपने वस्त्र प्रान्तों से हवा करने लगे। जो पिपासार्त थे उनकी अनुगामिनी पत्नियाँ उन्हें बार बार कुम्भ से जल देने लगीं। उनकी पत्नियों के सन्मुख ही व्यंतर देवियाँ यह मेरा पति होगा, यह मेरा पति होगा, कहती हुई युद्धनिरत सैनिकों को चुनने लगीं। एक दीर्घबाहु एक शत्रु का मुण्ड लेकर नृत्य कर रहा था। देखकर लगा उसे नृत्य करते देख उसका धड़ भी उसके साथ नृत्य करने लगा। बन्दर जैसे एक वृक्ष से कूदकर दूसरे वृक्ष पर जाता है उसी प्रकार रथ भग्न हो जाने से सैनिक एक रथ से दूसरे रथ पर जाने लगे।
(श्लोक ३३१-३३५)

एक शक्तिशाली सैनिक जो कि बहुत देर से युद्ध कर रहा था एवं जिसके हाथ से अस्त्र गिर गया था उसने अपने शिरस्त्राण से शत्रु सैन्य के मस्तक पर आघात किया और इस भाँति उसे मार डाला। इस प्रकार एक मास से कुछ कम समय तक उभय पक्ष के सैन्य अस्त्र-शस्त्रों से विद्या बल से युद्ध करते रहे। अन्ततः श्रीविजय के सैनिकों से अशनिघोष के पुत्र हवा से जैसे वृक्ष भग्न हो जाता है उसी प्रकार भग्न मनोरथ हो गए अर्थात् पराजित हो गए।
(श्लोक ३३६-३३९)

तब अशनिघोष जो कि बाहुबल और विद्याबल में बलवान

था ने वज्र की भाँति अपना हाथ उठाकर पुत्रों की भर्त्सना की और शत्रु सैन्य को भंग करने के लिए शूकर जैसे वापी में प्रविष्ट होता है या मन्थनदण्ड जैसे समुद्र में प्रवेश करता है उसी प्रकार शत्रु सैन्य में प्रविष्ट हुआ। अमिततेज के पुत्र उससे शीघ्र ही पराजित हो गए। चतुर व्यक्ति इसी प्रकार शीघ्र ही शत्रुसैन्य को लेते हैं। उन्हें पराजित होते देखकर 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए श्रीविजय युद्ध क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। तदुपरान्त दोनों परस्पर एक दूसरे को गर्जना भर्त्सना एवं दूसरे की आघातों से अपनी आत्मरक्षा करते हुए स्वयं का अस्त्रबल और विद्याबल दिखाते हुए भीषण युद्ध करने लगे। देव और असुर भी आकाश में उपस्थित होकर इस युद्ध को देखने लगे। (श्लोक २४०-२४५)

क्रुद्ध और शक्तिशाली श्रीविजय ने तब तलवार के एक ही आघात से कदली वृक्ष की तरह अशनिघोष के दो खण्ड कर डाले। एक मूल से जैसे दो वृन्त उद्गत होते हैं उसी प्रकार उस दो खण्ड से दो अशनिघोष उद्गत हो गए। उन्होंने भीषण चीत्कार कर सैनिकों को त्रस्त व भयभीत कर डाला। श्रीविजय ने जब उन दोनों अशनिघोषों को द्विखण्डित कर दिया तो चार अशनिघोष उत्पन्न हुए। जब श्रीविजय ने उन चारों को द्विखण्डित कर डाला तो आठ अशनिघोष उत्पन्न हो गए। इस प्रकार जितनी बार वे अशनिघोष को द्विखण्डित करते उतनी ही बार अशनिघोष धान के वृन्तों की भाँति द्विगुणित होते हुए हजार अशनिघोष में परिणत हो गया। विंध्य पर्वत को जैसे चारों ओर से मेघ घेर लेता है उसी भाँति उन्होंने पोतनपति श्रीविजय को घेर लिया। (श्लोक २४६-२५१)

श्री विजय जब बार-बार अशनिघोष को द्विखण्डित करते हुए क्लान्त हो गए तभी महाज्वाला को अधिगत कर अमिततेज युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुए, अशनिघोष की सेना ने, सूर्य-से प्रदीप्त अमिततेज को आते देखकर हरिण जैसे सिंह को देखकर पलायन करता है उसी भाँति पलायन किया। अमिततेज ने महाज्वाला को आदेश दिया कि शत्रु सेना से कोई भी भाग न सके। उस विद्या के प्रभाव से विमूढ़ बने उन्होंने अमिततेज की शरण ग्रहण की और उन्होंने भी उन्हें शरण दी। मदमस्त हस्ती की गन्ध पाकर जैसे अन्य हस्ती भाग जाते हैं वैसे ही अमिततेज को आते देख अशनिघोष भागा।

अमिततेज ने महाज्वाला को आज्ञा दी कि वह दुष्ट चाहे जितनी दूर चला जाए तुम उसे पकड़ लाओ। तब वह महाज्वाला जो समस्त विद्याओं को नष्ट कर देती है क्रुद्ध भाग्य की तरह अशनिघोष के पीछे दौड़ी। अशनिघोष उससे भागकर जब कहीं भी आश्रय प्राप्त नहीं कर सका तब वह आश्रय के सन्धान में दक्षिण भरतार्द्ध में प्रविष्ट हुआ। (श्लोक ३५२-३५९)

सीमन पर्वत शिखर पर भगवान ऋषभदेव के मन्दिर में जहाँ समवसरण लगा था, गजध्वज उड्डीन की गयी थी, वहाँ पूर्व ज्ञानी अचल बलदेव ने शुद्ध ध्यान में एक रात्रि के लिए प्रतिमा ग्रहण की थी। उसी समय उनका घाती कर्म क्षय होने से, जिसमें सारा विश्व प्रतिफलित हो ऐसा दर्पण-सा केवल ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ। समवसरण उत्सव करने के लिए देवता और राक्षश शीघ्र वहाँ आकर उपस्थित हो गए। अभिनन्दन, जगनन्दन, ज्वलनजटि, त्रिजटि, अर्ककीर्ति, पुष्पकेतु और चारण मुनि विमलमति आदि बलदेव को प्रदक्षिणा देकर वन्दन कर उनके सम्मुख आकर बैठ गए। (श्लोक ३६०-३६५)

महाज्वाला के भय से त्रस्त अशनिघोष ने शान्ति रूप अमृत समुद्र अचल मुनि की शरण ग्रहण की। फलतः महाज्वाला उसका परित्याग कर चली गयी। केवली के समवसरण में तो इन्द्र का वज्र भी व्यर्थ हो जाता है। उस विद्या ने अमिततेज के पास जाकर समस्त कथा निवेदित की और अपनी विफलता के लिए लज्जा प्रकट की। उसकी बात सुनकर अमिततेज और श्रीविजय उसी प्रकार आनन्दित हो गए जैसे मेघ गर्जना सुनकर मयूर आनन्दित हो जाता है। 'सुतारा को शीघ्र ले आओ'—मरीचि को ऐसा आदेश देकर उद्ग्रीव अमिततेज अपनी सैन्य और श्रीविजय सहित वायुगामी विमान से सीमन पर्वत पर उपस्थित हुए। वहाँ प्रथम भगवान ऋषभदेव का पूजनकर उन्होंने बलदेव की वन्दना की और उनके सम्मुख बैठ गए। (श्लोक ३६६-३७२)

मरीचि चमरचंचा में प्रवेश कर अशनिघोष की माता के प्रासाद में गया। वहाँ शोक द्वारा म्रियमाण कमलिनी-सी, कर्दम-लिप्त गाय-सी, अग्नि में झुलसी लता-सी, जाल में आबद्ध हरिणी-सी, आकाश में स्थित चन्द्र की एकांश कला-सी, तट पर

पड़े मीन-सी, फन्दे में जकड़ी हस्तिनी-सी, मरुभूमि में आई हंसिनी-सी, उपवासशीर्ण अत्यन्त दुःखी सुतारा को देखा। वह मंत्र की भाँति केवल अपने स्वामी का नाम जप रही थी। मरीचि अशनिघोष की माँ से बोला—मैं अमिततेज द्वारा आदेश पाकर देवी सुतारा को लेने आया हूं। अशनिघोष की माँ तब सुतारा को लेकर अचल स्वामी के समवसरण में पहुंची। वहाँ उसने बन्धक रखी वस्तु की तरह निष्कलंक सुतारा को श्रीविजय और अमिततेज को लौटा दिया। सुतारा बलदेव को वन्दना कर उनके आशीर्वाद से धन्य बनी-सी पर्षदा में यथास्थान जाकर बैठ गई। (श्लोक ३७३-३८०)

अशनिघोष ने मानव व विद्याधरराज श्रीविजय और अमिततेज से क्षमा-याचना की। उनका वैर शान्त हो गया। वह भी भी पर्षदा में जाकर यथा-स्थान बैठ गया। अचल स्वामी ने पवित्रकारी देशना दी। देशना शेष होने पर अशनिघोष ने करबद्ध होकर महामुनि अचल को प्रणाम किया और बोला—

(श्लोक ३८१-३८३)

'भगवन्, मैंने सुतारा को उसके घर से निकृष्ट उद्देश्य से अपहरण नहीं किया था। हस्ती जैसे सरोवर में जाकर कमल तोड़ लाता है वैसे ही मैंने भी किया। मैं तो चमरचंचा से जयन्त मुनि के मन्दिर में गया था। वहाँ मैंने सात दिनों तक उपवास और मंत्र जाप कर भ्रामरी विद्या हस्तगत की। जब मैं वहाँ से लौट रहा था सुतारा और श्रीविजय को ज्योतिर्वन उद्यान में क्रीड़ारत देखा। उसे देखने से ही न जाने क्यों, जिसे मैं भाषा में व्यक्त भी नहीं कर सकता, ऐसा, प्रेम उसके प्रति मैंने अनुभव किया कि उस समय लगा जैसे मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकूँगा। मैं जानता था जब तक उसके पास पराक्रमी राजा श्रीविजय रहेंगे मैं उसे शेषनाग के मस्तक पर रही मणि की भाँति प्राप्त नहीं कर सकूँगा। इसीलिए प्रतारिणी विद्या से श्रीविजय को प्रतारित कर बाज जैसे मुक्ता-माला उठा लेता है उसी प्रकार सुतारा को मैंने उठा लिया। वहाँ से लाकर उसे मेरी माँ के पास छोड़ दिया। चाँद में भी कलंक है; किन्तु देवी सुतारा में कोई कलङ्क नहीं है। मैंने उससे कोई अनुचित प्रस्ताव भी नहीं किया। भगवन्, मेरा उसके प्रति इस अकारण प्रेम का क्या कारण है?' (श्लोक ३८४-३९३)

तब भगवान् ने कपिल और सत्यभामा, श्रीसेन और उसकी दोनों पत्नियां अभिनन्दिता और शिखीनन्दिता के पूर्वभव की कहानी सुनाई। उन्होंने कहा—'श्रीसेन और अभिनन्दिता, शिखीनन्दिता और सत्यभामा मृत्यु के पश्चात युगल रूप में उत्पन्न होते हैं। उस भव से पश्चात वे सौधर्म देव लोक में देवता रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यव कर श्रीसेन ने अमिततेज के रूप में जन्म ग्रहण किया है। शिखीनन्दिता का जीव उसकी पत्नी ज्योतिप्रभा हुई है। अभिनन्दिता का जीव राजा श्रीविजय के रूप में एवं सत्यभामा सुतारा के रूप में उत्पन्न हुई है। कपिल रूपी तुम्हारी मृत्यु आर्तध्यान में हुई। अतः तुमने बहुत-सी जीव योनियों में भ्रमण किया। बार-बार नरक और तिर्यंच योनियों में जन्म ग्रहण कर आर्तध्यान से संचित कर्म का स्वाभाविक भाव से क्षय हो जाने से ऐरावती तट पर भूतरत्न नामक अरण्य में तपस्वी जटिल कौशिक के औरस से पत्नी पवनवेगा के गर्भ से यम-यमिला के संयोग की तरह धर्मिल नामक पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। आश्रम तरु की तरह समस्त तापस पत्नियों के प्रिय होकर क्रमशः तुमने यौवन प्राप्त किया। (श्लोक ३९४-४०२)

'यौवन प्राप्त कर पिता से शैव दीक्षा लेकर तुम अज्ञान तप करने लगे। झरने के जल प्रपात को पर्वत जैसे सह्य करता है उसी प्रकार शीत की रात्रियों में भयंकर शीत में तल में छिद्र वाले कुम्भ की धारा को तुम सहन करते। ग्रीष्म के दिनों में सिर पर सूर्य और चतुर्दिक प्रज्वलित अग्नि के बीच में बैठकर तुम पंचाग्नि तप करते। अपने हाथों से गर्त खनन कर उसमें वर्षा का जल भरकर आकण्ठ निमज्जित होकर तुम शिवमन्त्र का जाप करते। स्वयं खोदकर और अन्य के द्वारा खुदवाकर तुम कूप वापी सरोवर आदि का निर्माण करते। उस निर्माण में जलकायिक और पृथ्वीकायिक जिन जीवों की हिंसा होती उधर तुम्हारा ध्यान नहीं था। बालक की भाँति अज्ञानी तुम आश्रमवासियों के लिए घास और काष्ठ हँसुआ और कुल्हाड़ी से काटकर ले आते। अन्न के लिए खेती करते। इस प्रकार वनस्पति कायिक जीवों की हत्या होती। शीत निवारण के लिए और पथ दिखाने के लिए तुम अग्नि जलाते। इससे अग्निकायिक जीवों के साथ-साथ छोटे-छोटे कीट पतंगादि जो

कि अग्नि में आकर गिर जाते उनकी हिंसा होती थी। बड़, पीपल, नीम आदि वृक्ष और गाय की तुम पूजा करते। तुम वृक्ष में जल सिंचन करते और पानी पिलाने के लिए प्याऊ लगवाते। अज्ञान वश होने पर भी तुम ने धर्मबुद्धि से दीर्घकाल तक यह सब काम किया और श्रम द्वारा जीवन निर्वाह किया। एक समय तुमने समृद्धिशाली, जिसका कोई प्रभु नहीं ऐसे एक स्वच्छन्द विद्याधर को आकाश में विमान द्वारा जाते देखा। उसे देखकर तुमने निदान किया मेरी तपस्या का यदि कुछ पुण्य है तो आगामी जीवन में मैं उसकी ऋद्धि को प्राप्त करूँ। यथा समय तुम्हारी मृत्यु हुयी। तुम निदान के कारण चमरचंचा नगरी के राजा इन्द्रासनी के औरस से उसकी पत्नी असुरी के गर्भ से पुत्र रूप में जन्मे। सुतारा के प्रति तुम में जो प्रेम प्रकट हुआ वह तुम्हारे पूर्व जन्म के सम्बन्ध के कारण। पूर्व जन्म की स्मृति एक सौ वर्षों तक रहती है।'

(श्लोक ४०३-४१७)

पूर्व जन्म की कथा श्रवण कर सुतारा अमिततेज, श्रीविजय और अशनिघोष आश्चर्यान्वित हो गए। उन्हें संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। (श्लोक ४१८)

अमिततेज ने पूछा, 'भगवन्, मैं भव्य जीव हूं या अभव्य?' बलभद्र ने प्रत्युत्तर दिया, 'इस भव से नव में भव में तुम इसी भरत क्षेत्र में ३२००० हजार राजाओं द्वारा सेवित चौदह रत्न और नवनिधियों के अधिकारी होकर षट्खण्डाधिपति पंचम चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न होंगे। तुम्हारी राज्य सीमा क्षुद्र हिमवन्त पर्वत तक विस्तृत होगी। मगधादि तीर्थों के देव तुम्हारी सेवा करेंगे। उसी जन्म में तुम शान्तिनाथ नामक सोलहवें तीर्थंकर बनोगे। चौंसठ इन्द्र तुम्हारी चरण सेवा करेंगे। यही राजा श्रीविजय तुम्हारे पुत्र और तुम्हारे प्रथम गणधर होंगे।' (श्लोक ४१९-४२४)

राजा श्रीविजय और अमिततेज ने यह कथा सुनकर श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किए। (श्लोक ४२५)

तब अशनिघोष महामुनि बलभद्र को श्रद्धा से नत होकर प्रणाम कर बोला—'हे सर्वज्ञ, आपके मुख से अपने पूर्व जन्म की जो कष्टकर कथा सुनी उससे मेरा मन अभी तक भय से कम्पित है। हे भगवन्, कपित्थ के जन्म में अपनी पत्नी से विच्छिन्न होकर

मैंने जो आर्तध्यान किया उसके परिणाम स्वरूप जन्म जन्मान्तरों में न जाने कितनी बार मृत्यु का, छेदन-भेदन आदि का कष्ट मैंने अनुभव किया है। तदुपरान्त नीच कर्मों का स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जाने से मैंने पूर्व भव में मनुष्य जन्म प्राप्त किया; किन्तु दुर्भाग्यवश उस भव में भी मैं जिन-धर्म के सम्पर्क में नहीं आ सका और अज्ञान तप के कारण सामान्य फलदायी एवं दुःखमय अवस्था प्राप्त की। हाय! उस तप के पुरस्कार स्वरूप जो निदान किया था, उसके फल स्वरूप चमरचंचा नगर में विद्याधर राजा के रूप में जन्म ग्रहण किया। अब मेरी निदानसह तपस्या, अन्य की पत्नी का हरण, महाविद्या, महाज्वाला का भय, शुभसूचक रूप में समाप्ति को प्राप्त हुआ कारण सर्व दुःखहर आपको गुरु रूप में मैंने प्राप्त कर लिया है। अन्धा जिस प्रकार अपनी आँखों के सम्मुख रही चीजों को भी नहीं देख पाता उसी प्रकार मैंने भी जिन धर्म अवगत न होने के कारण कई जन्म व्यर्थ व्यतीत कर दिए। अब आप मेरी रक्षा करिए ताकि मैं एक मुहूर्त भी यति धर्म से रहित होकर व्यतीत न करूँ। हे भगवन्, शिष्य रूप में अब आप मुझे अपने चरणों में स्थान दीजिए।' 'जैसी तुम्हारी अभिरुचि'—कहकर मुनि अचल ने उसे आश्वासन दिया। (श्लोक ४२६-४३७)

फिर वह अमिततेज के पास जाकर विनीत भाव से बोला—'यद्यपि मैं अभिमानी हूं फिर भी आप से यह कहने में मुझे जरा भी लज्जा नहीं है कि आपके पितामह ज्वलनजटि कर्म दहन में दीप शिखा रूप थे। उनकी धर्म विजय नेत्रों के सम्मुख जाज्वल्यमान है। आपके पिता यशस्वी और भाग्यवान अर्ककीर्ति हैं जो तृणवत् राजसत्ता का परित्याग कर तपस्या के आभा मण्डल से युक्त सूर्य की भाँति देदीप्यमान हो गए हैं और आप स्वयं भावी चक्रवर्ती और अर्हत् हैं। मेरा यह राज्य चमरचंचा मेरे अश्वघोषादि पुत्र और अन्य जो कुछ भी है वह समस्त मैं आप को समर्पण करता हूं। आप इसे अन्यथा न लें।' (श्लोक ४३८-४४१)

ऐसा कहकर उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अश्वघोष को जैसे वह अभी भी बालक है उनकी गोद में बैठा दिया। फिर अनेक राजन्यों सहित अचल स्वामी से दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रीविजय की माँ स्वयंप्रभा भी वहाँ आयी और अचल स्वामी के पद प्रान्तों में बैठकर

दीक्षा ग्रहण कर ली। अमिततेज, श्रीविजय, अश्वघोष आदि बलदेव को प्रणाम कर अपने-अपने निवास को लौट गए।(श्लोक ४४२-४४५)

श्रीविजय और अमिततेज ने अर्हत् मन्दिरों में अष्टाह्निका उत्सव किया और शक्र एवं ईशानेन्द्र की तरह समृद्धिसम्पन्न होकर समय व्यतीत करने लगे। वे सदैव साधुओं को दोषहीन ग्रहण योग्य एवं अचित्त दान देकर अर्थ का सदुपयोग करने लगे। पूर्वी हवा और मेघ जैसे तापक्लिष्ट मनुष्य का ताप हरण करता है उसी प्रकार वे भी संसारक्लिष्ट मनुष्यों का दुःख, वेदना हरण करने लगे। गुरु के सम्मुख आलोचित शास्त्रार्थों के गहन तथ्यों पर वे दिन-रात चिन्तन-मनन करने लगे। बिभीतक की छाया से भी मनुष्य जैसे दूर रहता है उसी प्रकार वे भी कुगुरुओं से दूर रहने लगे। कुमार्ग की भांति समस्त व्यसनों का उन्होंने परित्याग कर दिया। इस भांति समयोचित सुख भोग कर राज्य के लिए भी यथोचित समय देकर अपनी-अपनी राजधानी में रहते हुए भी सोचते जैसे वे एक ही स्थान पर रह रहे हैं। इसी प्रकार काल व्यतीत होता रहा। (श्लोक ४४६-४५२)

एक दिन अमिततेज जिनालय में पौषध व्रत लेकर विद्याधरों को शास्त्र सुना रहे थे। उसी समय मन्दिर स्थित जिन-बिम्बों की वन्दना करने के लिए धर्म की दो भुजाओं-से दो चारण मुनि वहां आकर उपस्थित हुए। उन्हें आते देखकर अमिततेज उन्हें सम्मान देने के लिए उठ खड़े हुए और उनकी वन्दना कर ईप्सित वस्तु को देखकर मनुष्य जैसे आनन्दित हो जाता है उसी प्रकार आनन्दित हो उठे। उन मुनिद्वय ने तीन बार जिन-बिम्बों की प्रदक्षिणा देकर उनकी उपासना की। फिर वे अमिततेज से बोले—'मरुभूमि में जल मिलने की भांति मनुष्य जन्म दुर्लभ है। जब वह मिला है तो उसे विवेकहीनता में खोना उचित नहीं है। जिन धर्म का अनादार करना किसी भी समय उचित नहीं है। जिन धर्म को छोड़कर कोई ऐसा कल्पवृक्ष नहीं है जो उनकी मनोकामना पूर्ण कर सके।' (श्लोक ४५३-४५८)

ऐसा कहकर बरसने के पश्चात् मेघ जैसे अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार वे दोनों दृष्टि को आनन्द देनेवाले आकाश पथ से अदृश्य हो गए। (श्लोक ४५९)

प्रति वर्ष श्रीविजय और अमिततेज जिन-मन्दिर में तीन विशेष उत्सव करते थे। उन उत्सवों में दो उत्सव देवगण अष्टाह्निका उत्सव रूप में नन्दीश्वर द्वीप में जाकर एवं अन्यान्य अपने-अपने मन्दिर में चैत्र और आश्विन मास में करते थे; किन्तु श्रीविजय और अमिततेज इन दोनों उत्सवों के अतिरिक्त तृतीय अष्टाह्निका महोत्सव सीमन पर्वत पर भगवान ऋषभ देव के मन्दिर में करते जहाँ बलदेव अचल स्वामी को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ था।
(श्लोक ४६०-४६३)

सूर्य जैसे सुमेरु पर्वत पर अवस्थान करता है उसी प्रकार एक दिन अमिततेज मंत्रियों से परिवृत होकर अपने प्रासाद में अवस्थित थे। जिन धर्म जिन्हें अति प्रिय है ऐसे उन्होंने एक मास के उपवासी एक मुनि को भिक्षा के लिए वहाँ आते देखा। ग्रीष्म-काल में नाले का जल और कीचड़ जैसे सूख जाता है उसी प्रकार तपस्या के कारण उनकी देह का रक्त मांस सूख गया था। उनके देह की शिराएँ इस भाँति दिखाई पड़ रही थीं जैसे तरंग सहित समुद्र हो। उनका अस्थि समूह बाँस के पुराने घर की तरह चड़मड़ कर रहा था। यद्यपि उनका उदर शुष्क था, छाती की हड्डियाँ निकल गई थीं, फिर भी वे भय उत्पन्न नहीं कर रहे थे। बल्कि उनकी देह से तपस्या की द्युति विच्छुरित हो रही थी मानों वे धर्म रूप दर्पण हों। अमिततेज उनकी अभ्यर्थना करने के लिए उठ खड़े हुए और तीन परिक्रमा देकर वन्दना के पश्चात् शुद्ध आहार बहराया। सत्पात्र को दान देने के कारण उसी समय पाँच दिव्य प्रकटित हुए। इस प्रकार सद् कार्यों में श्रीविजय और अमिततेज ने कई हजार वर्ष व्यतीत किए। (श्लोक ४६४-४७१)

एक बार श्रीविजय और अमिततेज शाश्वत जिन प्रतिमाओं के पूजन के लिए एक साथ नन्दन वन में गए। वहाँ पूजा करने के पश्चात् औत्सुक्यवशतः दोनों नन्दन वन देखने के लिए इधर-उधर घूमने लगे। तभी उन्होंने स्वर्ण शिला के उपर विपुलमति और महामति नामक दो चारण मुनियों को खड़े देखा। जब उन्होंने परिक्रमा देकर वन्दना की तब उन्होंने यह उपदेश दिया—
(श्लोक ४७२-४७५)

'मृत्यु सर्वदा मनुष्य के पीछे लगी रहती है। इसीलिए उसका

जीवन कसाई खाना स्थित जीव की भाँति स्वल्पकालीन होता है। क्षणप्रभा की दीप्ति की तरह ही मनुष्य की जीवनप्रभा है यह जानकर भी मनुष्य धर्म के लिए प्रयास नहीं करता। हाय, यह कैसा मोह है! जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त यह मोह ही मनुष्य का प्रधान शत्रु है जो कल्याणकारी धर्म की जड़ को ही काट डालता है। मनुष्य-जन्म के फल को प्राप्त करने के लिए मोह परित्याग कर धर्म आचरण करना उचित है कारण पुनः मनुष्य जन्म पाना महा दुष्कर है।' (श्लोक ४७६-४७९)

यह सुनकर उन्होंने मुनियों से जिज्ञासा की—'भगवन्, हमारा आयुष्य और कितना है? मुनियों ने उत्तर दिया—'मात्र छब्बीस दिन।' चारण मुनियों का कथन कभी मिथ्या नहीं होता यह वे जानते थे। अतः मनुष्य और विद्याधरों के अधिपति वे संसार से विरक्त होकर इस प्रकार अनुताप करने लगे—'हम कितने प्रमादी हैं मानो हम सर्वदा सोए हुए ही थे, या मदिरा पान में उन्मत्त थे, या अभी तक बालक ही हैं या हम सतत मूर्च्छित थे या पक्षाघात से ग्रस्त थे। हाय! हाय! हमारा यह जन्म अरण्य में जूही फल जैसे निष्फल हो जाता है उसी प्रकार निष्फल हो गया।'

(श्लोक ४८०-४८३)

तब दोनों चारण मुनि उन्हें प्रतिबोधित करते हुए बोले—'अनुताप करने से कोई लाभ नहीं है। तुम्हारे मुनि धर्म ग्रहण करने का समय हो गया है। मृत्यु के पूर्व होने पर भी, मुनि धर्म ग्रहण नाना प्रकार से कल्याण करता है। रात्रि शेष होने पर भी चन्द्र किरण जो रात्रि में विकसित होते हैं ऐसे कमलों को उल्लसित ही करता है।' (श्लोक ४८४-४८५)

इस प्रकार प्रतिबोधित होकर श्रीविजय और अमिततेज धर्म कार्य करने के लिए स्वराज्य लौट गए। उन्होंने मन्दिर में अन्तिम अष्टाह्निका महोत्सव किया एवं दरिद्र और असहायों को जिसने जो चाहा वह दान दिया। तदुपरान्त अपने पुत्रों को सिंहासन पर बैठाकर अभिनन्दन और जगनन्दन मुनियों के निकट दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् वे पादोपगमन उपवास में स्थित हो गए। उस समय श्रीविजय ने अपने पिता को स्मरण कर उनकी असाधारण ऋद्धि और अपनी सामान्य ऋद्धि को सोचते हुए यह निदान किया

कि मैं उन्हीं के जैसा बनूँ। (श्लोक ४८६-४९०)

श्रीविजय निदान करके और अमिततेज बिना निदान के ही मृत्यु के पश्चात् प्राणत नामक देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ वे सुस्थितावर्त और नन्दितावर्त नामक विमान में मणिचूल और दिव्यचूल नामक देव बनकर सुखपूर्वक रहने लगे। देव रूप म बाइस सागरोपम का आयुष्य भोग-सुख में निमज्जित होकर आनन्द से रहने लगे। वहाँ तो सोचने मात्र से ही सुख प्राप्त हो जाता है।
(श्लोक ४९१-४९३)

प्रथम सर्ग समाप्त

द्वितीय सर्ग

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के अलङ्कार रूप रमणीय विजय में सीता नदी के दक्षिण तट पर लक्ष्मी के निवास रूप शुभा नामक नगरी थी। वह नगरी महा ऐश्वर्य सम्पन्न और पृथ्वी की सारभूत सौन्दर्य के प्रतीक रूप थी। उस नगरी के राजा थे स्तिमितसागर। उन्होंने दृढ़ता में मेरु पर्वत और गम्भीरता में समुद्र को भी अतिक्रम कर डाला था। उनके वसुन्धरा और अनुद्धरा नामक दो पत्नियाँ थीं। उन्होंने सौन्दर्य में अप्सराओं को भी पराजित कर दिया था। साथ ही वे शील सम्पन्न भी थीं। (श्लोक १-४)

अमिततेज के जीव ने नन्दितावर्त विमान से च्युत होकर रानी वसुन्धरा के गर्भ में प्रवेश किया। सुख-शय्या में सोई हुई वसुन्धरा ने बलदेव के जन्म सूचक चार महास्वप्नों को अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा। आनन्द के प्लावन से मानों लज्जित होकर निद्रा दूर भाग गई हो इस प्रकार वे उसी समय राजा को बोलीं—'देव, चन्द्र जैसे मेघ में प्रवेश करता है उसी प्रकार मैंने स्फटिक पर्वत-सा चार दाँतों वाला हाथी को अपने मुख में प्रवेश करते देखा। निष्कलंक शरद्कालीन मेघों से मानों गुम्फित हो ऐसे क्रीड़ारत श्वेतवर्ण वृषभ ने जिसका कुम्भ ऊँचा और पूँछ सीधी थी मेरे मुख में प्रवेश किया। फिर ऐसे चन्द्र को देखा जिसकी किरणें दूर-दूर तक विस्तृत थी जो कि दिक्कुमारियों के कर्णाभरण-सा लग रहा था। तदुपरान्त एक सरोवर देखा जिसमें सहस्र कमल

विकसित हो रहे थे। पद्मों पर भँवरों के गुंजन से लग रहा था मानों वे शतकण्ठ से गा रहे हों। हे देव, मुझे बताइए इन स्वप्नों का क्या फल है? साधारण मनुष्य से तो विशेष स्वप्नों के बारे में पूछा नहीं जाता है।' (श्लोक ५-१२

राजा बोले—'देवी, तुम्हारा पुत्र बलभद्र होगा। वह रूप में देव-सा और असाधारण शौर्य का अधिकारी होगा।' (श्लोक १३)

रानी वसुन्धरा ठीक उसी प्रकार उस भ्रूण की रक्षा करने लगी जैसे पृथ्वी गुप्तधन की एवं सीप मोती की रक्षा करती है। यथासमय उन्होंने पुत्ररत्न को जन्म दिया जिसके वक्ष पर श्रीवत्स का चिह्न था, सर्वांग सुलक्षण युक्त एवं देह का वर्ण श्वेत था। पूर्ण चन्द्रोदय से समुद्र जिस प्रकार उत्फुल्ल हो जाता है उसी प्रकार राजा स्तिमितसागर पुत्र-जन्म से उत्फुल्ल हो गए। बारह दिन पश्चात् उन्होंने नव जातक का नाम अपराजित रखा कारण वह बारह आदित्यों की भाँति शोभा सम्पन्न था। जिस प्रकार अर्थ प्राप्त होने पर दरिद्र उसे सदैव आंखों के सम्मुख रखता है उसी प्रकार वे भी नवजात को कभी चूमते, कभी आलिंगन में लेते, कभी गोद में बैठाकर सदैव उसे अपने पास ही रखते।

(श्लोक १४-१८)

श्रीविजय का जीव भी सुस्थितावर्त विमान से च्युत होकर रानी अनुद्धरा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। सुख-शय्याशायी रानी ने रात्रि के शेष याम में सात महास्वप्नों को अपने मुख में प्रवेश करते देखा। प्रथम तरुणसिंह को देखा जिसकी केशर केशरिया रंग की थी, नाखून चन्द्रकला-से और पूँछ चँवर-सी थी। द्वितीय स्वप्न में कमल पर बैठी लक्ष्मी को देखा जिसे दो हस्ती सूँड से कलश पकड़े हुए क्षीर सागर के जल से अभिषेक कर रहे थे। तीसरे में सूर्य देखा जो कि रात्रि में भी सघन अन्धकार को दूर कर अपनी किरणों से आकाश को उद्भासित कर रहा था। चतुर्थ स्वप्न में स्वच्छ शीतल मधुर जल से परिपूर्ण कुम्भ देखा। पंचम में विभिन्न जलचर जीवों से परिपूर्ण महासमुद्र देखा जो कि अन्तर्निहित रत्न-राशि से उद्भासित था एवं जिसकी तरंगें आकाश को स्पर्श कर रही थीं। छट्ठे स्वप्न में पंचवर्णीय रत्नराशि देखी जिसकी विभा इन्द्रधनुष की विभा की तरह चतुर्दिक विच्छुरित हो रही थी।

सातवें में धूमहीन अग्नि देखी जिसकी शिखाएँ आकाश में विस्तृत होकर आँखों को आनन्द प्रदान कर रही थीं। (श्लोक १९-२७)

निद्रा भङ्ग होने पर रानी ने राजा को अपना स्वप्न सुनाया। वे बोले, इन स्वप्नों के फलस्वरूप तुम्हारा पुत्र वासुदेव होगा।
(श्लोक २८)

यथा समय रानी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। देखने में आनन्द प्रदानकारी उस जातक के शरीर का रंग नीला पद्म-सा या मेघ धारणकारी आकाश-सा था। राजा ने महोत्सव कर अनन्त शक्ति सम्पन्न अनुजरा के पुत्र का नाम अनन्तवीर्य रखा।
(श्लोक २९-३०)

हंस जैसे एक कमल से दूसरे कमल पर जाता है उसी प्रकार एक धाय से दूसरी धाय की गोद में जाते हुए वह क्रमशः बड़ा हुआ। क्रमशः बड़ा होते हुए वह अपने बड़े भाई के साथ मानो वह उसका समवयस्क हो इस प्रकार क्रीड़ा करने लगा। सुन्दर आकृति के कारण लड़कियाँ सदैव उसका मुख निरखती रहतीं। शुभ्र और कृष्ण वर्ण के कारण दोनों भाई ऐसे प्रतीत होते मानों शरद् और वर्षाकालीन मेघ एक स्थान पर उदित हुए हों। उन्होंने समस्त ज्ञान-विज्ञान सहज ही प्राप्त कर लिया कारण ऐसे व्यक्तियों को पूर्व जन्म का ज्ञान सहज रूप से ही आ जाता है। फिर भी इन्होंने गुरु से शिक्षा ग्रहण की ताकि उनका ज्ञानार्जन गुरु की जीविका का कारण बने। श्री के निवास रूप इन्होंने क्रमशः नारियों को आकर्षित करने वाले इन्द्रजाल या मंत्र रूप यौवन को प्राप्त किया।
(श्लोक ३१-३६)

एक समय नाना लब्धि-सम्पन्न मुनि स्वयंप्रभ वहाँ आए और एक उद्यान में अवस्थित हो गए। उसी समय स्तमिसागर जो कि अश्व-क्रीड़ा में निपुण थे एक दिन अश्व आरोहण कर नगर के बाहर गए। रैवन्त की भाँति निपुण वे विभिन्न क्रीड़ाओं से क्लान्त होकर उसी उद्यान में प्रविष्ट हुए। उस उद्यान में प्रवेश करते ही राजा का मन आनन्दपूरित हो उठा। उन्हें लगा जैसे नन्दन वन ही पृथ्वी पर अवतरित हो गया है। वृक्ष राजि की हरीतिमा उन्हें ऐसी प्रतीत हुई मानो आकाश का मेघ ही वहाँ पुञ्जीभूत हो गया है। जल प्रस्रवण देख कर मन में हुआ जैसे वे एक पर्वत की

उपत्यका में आकर उपस्थित हो गए हैं। कदलीपत्रों को देखकर लगा मानो पथिकों को वीजन कर वे उनका श्रम अपहरण कर रहे हैं। पथ श्याम तृणावृत होने से लगता था मानो उसे मरकत मण्डित किया गया है। पवन लवंग, इलायची, कक्कोल, लावलि की गन्ध वहन कर मानो सुगन्धवाहिनी परिचारिका-सी उनकी सेवा में प्रवृत्त हो गई है। (श्लोक ३७-४५)

अल्प विश्राम के पश्चात् कुछ अग्रसर होते ही स्तिमितसागर ने एक वृक्ष के नीचे उन मुनि को प्रतिमा धारण कर ध्यानावस्था में अवस्थित देखा। अत्यन्त शीत से जैसे देह सिहर जाती है वैसे ही भक्ति के कारण राजा की देह सिहर उठी। उन्होंने मुनि को परिक्रमा देकर वन्दन किया। मुनि ने भी ध्यान भङ्ग कर उन्हें धर्म लाभ दिया। महात्मा दूसरे का उपकार होते देख कर अपना कार्य स्थगित कर देते हैं। मुनि स्वयंप्रभ ने देशना दी जो कि श्रोता के लिए प्रमाण सहित प्रत्यक्षज्ञान रूप थी।

(श्लोक ४३-४७)

उस देशना को सुनकर राजा स्तिमितसागर तत्क्षण बोधि-प्राप्त हुए। राज प्रासाद लौटकर अनन्तवीर्य को राज पद पर अभिषिक्त किया। अनन्तवीर्य और अपराजित द्वारा अभिनिष्क्रमण उत्सव सम्पन्न करने पर स्तिमितसागर ने स्वयंप्रभ मुनि से दीक्षा-ग्रहण कर ली। कठिन परिषहों को सहन करते हुए उन्होंने मूलगुण और उत्तरगुणों की दीर्घ काल तक रक्षा की। किन्तु; बाद में मानसिक विराधना से चलित होकर मृत्यु के पश्चात् भवनपति देवों में चमरेन्द्र रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ४८-५१)

साहसिकों में अग्रगण्य और देवों द्वारा भी अपराजेय अनन्त-वीर्य स्व-अग्रज अपराजित सहित राज्य-संचालन करने लगे। कालान्तर में एक विद्याधर से उनकी मित्रता हुई। कारण महान् लोगों की मित्रता महान् लोगों से ही होती है। उस विद्याधर ने प्रसन्न होकर उन्हें एक महाविद्या दी और 'विद्यार्जन में तुम सफल हो' कहकर वैताढ्य पर्वत पर चले गए। (श्लोक ५२-५४)

अनन्तवीर्य और अपराजित के बर्बरी और किराती नामक दो क्रीतदासियाँ थीं। वे नृत्य-संगीत में जितनी निपुण थीं उतनी ही अभिनय पटु भी थीं। रम्भा से भी अधिक सुन्दर नृत्य-गान और

अभिनय द्वारा वे वासुदेव और बलदेव के चित्त को आनन्दित करतीं। एक दिन जब वे राज्यसभा में बैठे उनका अभिनय देख रहे थे कलह-प्रिय कटिवस्त्र और उपवीतधारी वृहद्-उदर और अस्थिर-चित्त नारद मस्तक की शिखा को हिलाते हुए तपस्वी का दर्भासन, त्रिदण्ड, माला और जलकुम्भ लिए स्वर्णपादुका पहनकर राजहंस की तरह आकाश पथ से इधर-उधर विचरण करते हुए उसी राजसभा में आकर उपस्थित हुए। (श्लोक ५५-६०)

बलराम और वासुदेव बर्बरी और किराती का अभिनय देखने में ऐसे मग्न थे कि उन्हें नारद का आगमन ज्ञात नहीं हुआ। इससे क्रुद्ध होकर नारद मन ही मन सोचने लगे कि ये इतने गर्वित हो गए हैं कि मेरे आगमन पर उठकर खड़े भी नहीं हुए। मुझसे अधिक इन दोनों क्रीतदासियों का अभिनय ही इन्हें इतना मूल्यवान लगा कि मेरी ओर देखा तक नहीं मानों मैं अछूत हूं। क्रीतदासियों के प्रेमिक, इन्हें मैं बतला दूंगा कि नारद के अनादर का क्या फल होता है? (श्लोक ६१-६४)

ऐसा सोचकर नारद उसी समय उस स्थान का परित्याग कर वैताढ्य पर्वत पर राजा दमितारि के पास पहुंचे। विद्याधर राजाओं से परिवृत्त इन्द्र के ऐश्वर्य से सम्पन्न राजा दमितारि दूर से ही नारद को आते देखकर राज सिंहासन से उठे, पादुका परित्याग की और अभ्यर्थना कर उनसे सिंहासन पर बैठने का आग्रह किया। ऐसे मुनियों का ऐसा ही समादर होता है; किन्तु नारद सिंहासन पर नहीं बैठे। अपना दर्भासन बिछाकर उसी पर बैठे कारण ऐसे व्यक्ति सम्मान की कामना करते हैं द्रव्य की कामना नहीं करते। नारद तब बोले, हे त्रिखण्डाधिपति, विद्याधरों के भी अधीश्वर, आपका साम्राज्य, राज्य, नगर, कुल-कुटुम्ब, अनुचर और सब कुछ वर्द्धित हो। (श्लोक ६५-७०)

दमितारि बोले, 'मैं समृद्धिशाली तो था ही अब आपके आशीर्वाद से और अधिक समृद्धि सम्पन्न बनूंगा। हे महामुनि, आप तो आकाश-पथ से इच्छानुसार सर्वत्र विचरण करते हैं—क्या आपने ऐसा कुछ आश्चर्यजनक देखा है जो पहले नहीं देखा गया? यदि ऐसा हो तो मुझे बताएं।' (श्लोक ७१-७३)

मेरी इच्छा पूर्ण होने वाली है ऐसा समझकर नारद बोले,

'हे राजन्, पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए मैंने आज ऐसी वस्तु देखी है जो स्वर्ग में भी नहीं है। मैं इधर-उधर घूमता हुआ राजा अनन्तवीर्य की राजसभा में पहुंचा। वहाँ बर्बरी और किराती दो क्रीतदासियों को अभिनय करते देखा। मैं कौतुक के लिए स्वर्ग और मृत्यु उभय लोकों में ही जाता हूं; किन्तु ऐसा अभिनय स्वर्ग में भी नहीं देखा। सौधर्म देवलोक की सर्वोत्तम वस्तु जैसे शक्र के अधिकार में है वैसे ही भरत के त्रिखण्ड की जो सर्वोत्तम वस्तुएँ हैं वे तो वस्तुतः आपकी ही हैं। आपकी विद्या, शक्ति, ऐश्वर्य, आधिपत्य, यहाँ तक कि आपके साम्राज्य की भी क्या शोभा है यदि आप उन्हें यहाँ न ला सकें?' (श्लोक ७४-८०)

इस प्रकार विरोध का बीज वपन कर स्व-मनोरथ सिद्ध हो जाने से नारद ने तत्काल वहाँ से प्रस्थान किया। (श्लोक ८१)

त्रिखण्ड के आधिपत्य के लिए गर्वित दमितारि ने उसी मुहूर्त में अनन्तवीर्य के पास दूत भेजा। दूत सुभा नगरी में गया और अपने वाक्चातुर्य से अनन्तवीर्य और अपराजित को इस प्रकार बोला—

'भरत के त्रिखण्ड में जो भी सर्वोत्तम वस्तु है वह महाराज दमितारि की है। अतः दोनों क्रीतदासियाँ बर्बरी और किराती को उनके यहाँ भेजिए। वे समस्त राज्यों के अधिपति हैं। इसलिए क्रीतदासी आदि सब कुछ उन्हीं की है। जब गृह ही उनका है तब क्या गृह-वस्तुओं को पृथक किया जा सकता है?' (श्लोक ८२-८३)

तब अनन्तवीर्य बोले—'दूत, तुम अभी जाओ। हम लोग अभी परामर्श कर बाद में उन्हें भेज देंगे।' (श्लोक ८७)

दूत प्रसन्न होकर चला गया और दमितारि को बोला—'आपका आदेश प्रतिपालित हुआ है।' (श्लोक ८८)

राख के ढेर के नीचे आग दबी रहती है उसी प्रकार स्व-क्रोध दबा कर अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों ने विचार किया कि दमितारि ने हमें अपने विमान और विद्यालब्ध शक्ति के कारण ही ऐसा आदेश दिया है। इससे भी वह हमें पराजित नहीं कर सकता। विद्याधर मित्र ने हम लोगों को जो महाविद्या दी थी उस विद्या को यदि हम अधिगत कर लें तो वह हम लोगों के सम्मुख खड़ा भी नहीं रह सकता। (श्लोक ८९-९१)

ऐसा निश्चय करने मात्र से ही मानो वे पूर्व सूचनावश आई हैं इस भाँति प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ आकर उनके सामने उपस्थित हो गयीं। विद्युतप्रभा की तरह प्रभा-सम्पन्न अलङ्कार और दिव्य वस्त्रों से भूषित वे करबद्ध होकर बोलीं, 'हम वही विद्याएँ हैं जिन्हें आपने आह्वान किया। पूर्व में प्राप्त होकर हम अब वर्तमान हैं। अस्त्रों के मध्य जैसे दैवी शक्ति प्रवेश करती है उसी प्रकार अब हम आप में प्रवेश करेंगी।' ऐसा कहते ही नदी जैसे पूर्व और पश्चिम समुद्र में गिरकर समुद्र में मिल जाती है उसी प्रकार वे भी उनके शरीर में प्रविष्ट होकर मिल गयीं। ऐसे ही वे बलवान थे, अब विद्याओं के प्रविष्ट होने से कवचयुक्त होकर सिंह-से पराक्रमशाली हो गए। उन्होंने धूप और माल्य प्रदान कर विद्याओं की पूजा की। विवेकशील जो पूजा के योग्य होते हैं उनकी पूजा विस्मृत नहीं करते। (श्लोक ९६-९८)

ठीक उसी समय दमितारि का दूत पुनः आकर भर्त्सनापूर्वक बोला, 'शिशुओं की तरह अज्ञानवश तुम लोग क्यों प्रभु से विद्रोह कर रहे हो? हम क्रीतदासियों को भेज देंगे कहकर भी अभी तक उन्हें नहीं भेजा। मूर्ख, क्या तुम लोग मरना चाहते हो? वे क्रुद्ध हो गए हैं यह तुम्हें ज्ञात नहीं? ये दोनों क्रीतदासियाँ भूत की तरह तुम पर सवार हो रही हैं। लगता है वे तुम्हें समूल नष्ट किए बिना नहीं जाएँगी। वे और कुछ नहीं चाहते मात्र दोनों क्रीतदासियों को ही चाहते हैं। यदि नहीं दोगे तो उन्हें तो वे लेंगे ही साथ ही तुम्हारा राज्य भी ले लेंगे।' (श्लोक ९९-१०३)

उनके कथन से क्रुद्ध होने पर भी शक्तिशाली व विज्ञ अनन्त-वीर्य चन्द्रिका की तरह मृदु हास्य में धीर कण्ठ से दूत को बोले—
(श्लोक १०४)

'महाराज दमितारि के योग्य उपहार तो महार्घ रत्न, अर्घ, सुशिक्षित गज और अश्व हैं, दासी नहीं। किन्तु यदि वे दासियाँ ही चाहते हैं तो उन्हें ही ले जाओ। अभी तो तुम विश्राम करो सन्ध्या समय यात्रा करना।' (श्लोक १०५-१०६)

वासुदेव के इस कथन पर सहमत होकर वह उसके लिए निर्दिष्ट गृह में चला गया। सोचा, उसका दूत-कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो गया है। उधर दोनों भाइयों ने जिस प्रकार स्तम्भ पर

गृह भार और बलवान बैलों पर शकटभार रक्षित होता है उसी प्रकार राज्य भार उपयुक्त मन्त्रियों को अर्पित कर दिया। दमितारि किस प्रकार का व्यक्ति है यह देखने के लिए औत्सुक्य वश वे दोनों विद्याबल से बर्बरी और किराती का रूप धारण कर दूत के पास जाकर बोले, 'हम अपराजित और अनन्तवीर्य द्वारा महाराज दमितारि के पास जाने के लिए आई हैं।' दूत आनन्द चित्त से उन छद्मवेषी क्रीतदासियों को लेकर वैताढ्य पर्वत पर चला गया और दमितारि के पास जाकर निवेदन किया—'असुर गण जिस प्रकार चमरेन्द्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता और देवगण शक्र की आज्ञा का, सर्पगण धरणेन्द्र की और पक्षीगण गरुड़ की उसी प्रकार हे राजन्, रमणीय अर्द्ध में राजन्यवर्ग भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते विशेषकर आपके आज्ञाकारी अपराजित और अनन्तवीर्य तो आपकी आज्ञा को मस्तक के भूषण की भाँति ग्रहण करते हैं। नरश्रेष्ठ, इन दोनों बर्बरी और किराती क्रीतदासियों को उन्होंने तत्क्षण उपहारस्वरूप आपको प्रदान कर दिया है।'

(श्लोक १०७-११५)

दमितारि ने स्मितहास्य से क्रीतदासियों की ओर देखा। गुणों की बात लोकोक्ति रूप में सुनने पर भी कलाविदों के मन को प्रभावित कर देता है। दमितारि ने उनको अभिनय दिखाने का आदेश दिया। सत्य ही नवीन देखने का आग्रह विलम्ब सहन नहीं कर सकता। दमितारि की आज्ञा मिलते ही वे दोनों प्रसाधनादि क्रियाओं को सम्पन्न कर रङ्गभूमि में आकर उपस्थित हो गयीं। एक नट ने आकर वाद्ययन्त्रों की सहायता से अभिनय प्रारम्भ का नन्दी पाठ किया। नन्दी शेष होने पर प्रत्याहारादि के रूप में नाटक की पूर्व पीठिका उपस्थित की। गायकगण ने विभिन्न परिच्छद धारण कर जाति राग में पर्दे के पीछे से आमुख रूप में गीत के छन्द में चरित्रों का परिचय दिया। तदुपरान्त उन्होंने ऐसा अभिनय प्रारम्भ किया जिसमें विभिन्न रसों का समावेश था। कहानी, उपस्थापना, अभिनय, सन्धि और उपसन्धि से अभिनय मनोहारी हो गया।

(श्लोक ११६-१२२)

प्रेमी-प्रेमिका में कभी कलह, कभी शान्ति, कभी आनन्द और कभी विच्छेद की वेदना, तो कभी मिलन के लिए विविध चेष्टाएँ,

अनुचित कार्य के लिए अनुताप और प्रायश्चित—इन्हीं विभिन्न भावों को दिखाकर उन्होंने दर्शकों को मुग्ध कर दिया।

(श्लोक १२३-१२४)

कभी मोटा पेट तो कभी बड़े-बड़े दाँतों वाला, कभी लंगड़ा तो कभी पीठ पर कुब्जवाला, कभी चपटा नाक तो कभी बड़े-बड़े बाल वाला तो कभी टाट वाला, एक नेत्र वाला, विकृतांग, राख लिपे हुए, कमर में घण्टी बांधे व्यक्ति को उपस्थित कर, कभी कांख बजाकर तो कभी नाक से ध्वनि निकालकर, कभी कान या भ्रू नचाकर, कभी अन्यों के स्वर की नकल कर, विदूषक या भाँडों के जैसा अभिनय दिखाकर विदग्ध नगर-वासियों को भी वे ग्रामीण लोगों की भाँति हँसाने लगे। (श्लोक १२५-१२७)

भाग्य की विडम्बना दिखाकर, नेत्रों से अश्रु प्रवाहित कर, अयोग्य अनुरोध एवं धरती पर लोटपोट होकर, विलाप कर, पहाड़ से लम्फ प्रदान कर, वृक्ष शाखा से फाँसी में लटक कर, अग्नि व जल में प्रवेश कर, विष पान कर, अस्त्र से आघात कर, छाती पीट कर, अर्थक्षय व प्रियजन की हत्या दिखा कर दुष्ट लोगों की आँखों से भी आँसू प्रवाहित कर दिया। (श्लोक १२८-१३०)

ओठ काट कर, नेत्र लाल कर, भृकुटि दिखाकर, कपोलों को कम्पित कर, अंगुलियाँ रगड़कर, मिट्टी को दो भागों में विभक्त कर, अस्त्र निकाल कर, रक्तपात कर, त्वरित आक्रमण से मुष्ट्याघात कर, देह के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को कम्पित कर, अश्रु विसर्जन कर, स्त्रियों का अपहरण कर, क्रीतदासियों को अपमानित कर उन्होंने शान्त स्वभावी मनुष्यों को भी क्रोधित कर डाला। (श्लोक १३१-१३३)

स्वाभिमान, दृढ़ प्रतिज्ञा, साहस और अन्य नानाविधि गुणों की अभिव्यक्ति, उदारता, शत्रु के प्रति शौर्य और सत् चरित्र का प्रयास दिखाकर उन्होंने भीरु हृदय में भी साहस उत्पन्न कर दिया।

(श्लोक १३४-१३५)

आवर्तित नेत्रों की पुतलियों के भीतर से देखकर, हाथ नचाकर, कण्ठ स्वर भारी कर, देह का रंग विवर्ण कर, भूतों के विभिन्न रूप दिखाकर एवं उनके कण्ठस्वर का अनुकरण कर उन्होंने दर्शकों को मुहूर्त भर में भय-विह्वल कर डाला। किसी का तालू सूख गया तो किसी का गला, तो किसी का ओठ, किसी के नेत्रों

की पुतलियाँ घूमने लगीं, किसी का हाथ काँपने लगा, किसी का गला खड़-खड़ करने लगा, कोई विवर्ण हो गया, कोई आँसू गिराने लगा। (श्लोक १३६-१३७)

उन्होंने कभी दुर्गन्ध की सृष्टि कर, उल्टी कर, घाव से कीड़ा निकालकर मनुष्यों के मन को जुगुप्सा से भर दिया। यह देख किसी ने देह सिकोड़ ली, किसी का हृदय धड़कने लगा, किसी ने नाक और मुँह ढक लिया, किसी ने थूक गिराया, किसी ने ओठ फड़काया, किसी ने अंगुली चटकायी : (श्लोक १३८-१३९)

कभी अप्राकृतिक दृश्य दिखाकर, मनोरथ सिद्ध कर, कभी इन्द्रजाल दिखाकर उन्होंने दर्शकों को आश्चर्य चकित कर दिया। किसी का मुँह खुल गया, किसी की दृष्टि अपलक हो गई, किसी के शरीर पर पसीना हो आया, किसी की आँखें अश्रुपूर्ण हो गईं, किसी का देह रोमांचित हो गया, कोई वाह-वाह करने लगा।

(श्लोक १४०-१४१)

कभी मूल और उत्तम गुणों का ध्यान दिखाकर, स्वाध्याय कर, उत्तम गुरु दिखाकर, तीर्थंकरों की पूजा कर संसार के प्रति अनासक्ति, सांसारिक स्थिति से भय और तत्त्वज्ञान की अवतारणा कर, जो सांसारिक विषय में आसक्त थे उनके मन को भी उन्होंने प्रशान्त कर दिया। (श्लोक १४२-१४३)

जब उन्होंने समस्त रसों की अवतारणा की तो यथारूप अभिनय के कारण ऐसा लगा मानो वे उन-उन रसों के, प्रतिरूप हों। दर्शकों ने भी चित्रार्पित होकर यह सब देखा।

(श्लोक १४४-१४५)

राजा भी उनकी यह अद्भुत कला देखकर मुग्ध हो गए। उन्हें लगा जैसे वे संसार के रत्न ही हैं। उनके कनकश्री नामक एक तरुण कन्या थी। उन्होंने राजकुमारी की अभिनय-शिक्षा का दायित्व उन दोनों दासियों को अर्पित किया। कनकश्री का मुख चाँद-सा सुन्दर था, नेत्र त्रस्त हिरणी-से, ओष्ठ पके बिम्बफल-से, गला शंख-सा, हाथ मृणाल से, स्तन स्वर्ण कलश-से, कटिदेश वज्र के मध्य भाग-सा क्षीण, नाभि सरोवर-सी गहन, नितम्ब समुद्र सैकत-से विस्तृत, जाँघें तरुण हस्तिनी-सी, घुटने हरिण-से, हाथ और पैरों के तलवे रक्ताभ कमल-से थे। उसकी समस्त देह ही मानो

लावण्य जल में निमज्जित थी। उसकी वाणी मधुर और शरीर शिरीष-सा कोमल था। क्रीतदासी रूप अनन्तवीर्य ने उसे बार-बार देखा और मोहित हो गया। वे उसे अभिनय, उपस्थापना, सन्धि, अनुसन्धि आदि की शिक्षा देने लगे। (श्लोक १४६-१५६)

इस शिक्षा के मध्य-मध्य वे दीर्घबाहु अनन्तवीर्य का रूप, गुण और साहसिकता का वर्णन उसके सन्मुख करते। एक दिन कनकश्री ने पूछा, 'आप जिसके रूप, गुण, आदि का गुणगान कर रहे हैं वह महामानव कौन हैं?' क्रीतदासी रूपी अपराजित ने तब हँसकर कहा, 'हे सुन्दरी, इस भरतार्द्ध में शुभा नामक एक वृहद् नगरी है। गुणों में समुद्र-से और तेज में सूर्य सम स्तिमितसागर वहाँ के राजा थे। उनके अपराजित नामक ज्येष्ठ पुत्र हैं। वे जैसे सुशिक्षित हैं वैसे ही शत्रु से अपराजित हैं। अनन्तवीर्य नामक उनके एक छोटा भाई है। गुणों में वह उनसे कम नहीं है और रूप में तो कामदेव तुल्य और शत्रु के गर्व को नष्ट करने वाले हैं। उनके बाहु नागराज की भाँति दीर्घ, वक्ष पर्वतशिला-सा विस्तृत है। वे श्री के निवास रूप पृथ्वी के धारक हैं। अनुयायी रूप कमल के लिए सूर्य-से और व्यवहार में क्षीरसमुद्र तुल्य हैं। मेरे जैसा अल्पमति उनका क्या वर्णन, करेगा? देवता, असुर और मनुष्यों में कोई ऐसा नहीं जो उनके समकक्ष होगा।' (श्लोक १५३-१६१)

यह सब सुनकर कनकश्री के हृदय में उसी प्रकार वासना की तरंगें उठने लगीं जिस प्रकार सरोवर में वायु से तरंगें उठती हैं। उसे लगा जैसे वह उन्हें प्रत्यक्ष देख रही हो। वह मदन से शराहत होकर भावना की गम्भीरता में डूबने लगी। देह रोमांचित हो गई। वह स्वयं मानो पुत्तलिका-सी हो गई। (श्लोक १६२-१६३)

कनकश्री मन ही मन सोचने लगी वह राज्य धन्य है, वह नगरी धन्य है, उस राज्य के अधिवासी धन्य हैं। उस राज्य की पुर-ललनाएँ भी धन्य हैं जिस नगरी के राजा अनन्तवीर्य हैं। चन्द्र दूर से ही रात्रि में प्रस्फुटित कुमुदिनी को आनन्दित करता है। मेघ, आकाश में रहते हुए भी मयूर को नृत्य करने की प्रेरणा देता है। भाग्यशाली होने के कारण इनके लिए यह सम्भव हुआ है। किन्तु; मेरे लिए? मेरे और उनके भाग्य में क्या है? उनका मेरा स्वामी होना तो दूर उन्हें एक बार देख भी किस प्रकार सकूँ।

ऐसा बन्धु मिलना भी दुष्कर है जो मेरी इस इच्छा को पूर्ण करे।
(श्लोक १६४-१६७)

हाव-भाव से मानव मन की बात जानने में पटु अपराजित उसका मनोभाव समझ कर बोले, 'शुभ्रे, ऐसी मृतमना-सी क्यों हो गई हो? अपराजित के कनिष्ठ भ्राता के विषय में सुनकर लगता है तुम आहत हो गई हो?' (श्लोक १६८-१६९)

अश्रुपूर्ण नेत्रों से कनकश्री हिमपात से जैसे कमल म्रियमाण हो जाता है उसी भाँति म्रियमाण होकर दुःखार्त्त स्वर में अस्फुट शब्दों में बोली, 'हाथों से चाँद स्पर्श करने की भाँति, पैरों से आकाश पर चलने की भाँति, हाथों की सहायता से समुद्र उत्तरण की भाँति मेरी इच्छा उन्हें देखने की हो गई है। क्या मैं शुभापति को अपनी आँखों के सामने देख सकूँगी?' (श्लोक १७०-१७२)

अपराजित बोले, 'यदि तुम्हारी इच्छा उन्हें देखने की है तो मैं तुम्हें उन्हें दिखाऊँगा। इसके लिए विषण्ण मत बनो। मैं अपने मन्त्र बल से अनन्तवीर्य और अपराजित को उसी भाँति यहाँ लाकर उपस्थित कर सकती हूं जिस प्रकार बसन्त और मलय पवन एक साथ उपस्थित होते हैं।' (श्लोक १७३-१७४)

कनकश्री बोली—'उन दोनों गुणों के सागर के पास रहने के कारण आपके लिए सभी कुछ सम्भव है। आप जब इस प्रकार बोल रही हैं तो लगता है भाग्य मुझ पर प्रसन्न है। लगता है हमारी कुल देवी आपके कण्ठ में अवतरित हो गई हैं। आप जब विद्या जानती हैं तो जो कुछ कहा है वह तत्काल सत्य करिए। क्योंकि जो ऐसे व्यक्तियों के पास रहता है वह कभी झूठ बोल नहीं सकता।'
(श्लोक १७५-१७७)

तब अपराजित और अनन्तवीर्य ने आनन्दित होकर मानो सौन्दर्य और प्रेम ही इस प्रकार स्व-स्वरूप को प्रकट किया। अपराजित बोले, 'शुभ्रे, मैंने तुमको जैसा बताया था कहो मेरा भाई अनन्तवीर्य वैसा है या नहीं? मैंने इसके सौन्दर्य का जो वर्णन किया था वह तो कुछ भी नहीं था। वाणी द्वारा वह कहा भी नहीं जा सकता था। अब तो उसे मैंने तुम्हारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित किया है। देखो—' (श्लोक १७८-१८०)

उन्हें देख कर कनकश्री एक साथ विस्मय, लज्जा, प्रमोद,

विमूढ़ता आदि नाना भावों के वशीभूत हो गई। अपराजित को ज्येष्ठ समझकर उसने उत्तरीय से मस्तक ढका। आकाश में मेघ छा जाने से कदम्ब जैसे रोमांचित हो जाता है उसी भाँति प्रेम के आविर्भाव से अनन्तवीर्य का समस्त शरीर सिहर गया। तब मृगनयनी कनकश्री लज्जा और गौरव दोनों का परित्याग कर अनन्तवीर्य से बोली—

'आर्यपुत्र, कहाँ वैताढ्य पर्वत, कहाँ शुभानगरी। न जाने क्यों नारद ने पिताजी से आपकी क्रीतदासियों के अभिनय नैपुण्य का वर्णन किया। उन्होंने भी क्यों क्रीतदासियों को आपसे माँगने के लिए दूत भेजा। फिर क्रीतदासियों का रूप धारण कर आप यहाँ आए और पिताजी ने भी आप लोगों को मुझे अभिनय शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया। मुझ से आपके ज्येष्ठ भ्राता ने क्यों आपके रूप का वर्णन किया एवं इस भाँति अकस्मात् आप लोग भी क्यों निज रूप में मेरे सम्मुख प्रकट हुए। इस प्रकार सब कुछ अकल्पित ही घटित हुआ। यह सब हुआ मेरे सौभाग्य के लिए ही। जिस प्रकार अब तक आप मेरे अभिनय शिक्षक रहे अब मेरे पति हैं। अब यदि आप काम के हाथों से मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो मेरी मृत्यु का कारण बनेंगे। आपके विषय में सुनने मात्र से ही मेरा हृदय आपका हो गया था। अब आप दया कर मेरा पाणिग्रहण करें। वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों में आप जैसा राजपुत्र न होने से मुझे लगता है अब तक मेरा जीवित रहना भी नहीं रहने के समान ही था। किन्तु; भाग्योदय से जीवित रहने के लिए चन्द्र-से जीवन-दायक आपको मैंने प्राप्त कर लिया है।' (श्लोक १८१-१९२)

अनन्तवीर्य बोले—'शुभ्रे, यदि तुम्हारी यही इच्छा है तब हम शुभा नगरी चलें। वहीं हमारा विवाह होगा।' (श्लोक १९३)

कनकश्री ने कहा—'आप मेरे पति हैं; किन्तु मेरे पिता विद्या के मद में मस्त होकर कहीं आपलोगों का कुछ अनिष्ट कर बैठे तो? वे दुराचारी हैं और शक्तिशाली भी। आपलोग शक्तिशाली होने पर भी मात्र दो हैं, वह भी निरस्त्र।' (श्लोक १९४-१९५)

अनन्तवीर्य हँसते हुए बोले—'भीरु मत बनो, भय का कोई कारण नहीं है। तुम्हारे पिता सैन्य सहित भी मेरे अकेले अग्रज के सन्मुख खड़े रहने में भी समर्थ नहीं होंगे। यदि कोई उनसे युद्ध

की इच्छा करे तो वे उसे यमलोक भेज देंगे। अतः तुम डरो मत।'
(श्लोक १९६-१९७)

अनन्तवीर्य द्वारा इस प्रकार आश्वासित होकर जो स्वयं भी महाशक्तिशाली हैं ऐसे अनन्तवीर्य के साथ जाने के लिए कनकश्री मानो दूसरी श्री हो इस भाँति प्रस्तुत हुई। तब अनन्तवीर्य प्रासाद स्थित पताका की तरह अपना हाथ उठाकर वज्रघोष में बोले—

'दुर्गाधिपति, सेनापति, मंत्री, राजपुत्र, सामन्त और सैनिकों एवं जो भी दमितारि के अनुगत हैं सुनें—मैं अनन्तवीर्य, अपराजित सहित दमितारि की कन्या को स्वगृह ले जा रहा हूं। कहीं बाद में आपलोग यह नहीं कहें कि मैं कनकश्री को चुरा कर ले गया। यदि कोई बाधा देना चाहते हैं तो अपनी शक्ति का परिमाप कर मुझे रोक सकते हैं।' (श्लोक १९८-२०३)

यह सुनकर दमितारि बोले—'कौन है वह मृत्तिका का कीट, जो अपनी मृत्यु कामना कर रहा है? उसने सैनिकों को आज्ञा दी कि शीघ्र ही उस नीच और उसके भाई का वध कर या बन्दी बनाकर मेरी कन्या को लौटा लाओ। वह अनिष्टकारी अपनी करनी का फल भोगे।' (श्लोक २०४-२०६)

ऐसा आदेश मिलते ही स्वभाव से ही क्रूरकर्मी सैनिक हाथी जैसे अपने दाँत ऊँचे कर दौड़ता है उसी प्रकार अपने अस्त्र-शस्त्र उठाकर उसकी ओर दौड़े। ठीक उसी समय हल, सारंग धनुष आदि दिव्य अस्त्र अपराजित और अनन्तवीर्य को प्राप्त हुए। मेघ जैसे वारि वर्षण करता है उसी प्रकार दमितारि की सेना उन पर बाण बरसाने लगी; किन्तु दोनों नर-शार्दूलों ने क्रोधित होकर जब प्रतिआक्रमण किया तो वे हरिण की तरह काँपने लगे। जब दमितारि ने सुना उनकी सेना भाग रही है तो क्रुद्ध होकर वह स्वयं रणभूमि में आया। अस्त्र-शस्त्रों सह उसकी सेना आकाश में दीर्घ तरुयुक्त निकुंज-सी लगने लगी। (श्लोक २०७-२११)

'अरे ओ दुरात्मा, युद्ध कर, खड़ा रह, यह आ गया मैं, चला अस्त्र। तेरी मृत्यु निश्चित है। लौटा दे मेरी कन्या को, मैं तुझे जीवनदान देता हूं' आदि आदि—पिता के ये कर्ण-कटु शब्द जब कनकश्री के कानों में पड़े तो वह भयभीत होकर अनन्तवीर्य की दृष्टि आकृष्ट करने के लिए कहने लगी, 'स्वामिन् स्वामिन्'—

प्रत्युत्तर में अनन्तवीर्य बोले—'पिता के इस भाँति चिल्लाने से तुम क्यों डर रही हो? वह मेंढक की टर्र-टर्र से अधिक नहीं है। दमितारि और उसकी सेना को शक्र ने जैसे मैनाक को विनष्ट किया था उसी प्रकार हत या विनष्ट करता हूं।' (श्लोक २१२-२१६)

कनकश्री को इस प्रकार आश्वस्त कर वासुदेव अनन्तवीर्य सिंह की भाँति अपराजित सहित युद्ध क्षेत्र में अग्रसर हुए। जिस प्रकार दीपशिखा को पतंग घेर लेते हैं उसी प्रकार शत्रु-घातक दमितारि के हजारों सैनिकों ने उन्हें घेर लिया। तब मेरु-से दृढ़ अनन्तवीर्य ने क्रोधित होकर विद्याबल से दमितारि की सेना से द्विगुणित सैन्य की सृष्टि की। अतः दमितारि की सेना उनसे युद्ध करने लगी। रक्तवर्णी धातु से पर्वत जिस प्रकार आरक्त लगने लगता है उसी भाँति रक्त के प्रवाह से उनके शरीर भी आरक्त दीखने लगे। (श्लोक २१७-२२०)

व्यन्तर देवियाँ आकाश में स्थित होकर कहने लगीं—'जिसका मुण्ड कट कर धड़ नृत्य कर रहा है वह मेरा पति हो। शूलविद्ध होकर जो अग्रसर हो रहा है वह मेरा पति हो। युद्ध में प्रतियोद्धा की देह को जो रक्त-रंजित कर रहा है वह मेरे साथ कब (होली) खेलेगा? वह मेरा पति हो जिसके मुँह में दांतों के मध्य से बरछी प्रवेश कर रही है। वह मेरा पति हो जो हस्ती कुम्भ तक उन्नत हो रहा है और जो अस्त्र के नष्ट हो जाने पर शिरस्त्राण से ही युद्ध कर रहा है। वह मेरा पति हो जिसकी देह में हाथी का दाँत प्रविष्ट हो रहा है और जिसको खींच कर बाहर निकाला गया है।' (श्लोक २२१-२२४)

दमितारि की सेना विद्यालब्ध शक्ति से मस्त बनी युद्ध में भद्र जातीय हस्ती की भांति भंग नहीं हुई। तब वासुदेव ने युद्धाभिनय प्रदर्शनकारी नट की तरह पांचजन्य शंख बजाया जिसने स्वर्ग, मृत्यु एवं मध्यवर्ती आकाश तक को ध्वनि-पूरित कर डाला। जगत्-विजेता विष्णु की उस शंख ध्वनि से शत्रुसेना भूपतित हो गई और पक्षाघात हुए व्यक्ति की तरह उनके मुख से फेन निकलने लगे। तब दमितारि स्वयं रथ पर आरोहण कर दिव्यास्त्रों से अनन्तवीर्य के साथ युद्ध करने लगे। जब उसने देखा अनन्तवीर्य को सहज ही परास्त नहीं किया जा सकता तब दुर्दिन के अपने परम मित्र चक्र

को स्मरण किया। समुद्र में वाडवाग्नि की भाँति सहस्र ज्वालाएँ फैलाता वह चक्र उसी मुहूर्त में उसके हाथ में आ गया।
(श्लोक २२५-२३०)

तब दमितारि बोला, 'दुरात्मन्, यदि तू युद्धभूमि में खड़ा रहा तो समझ ले तेरी मृत्यु निश्चित है। जा भाग जा। मेरी कन्या को मुक्त कर दे। मैं भी तुझे छोड़ दूँगा।' (श्लोक २३१-२३२)

अनन्तवीर्य ने उत्तर दिया, 'मैं तेरा चक्र, जीवन और तेरी कन्या को लेकर जाऊँगा, उसके पूर्व नहीं।' (श्लोक २३३)

यह सुनते ही अत्यन्त क्रुद्ध हुए दमितारि ने अनन्तवीर्य पर चक्र निक्षेप किया। चक्रनाभि के आघात से अनन्तवीर्य चकित होकर गिर पड़े। अपराजित द्वारा वीजित होकर दूसरे ही क्षण वे इस प्रकार उठे कि मानो निद्रा से जागे हों। फिर अपने निकट स्थित हुए उस चक्र को उन्होंने ग्रहण किया—लगा जैसे चक्र के एक सौ आरे उनके हाथ में आते ही एक सहस्र हो गए। उस चक्र को हाथ में धारण कर वासुदेव प्रति-वासुदेव से बोले, 'तुम मुक्त हो, क्योंकि तुम कनकश्री के पिता हो। अब तुम जा सकते हो।'
(श्लोक २३४-२३६)

दमितारि ने कहा, 'तूने चक्र को क्यों धारण कर रखा है? मुझसे ही उधार लेकर मुझे ही आँखें दिखा रहा है? चक्र निक्षेप कर, कर निक्षेप। चक्र निक्षेप कर अपनी शक्ति का परिचय दे। मेरी शक्ति का निरीक्षण कर, नहीं तो तू कापुरुष है।' (श्लोक २३७-२३८)

दमितारि के इन कटु वाक्यों से उत्तेजित बने अनन्तवीर्य ने चक्र निक्षेप किया। उस चक्र ने कमलनाल की भाँति दमितारि के मस्तक को काट डाला। देवों ने परितुष्ट होकर पंचवर्णीय पुष्पों की अनन्तवीर्य पर वर्षा की एवं विद्याधर राजाओं से बोले—'हे विद्याधर राजाओ! सुनें, अनन्तवीर्य वासुदेव हैं और अपराजित बलदेव। अब युद्ध से निवृत्त होकर आप उदीयमान सूर्य-चन्द्र-से इनकी सेवा करें।' (श्लोक २३९-२४२)

तब सभी विद्याधर राजा मस्तक झुकाकर बलदेव और वासुदेव के निकट गए और उनकी शरण ग्रहण की। वासुदेव विद्याधर राजन्य, अग्रज और पत्नी सहित शुभा नगरी की ओर रवाना हो गए। जब वे कनक पर्वत के निकट आए तब विद्याधर

राजाओं ने उनसे कहा—'यहाँ अनेक जिन मन्दिर हैं। इस पर्वत का उल्लंघन करना अर्हतों की अवहेलना है। उनका वन्दन-पूजन कर ही आप अग्रसर हों।' (श्लोक २४३-२४६)

वासुदेव और अन्यों ने विमान से उतरकर अर्हतों का पूजन किया। अर्हत प्रतिमाओं के दर्शन से उनका चित्त प्रसन्न हो गया। (श्लोक २४७)

जब वे कौतूहलवश पर्वत शृंग का निरीक्षण कर रहे थे उन्होंने कीर्तिधर नामक एक मुनि को देखा जो कि एक वर्ष से भी अधिक समय से प्रतिमा धारण किए वहाँ अवस्थित थे। घाती कर्मों के क्षय हो जाने से उन्हें वहीं उसी मुहूर्त्त में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। फलतः देवों ने इस उपलक्ष में एक उत्सव का आयोजन किया। आनन्दमना अनन्तवीर्य एवं अन्य उन्हें तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दन-नमस्कार कर करबद्ध होकर उनके सम्मुख बैठ गए। केवली कीर्तिधर ने देशना दी। देशना के अन्त में कनकश्री ने पूछा, 'भगवन्, मेरे पिता की मृत्यु एवं मेरा स्वजन-विच्छेद क्यों हुआ? कृपया बताएँ।' मुनि ने बताया—

'धातकी खण्ड के पूर्व भारत में शंखपुर नामक एक नगर था। वहाँ श्रीदत्ता नामक एक गरीब स्त्री रहती थी। वह दूसरों के घर काम कर अपनी जीविका चलाती थी। उसे समस्त दिन बर्तन मांजना, कपड़े धोना, पानी भरना, झाड़ू-बुहारी करना, गोबर लेपन आदि कार्य करने पड़ते थे। दिनभर की हाड़ तोड़ देने वाली खटनी करने के बाद उसे आहार मिलता। अतः उल्लू के दर्शन की भाँति उसका जीवन अमंगलमय था। (श्लोक २४८-२५५)

'एक दिन घूमते हुए वह मेरु पर्वत-से सुन्दर श्रीपर्वत पर आई। वहाँ उसने शिलासीन त्रिगुप्तिधारी परिषह सहन करने वाले, पाँच समिति का निर्वाह करने वाले तपःप्रवण निष्काम राग रहित एक मुनि को देखा। उनके लिए मिट्टी और सुवर्ण में कोई भेद नहीं था। वे पर्वत शिखर की तरह निश्चल होकर शुक्ल ध्यान में निमग्न थे। कल्पतरु-से उन मुनि को देखकर वह आनन्दित हुई और उन्हें वन्दना की। मुनि ने भी 'धर्मलाभ' कहकर उसे आशीर्वाद दिया जो कि मुक्तिरूप वृक्ष के दोहद-सा था।

(श्लोक २५६-२६०)

'श्रीदत्ता बोली, 'भगवन्, मैं बड़ी दुर्भागिनी हूं। लगता है मैंने पूर्वजन्म में धर्माराधना नहीं की। ग्रीष्म काल के ताप तप्त पर्वत की तरह सर्वदा कठिन कर्मक्लिष्ट मेरे जीवन में आया। यह धर्मलाभ प्रथम वर्षा है। यद्यपि मैं भाग्यहीन इसके उपयुक्त नहीं हूं किन्तु; आपका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं हो सकता। आप मुझे धर्म-उपदेश दें ताकि आगामी जन्म में मैं ऐसी भाग्यहीन बनकर जन्म न लूँ। हे शरण्य, आप जैसे शरणस्थल को प्राप्त कर मुझे इच्छित वस्तु क्यों न प्राप्त होगी ?' (श्लोक २६१-२६४)

'उसकी बात सुनकर एवं उसकी पात्रता जानकर मुनि ने उसे धर्म चक्रवाल तप करने को कहा। बोले, 'तुम गुरु एवं अर्हत् की उपासना करो। प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन उपवास और मध्य में १, ७, ४ दिनों का उपवास करो। इस तपस्या के बल से जिस प्रकार मुर्गी से अण्डा होना निश्चित है उसी प्रकार पुनः ऐसा जन्म नहीं होगा यह निश्चित है।' (श्लोक २६५-२६७)

'यह सुनकर मुनिराज की वन्दना कर वह स्वग्राम लौट गई और धर्म-चक्रवाल तप प्रारम्भ कर दिया। उस तपस्या के बल से पारने के दिन उसे वह मिष्टान्न प्राप्त होने लगा जिसकी कल्पना उसने स्वप्न में भी नहीं की थी। इससे उसका सौभाग्योदय सूचित हुआ। उसी समय में किसी धनाढ्य गृह में काम पर जाने के कारण दुगुना, तिगुना अर्थ प्राप्त करने लगी। साथ ही उत्तम वस्त्र भी मिलने लगे। इस भाँति कुछ अर्थ संचय हुआ। उससे उसने शक्ति के अनुसार देव और गुरु की पूजा की। एक दिन भयंकर तूफान में उसके घर की दीवाल टूट गई। वहाँ उसने बहुत सारी सुवर्ण मुद्राएँ देखीं। उन सुवर्ण मुद्राओं से उसने तपस्या के अन्त में मन्दिरों में पूजन किया और साधु-साध्वियों को उपयुक्त दान दिया। पारने के दिन उसी ग्राम के एक ऋषिपुत्र नामक मुनि आए जो एक मास के उपवासी थे। स्वयं को सौभाग्यवती समझकर उसने पारने के लिए शुद्ध आहार बहराया और वन्दना कर उन्हें अर्हत् धर्म का उपदेश देने को कहा। मुनि बोले—'कहीं भिक्षार्थ जाकर वहाँ उपदेश देना हमारा नियम नहीं है। यदि उपदेश सुनना चाहती हो तो मेरे लौट जाने के पश्चात् योग्य समय देखकर आना'—ऐसा कहकर वे लौट गए। (श्लोक २६८-२७७)

'ग्राम के लोग और श्रीदत्ता मुनि के पारने के पश्चात् जब वे ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे, उन्हें वन्दना करने गए।'

(श्लोक २७८)

'मुनि ने भी मधुर कण्ठ से उन्हें उपदेश दिया—

'चौरासी लाख जीव-योनियों में भटकने के पश्चात् जीव अन्धे व्यक्ति के लक्ष्यस्थल पर पहुंचने की तरह मनुष्य देह प्राप्त करता है। जिनोपदिष्ट धर्म जो कि सहज ही प्राप्त नहीं होता, वह ग्रह नक्षत्र में जैसे चन्द्रमा श्रेष्ठ है वैसे ही संसार के समस्त धर्मों में श्रेष्ठ है। अतः सम्यक् दर्शन के पश्चात् ऐसा प्रयत्न करना उचित है जिसमें जीव संसार-सागर अतिक्रम कर जाए।' (श्लोक २७९-२८२)

'श्रीदत्ता ने मुनि को प्रणाम कर सम्यक्त्व के साथ जिनोपदिष्ट धर्म ग्रहण किया। तदुपरान्त ग्रामवासियों के साथ लौट गई। कुछ दिनों तक तो उसने उस धर्म का पालन किया; किन्तु कर्मों के कारण उसके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि जिन-कथित धर्म का जो श्रेष्ठ फल है वह फल उसे मिलेगा या नहीं? इस प्रकार गुरु उपदेश को प्राप्त करके भी सन्देह करने का फल प्राप्त हुए बिना नहीं रहता।' (श्लोक २८३-२८७)

'एक दिन जब वह सत्ययश मुनि को वन्दना करने जा रही थी तब आकाश में विमान में बैठे एक विद्याधर दम्पती को उसने देखा। उनके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्हीं के विषय में सोचती हुई वह घर लौटी। अपने सन्देह को व्यक्त किए बिना और उसके लिए पश्चाताप किए बिना उसकी मृत्यु हो गई। (श्लोक २८८-२८९)

'जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के अलङ्कार रूप रमणीय नामक विजय में वैताढ्य नामक एक पर्वत है। वहाँ आनन्द के निवास रूप शिवमन्दिर नामक एक नगर था। वह नगर अमरों के नगर के अनुज रूप था। वहाँ कनकविजय नामक एक राजा राज्य करते थे। उनके चरण-कमलों की शक्तिशाली विद्याधर राजा भी पूजा करते थे। मैं उन्हीं का पुत्र कीर्तिधर हूं। मेरी माँ का नाम था वायुवेगा। मेरी मुख्य पत्नी का नाम था अनिलवेगा। एक दिन रात को जब वह सो रही थी उसने तीन स्वप्न देखे—कैलाश-सा एक श्वेत हस्ती, मेघ-सा गर्जनकारी एक सुन्दर वृषभ और रत्नकुम्भ-सा एक सुन्दर कलश। रात्रि के अन्त में उसने कमल-से उद्भासित

मुख से मुझे उन स्वप्नों के विषय में बतलाया। मैंने बताया कि तुम त्रिखण्ड के अधिपति अर्द्ध-चक्री रूप पुत्र को जन्म दोगी।

(श्लोक २९०-२९७)

'यथा समय रानी ने सर्वसुलक्षणयुक्त देव-से सुन्दर एवं रत्नों की खान-से एक पुत्र को जन्म दिया। वह जब गर्भ में था तब मैंने शत्रुओं पर सहज ही विजय पाई थी। अतः मैंने उसका नाम दमितारि रख दिया। धीरे-धीरे वह बड़ा हुआ—विद्याएँ अर्जित कीं और सौन्दर्य द्वारा परिप्लुत यौवन प्राप्त किया।

(श्लोक २९८-३००)

'एक दिन विचरण करते हुए संसार की शान्ति के कारण भगवान शान्तिनाथ वहाँ आए। वहाँ उनके समवसरण की रचना हुई। मैं वन्दना कर उनके सम्मुख बैठ गया और देशना सुनी। उनकी देशना से संसार-विरक्त होकर मैंने दमितारि को सिंहासन पर बैठाया और भगवान शान्तिनाथ से दीक्षा ग्रहण कर ली। और ग्रहण एवं आसेवना में अर्थात् सूत्राध्ययन में निमग्न हो गया। उसी पर्वत पर एक वर्ष की प्रतिमा धारण किए मैं अवस्थित था। वहीं वसन्तोत्सव के अन्त में घाती कर्म क्षय हो जाने से मुझे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। दमितारि ने राजा होने के पश्चात् प्रतिविष्णु होने के कारण चक्र प्राप्त किया और त्रिखण्ड भूमि का अधिपति बना। तुम श्रीदत्ता के जीव ने दमितारि के औरस से रानी मदिरा के गर्भ से कनकश्री के रूप में जन्म ग्रहण किया। श्रीदत्ता अपना सन्देह व्यक्त किए बिना और उसकी आलोचना किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हुई थी अतः उसके परिणामस्वरूप अब तुम्हें बान्धव विच्छेद और पिता की मृत्यु का दुःख भोग करना पड़ रहा है। धर्म का सामान्य-सा अतिचार भी महान दुःख का कारण बनता है। तुम ऐसा कार्य अब कभी मत करना ताकि उसकी पुनरावृत्ति हो। अब तुम पाँच अतिचार रहित सम्यक्त्व ग्रहण करो।' (श्लोक ३०१-३०९)

संसार से वीतश्रद्ध होकर कनकश्री वासुदेव और बलदेव से बोली—'यदि सामान्य-सा पाप भी इतना दुःखजनक होता है तो सांसारिक सुख भोगों का पाप तो न जाने कितने दुःखों का आकर है। सामान्य-से छिद्र के कारण नौका जैसे जल में डूब जाती है उसी प्रकार सामान्य-से पाप के कारण मनुष्य दुःख रूप समुद्र में निमज्जित

हो जाता है। जब मैं दारिद्र्य के भय से भीत थी और मैंने तपश्चर्या की तब भी यदि मेरे मन में ऐसा सन्देह उपस्थित हो गया, हाय दुर्दैव कैसा है! अब जब कि मैं सत्ता सम्पन्न हो गई हूं और सुखभोग कर रही हूं, तब तो क्या सन्देह से न जाने कैसे-कैसे पाप कर बैठूँ। अतः अनुग्रह कर मुझे आदेश दीजिए मैं दीक्षा ग्रहण करूँ। छल-प्रपंचमय जीवन रूपी राक्षस के भय से मैं भीत हूं।'

(श्लोक ३१०-३१५)

उसकी बात सुनकर वासुदेव और बलदेव विस्मित होकर बोले—'गुरु कृपा से वह बिना बाधा के हो जाएगा; किन्तु उसके पूर्व हम शुभा नगरी जाएँगे ताकि तुम्हारा दीक्षा महोत्सव धूम-धाम से कर सकें।' (श्लोक ३१६-३१७)

कनकश्री के सहमत होने पर मुनि को वन्दना कर वे शुभा नगरी गए। वहां उन्होंने अनन्तवीर्य के पुत्र अनन्तसेन को दमितारि प्रेरित सेना से युद्ध करते पाया। कुत्तों से घिरे भालू की तरह दमितारि की सेना से घिरे अनन्तसेन को युद्ध करते देखकर बलदेव क्रोधित हो गए और हल लेकर उनकी ओर दौड़े। हवा में जैसे रूई उड़ जाती है वैसे ही उनका आक्रमण सहन न कर सकने के कारण दमितारि की सेना चतुर्दिक भाग गई। वासुदेव ने नगरी में प्रवेश किया। तदुपरान्त शुभ दिन देखकर राजाओं ने उन्हें अर्द्धचक्री रूप में अभिषिक्त किया। (श्लोक ३१८-३२३)

पृथ्वी पर विचरण करते हुए जिन स्वयंप्रभ एक दिन शुभा नगरी में आए। वहां उनके समवसरण की रचना हुई। द्वार-रक्षकों ने उनका आगमन संवाद अनन्तवीर्य को निवेदित किया—'प्रभो, आपके सौभाग्य से स्वयंप्रभ नाथ यहां उपस्थित हुए हैं।' अनन्तवीर्य ने द्वार-रक्षकों को साढ़े बारह करोड़ रौप्य मुद्राएँ दीं और अग्रज एवं कनकश्री सहित उन्हें वन्दना करने गए। स्वयंप्रभ स्वामी ने सभी समझ सके ऐसी भाषा में, जो मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ थे उन्हें आत्म कल्याणार्थ देशना दी। (श्लोक ३२४-३२७)

देशना के अन्त में कनकश्री उठकर खड़ी हो गई और बोली—'मैं वासुदेव से विदा लेकर आपसे दीक्षित होऊँगी तब तक आप यहीं अवस्थान करें।' तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ बोले—'शुभ कर्म में विलम्ब मत करो।' तत्पश्चात् वासुदेव, बलदेव और कनकश्री घर लौट गए।

कनकश्री ने अनन्तवीर्य से विदा ली। अनन्तवीर्य ने उसका दीक्षा-महोत्सव बहुत धूमधाम से मनाया। कनकश्री ने स्वयंप्रभ जिन से दीक्षित होकर एकावली, मुक्तावली, कनकावली, भद्र, सर्वतोभद्र आदि तप किए। तदुपरान्त एक दिन शुक्ल ध्यान की अग्नि में घाती कर्मों को दग्ध कर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। क्रमशः भवोपग्रही कर्मों को भी क्षय कर कनकश्री ने उस लोक को प्राप्त किया जहां जाकर प्रत्यावर्तन नहीं होता। (श्लोक ३२८-३३३)

वासुदेव और बलदेव देवों-से सुखों का भोग करते हुए समय व्यतीत करने लगे। बलदेव की एक पत्नी का नाम था विरता। उसके गर्भ से सुमति नामक एक कन्या उत्पन्न हुई। बाल्यकाल से ही वह जिनोपदिष्ट धर्म का पालन करती थी। वह जीवादि तत्त्वों की जैसी ज्ञाता थी उसी प्रकार विभिन्न तप भी करती थी। श्रावक के बारह व्रतों का पालन कर गुरु और अर्हतों की पूजा में वह समय व्यतीत करती थी। (श्लोक ३३४-३३७)

एक दिन उपवास कर पारणे के लिए बैठी थी कि दरवाजे पर एक मुनि उपस्थित हुए। उसने पात्र में रखे आहार को मानो तीन गुप्ति और पाँच समिति स्वयं उपस्थित हुई हों इस प्रकार उन्हें बहरा दिया। तब रत्न-वर्षादि पांच दिव्य प्रकट हुए। सचमुच सुपात्र को दिया दान करोड़ों गुणा होकर लौट आता है! मुनि वहाँ से अन्यत्र चले गए। क्योंकि संसार से विरक्त मुनि हवा जिस प्रकार एक स्थान पर नहीं रहती उसी प्रकार कभी भी एक स्थान पर नहीं रहते। (श्लोक ३३८-३४१)

रत्न-वर्षा की बात सुनकर वासुदेव और बलदेव देखने आए, देखकर विस्मित हो गए। सुमति के लिए ही यह चमत्कार घटित हुआ है ऐसा सोचकर वे उसके लिए योग्य पति की चिन्ता करने लगे। अमात्य इहानन्द से परामर्श कर उन्होंने उसके लिए स्वयंवर सभा का आयोजन किया। वासुदेव की आज्ञा से विद्याधरराज और त्रिखण्ड भरत के राजागण स्वयंवर सभा में उपस्थित हुए। वासुदेव के अनुचरों ने एक हजार रत्न स्तम्भों वाले मंडप का निर्माण किया जो देखने में इन्द्रसभा-सा सुन्दर था। उस मण्डप में रत्न-जड़ित सिंहासन स्थापित किए गए जो कि देखने में नागराज के सहस्र फणों की मणियों से लग रहे थे। वासुदेव के आदेश से सौन्दर्य में जो मीनकेतु

की तरह सुन्दर थे ऐसे राजागण और विद्याधरपुत्र उस सिंहासन पर आकर बैठ गए। दिव्य वस्त्रों का परिधान कर रत्नजड़ित अलङ्कार पहन कर दिव्य गन्ध से चर्चित होकर बलभद्र की कन्या सुमति उस सभा-मण्डप में उपस्थित हुई। एक परिचारिका ने चन्द्र-सा शुभ्र छत्र उसके मस्तक पर धारण कर रखा था। स्वर्णदण्ड लिए द्वार-रक्षिकाएँ उसे पथ दिखा रही थीं। सखियां उसका अनुसरण कर रही थीं। एक सखी वरमाला लिए उसके साथ-साथ चल रही थी। सुमति को देखकर लग रहा था मानो लक्ष्मी अभी-अभी समुद्र से उत्पन्न हुई है और उपस्थित विद्याधर और राजन्य वर्ग देवता हैं।

(श्लोक ३४२-३५२)

हरिणनयनी सुमति ने अपनी स्निग्ध दृष्टि से चारों ओर देखा तो लगा मानो नील पद्मकलिका उसने चारों ओर बिखरा दी हैं। ठीक उसी समय एक रत्नों से रचा देव विमान जिसके स्तम्भ मणि-मुक्ता से जड़े हुए थे आकाश से उतरा और सभामण्डप पर सूर्य-मण्डल की भांति स्थित हो गया। उस विमान में रत्नजड़ित सिंहासन पर एक देवी बैठी थी। सुमति, राजन्यवर्ग और विद्याधर कुमार विस्मय विस्फारित नेत्रों से उस ओर देखने लगे। वह देवी विमान से उतरी और सभा-मण्डप में रखे एक सिंहासन पर जा बैठी। तदुपरान्त दाहिना हाथ उठाकर सुमति से बोली :

(श्लोक ३५३-३५८)

'धनश्री जागो, जागो! अपने पूर्व जन्म की कथा स्मरण करो। पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व भरत में श्रीनन्दनपुर नामक एक समृद्ध और विस्तृत नगर है। वहाँ महेन्द्र-से महेन्द्र नामक एक राजा राज्य करते थे। वे शरण में आए हुए की दिन-रात रक्षा करते थे। उनकी प्राणों से भी अधिक प्रिय रानी का नाम था अनन्तमति। वह मानो सभी गुणों की प्रतिरूप थी। (श्लोक३५८-३६१)

'एक दिन जब वह सुख शय्या पर सोई हुई थी तब रात्रि के शेष प्रहर में एक स्वप्न में दो सुगन्धित पुष्प मालाओं को अपनी गोद में देखा। जब उसने राजा को अपना स्वप्न सुनाया तब वे बोले, तुम्हारे सर्वगुणसम्पन्ना दो पुत्रियाँ होंगी। यथा समय दो कन्याएँ हुईं, बड़ी मैं थी, मेरा नाम था कनकश्री। तुम छोटी थी तुम्हारा नाम था धनश्री। परस्पर एक दूसरे से प्रेम करते हुए हमने

विद्याभ्यास किया और तरुण अवस्था पाई। अवकाश के दिन आनन्द मनाने के लिए हम एक पर्वत पर गईं। वनदेवियों की तरह हम मधुर फल और सुगन्धित पुष्पों का आहरण करते हुए इधर-उधर घूमने लगीं। इसी प्रकार घूमते हुए हमने एक शान्त स्थान पर मुनि नन्दनगिरि को देखा। उन्हें देखकर हमने तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दन किया। मुनि ने हमें धर्मलाभ देकर चित्तप्रसन्नकारी देशना दी। देशना सुनने के पश्चात् हमने करबद्ध होकर निवेदन किया—'यदि हम भव्य जीव हैं तो हमें उपदेश दीजिए।' हमें भव्य जीव जानकर मुनिश्री ने द्वादशांगी धर्म का उपदेश दिया। हम मुनिवर को पुनः वन्दना कर स्वगृह लौट गईं और सतर्कता-पूर्वक द्वादशांगी धर्म का पालन करने लगीं। (श्लोक ३६२-३७३)

'एक दिन हम कौतूहलवश क्रीड़ा-वापी, सरिता, पर्वत और विविध वृक्षों से सम्पन्न अशोक वन में गईं। जब हम नदी तट पर खेल रही थीं। त्रिपुरपति वीरांग नामक एक खेचर ने हमारा अपहरण कर लिया। उसकी पत्नी वज्रश्यामलिका ने सिंह के हाथ से दो हरिणियों की तरह वीरांग के हाथों से हमें मुक्त किया। मुक्त होते ही शापभ्रष्टा दो देवियों की तरह हम आकाश से कीचक वन के एक नदी तट पर आ गिरीं। इस दुर्घटना में अपनी मृत्यु सन्निकट जानकर हमने अनशन लेकर नवकार मन्त्र की आराधना करते हुए शुद्ध ध्यान में देह त्याग किया। मृत्यु के पश्चात् मैं सौधर्मपति की पट्टरानी नवमिका के रूप में उत्पन्न हुई और तुम धनद कुबेर की मुख्य रानी के रूप में। वहाँ से च्यवकर तुम बलभद्र की कन्या सुमति बनी। उसी समय हमने एक दूसरे को वचन दिया था कि जो भी हम में से पहले मृत्युलोक में जन्म ग्रहण करे उसे अर्हत धर्म का उपदेश देने के लिए दूसरा आए। वह स्मरण कर मैं तुम्हें अर्हत् धर्म का उपदेश देने आई हूं। इस संसार-सागर को अतिक्रम करने में अर्हत् धर्म ही नौका रूप है। पूर्व जन्म में किए नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वत अर्हतों का अष्टाह्निका उत्सव स्मरण करो। जीवन्त अर्हत् की स्नात्र पूजा और उनके उपदेशों को स्मरण करो। दूसरे जन्म की निद्रा में तुम यह सब क्यों भूल रही हो? अतः मनुष्य जन्म के फलस्वरूप देवताओं को भी अलभ्य मुक्ति की मित्ररूपा साध्वी दीक्षा ग्रहण करो।' (श्लोक ३७४-३८५)

ऐसा कहकर शक्र पत्नी स्व-विमान में बैठकर विद्युत झलक जैसे आकाश को उद्भासित करती है उसी प्रकार आकाश को उद्भासित कर चली गई। (श्लोक २८६)

उसकी बातों को सुनकर सुमति को पूर्व जन्म स्मरण होने से मानो संसार भय से भीत होकर ही वह मूच्छित होकर गिर पड़ी। चन्दन जल से सिक्त करने पर और पंखों की हवा से उसका ज्ञान लौटा और वह निद्रा टूट जाने पर उठ खड़ी हुई। तब वह करबद्ध होकर राजाओं एवं विद्याधरकुमारों से बोली—'हे महात्मनगण, पूर्वजन्म स्मरण हो जाने के कारण मेरा आपसे एक निवेदन है—आप सब मेरे लिए आमंत्रित होकर यहाँ आए हैं। इसके लिए मुझे क्षमा करें। संसार भ्रमण का अन्त करने में औषधि रूप अब मैं साध्वी दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूं।'

(श्लोक २८७-२९०)

राजाओं ने प्रत्युत्तर दिया—'हे निर्दोषा, हम तुम्हें क्षमा करते हैं। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।' (श्लोक २९१)

वासुदेव और बलदेव ने बड़ी ही धूमधाम से उसका महाभिनिष्क्रमण महोत्सव सम्पन्न किया। उस उत्सव में शक्र और कुबेर पत्नियां आयीं और उसे सम्बोधित किया। कारण, ऐसे व्यक्ति तो इन्द्र के द्वारा भी सम्मानित होते हैं। सात सौ सहचारियों सहित सुमति ने आर्य सुव्रत से मुक्ति की सरिता-सी श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। तदुपरान्त अन्तर और बाह्य संयम पालन कर नानाविध तपों का अनुष्ठान किया। मुक्ति के लिए उन्मुख वह आत्मरूप कमल में भ्रमर की भांति लीन हो गई। कुछ काल के उपरान्त कर्म क्षय के सोपानों पर आरूढ़ होकर उसने मुक्ति रूपी श्री के दूतरूप केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अन्ततः बहुत से भव्य जीवों को उद्बुद्ध कर तथा अघाती कर्मों को क्षय कर सिद्ध लोक प्राप्त किया।

(श्लोक २९२-२९७)

अपराजित और अनन्तवीर्य सम्यक्त्व के अधिकारी बनकर अश्विनीकुमारों की तरह राज्य शासन करने लगे। चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य शेष होने पर निकाचित कर्मों के कारण वासुदेव मरकर प्रथम नरक में गए। नारक के रूप में उन्होंने बयालीस हजार वर्षों तक नानाविध यातनाएँ भोगीं क्योंकि कृत कर्मों से छुटकारा नहीं

मिलता। उनके पूर्व जन्म के पिता चमरेन्द्र वहां आकर उनकी पीड़ा कम करने की चेष्टा करते। सचमुच सन्तान के प्रति जो स्नेह है वह बहुत प्रगाढ़ होता है। अनन्तवीर्य पूर्ण मुक्ति के अभिलाषी होकर अवधिज्ञान द्वारा पूर्व कर्म स्मरण कर उस पीड़ा को सहन करते।

(श्लोक ३९८-४०२)

भाई की मृत्यु से शोकातुर बने बलभद्र ने समग्र राज्य अनन्तवीर्य के पुत्र को देकर गणधर जलन्धर से दीक्षा ग्रहण कर ली। सोलह हजार राजाओं ने उनका अनुसरण किया। क्योंकि महत् लोगों के साथ रहने से महत् पद ही प्राप्त होता है।

(श्लोक ४०३-४०४)

दीर्घकाल तक व्रतों का अनुष्ठान और परिषहों को सहन करते हुए बलभद्र ने अन्तिम समय में अनशन ग्रहण किया। मृत्यु के पश्चात् वे अच्युत देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ४०५)

निकाचित कर्मों का फल भोगकर अनन्तवीर्य का जीव अग्नि में दग्ध होकर जैसे सुवर्ण परिशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार परिशुद्ध होकर नरक से निकला। इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी पर गगनवल्लभपुर के विद्याधर राजा मेघवाहन के औरस से रानी मेघमालिनी के गर्भ से मेघनाद नामक पुत्र रूप में जन्मे। यौवन प्राप्त होने पर मेघवाहन ने उन्हें राज्यभार देकर परजन्म सफल करने के लिए दीक्षा ग्रहण कर ली। मेघनाद क्रमशः वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों का आधिपत्य लाभ कर स्वर्ग और मृत्यु के एक सूर्य रूप हो गए। (श्लोक ४०६-४१०)

एक समय उन्होंने अपने राज्य को एक सौ दस भागों में विभक्त कर स्वपुत्रों को वह राज्य बांट दिया। तदनन्तर प्रज्ञप्ति विद्या के बल से मन्दार पर्वत पर गए। वहां नन्दनवन के शाश्वत जिनेश्वरों की पूजा की। उसी समय स्वर्ग से देव वहां उतरे। अच्युतेन्द्र ने जब उन्हें वहां देखा तो पूर्वजन्म के भ्रातृ स्नेह के कारण उन्हें गुरु की भांति उपदेश दिया—'संसार परित्याग करो।' मानो उनकी इच्छा पूर्णरूप धारण कर आई हो इस प्रकार उसी समय वहां महामुनि उमरगुरु उतरे। मेघनाद ने उनसे दीक्षा ग्रहण की और अतिचार रहित संयम एवं तपानुष्ठान करने लगे।

(श्लोक ४११-४१५)

एक दिन वे नन्दन पर्वत पर आरोहण कर एक रात्रि की प्रतिमा धारण किए अवस्थित थे। उनके पूर्व जन्म के शत्रु अश्वग्रीव के पुत्र ने बहुत सी जीवयोनियों में भ्रमण कर दैत्य रूप में जन्म ग्रहण किया था, उसने उन्हें वहाँ खड़े देखा। पूर्वजन्म की शत्रुता के कारण क्रुद्ध होकर उसने उन पर उसी प्रकार आघात किया जैसे महिष वृक्ष पर करता है। किन्तु; वह उन्हें ध्यान से विचलित नहीं कर सका। हस्तीदाँत के आघात से क्या कभी पर्वत विचलित होता है? आश्चर्यचकित होकर वह असुर मस्तक नीचे किए चला गया और मुनि मेघनाद ने अपना ध्यान पूर्ण किया। उपसर्ग और परिषहों को सहन कर उन्होंने दीर्घकाल तक तपस्या की। अन्तिम समय में अनशन द्वारा देह त्याग कर वे अच्युत देवलोक में अच्युतेन्द्र के सामानिक देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ४१६-४२१)

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में सीता नदी के दक्षिण तट पर मङ्गलावती नामक एक विजय था। उस विजय में रत्नों की अधिकता के कारण रत्नाकर की वधू रूपा रत्न संचय नामक एक नगरी थी। वहाँ क्षेमंकर नामक एक राजा राज्य करते थे। वे संग्रह और सुरक्षा के प्रतिरूप थे और वायु की भाँति शक्तिशाली थे। रत्नमाला-सी निष्कलंक और पुष्पमाला-सी कोमल रत्नमाला नामक उनकी एक रानी थी। (श्लोक १-४)

सीप में जैसे मुक्ता वर्द्धित होता है वैसे ही उसके गर्भ में अच्युतेन्द्र अपराजित का जीव अच्युत देव लोक से च्युत होकर वर्द्धित होने लगा। सुख-शय्या में सोयी रानी ने रात्रि के शेष याम में चौदह महास्वप्न देखे और पन्द्रहवें स्वप्न रूप में वज्र देखा। जागने पर उसने यह बात स्व पति से कही। प्रत्युत्तर में वे बोले, तुम्हारा पुत्र वज्र इन्द्र की भाँति चक्रवर्ती राजा होगा। (श्लोक ५-७)

यथा समय उसने नयनों को आनन्द देने वाले छठे लोकपाल से श्रेष्ठ बल के अधिकारी एक पुत्र को जन्म दिया। रानी ने जब वह गर्भ में था तो वज्र देखा था इसलिए उसके पिता ने उसका नाम

रखा वज्रायुद्ध। प्रस्फुटित माल्य द्वारा कुदृष्टि से रक्षित होता हुआ वह असाधारण बालक क्रमशः बड़ा होने लगा। समस्त कलाओं को अधिगत कर उसने देव, असुर एवं मानव हृदयों को भी जो भ्रमित कर दे ऐसा यौवन प्राप्त किया। भुजाओं में मङ्गल सूत्र धारण कर उसने लक्ष्मी-सी लक्ष्मी का पाणिग्रहण किया। (श्लोक ८-१२)

आकाश से गिरकर वर्षा जैसे धरती के गर्भ में प्रविष्ट होती है वैसे ही अनन्तवीर्य का जीव अच्युत कल्प से च्यव कर लक्ष्मीवती के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। यथा समय रानी ने शुभ स्वप्नों द्वारा सूचित सर्व सुलक्षण युक्त और सूर्य-से तेजस्वी एक पुत्र को जन्म दिया। एक शुभ दिन जन्मोत्सव से भी श्रेष्ठ एक उत्सव कर पुत्र का नाम रखा सहस्रायुध। चन्द्र जैसे कलाओं से वर्द्धित होता है उसी प्रकार समस्त कलाओं को अधिगत कर वह क्रमशः यौवन को प्राप्त हुआ। उसने कामदेव-सी सौन्दर्य सम्पन्न श्री से भी अधिक सुन्दरी कनकश्री से विवाह किया। उनके सर्व सुलक्षण युक्त और वायु-से शक्तिशाली एक पुत्र उत्पन्न हुआ। (श्लोक १३-१८)

एक समय महाराजा क्षेमंकर अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, मन्त्री, सामन्त और राजाओं सहित राजसभा में बैठे थे। उस समय ईशान कल्प के देव सभा में यह चर्चा चली कि मृत्यु लोक में वज्रायुध-सा दृढ़ सम्यक्त्व सम्पन्न व्यक्ति और कोई नहीं है। चित्रशूल नामक एक देव को उस पर विश्वास नहीं हुआ। वह बहुमूल्य रत्न जड़ित मुकुट और कुण्डल धारण कर मिथ्यात्वी के छद्मवेष में उनकी परीक्षा लेने के लिए उस सभा में अवतीर्ण हुआ। (श्लोक १९-२२)

नाना वाद-विवादों के मध्य सम्यक्त्व पर आक्रमण करता हुआ वह बोला, 'संसार में न पुण्य है, न पाप, न आत्मा है, न परलोक। मनुष्य इन पर विश्वास कर व्यर्थ ही कष्ट भोगता है।'
(श्लोक २३-२४)

सम्यक्त्व विश्वासी वज्रायुध प्रत्युत्तर देते हुए बोल उठे, 'आप यह क्या कह रहे हैं? यह तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। स्व अवधि ज्ञान से पूर्व जन्म का स्मरण करिए। उस जन्म कृत धर्माराधना के कारण आपने वर्तमान जीवन में ऋद्धि प्राप्त की है। आप पूर्व जन्म में मनुष्य थे, इस जन्म में देवता। यदि आत्मा ही नहीं होती तो यह सब कैसे घटता? इस लोक में आपने मानव देह धारण की थी

परलोक में देवता हैं। हे विचक्षण, इसी प्रकार इस लोक की तरह परलोक भी सत्य है।' (श्लोक २५-२८)

वज्रायुध द्वारा इस प्रकार सटीक उत्तर पाकर चित्रशूल बोला, 'हे महानुभाव, आप ठीक कह रहे हैं, बिल्कुल ठीक। आपने मेरे मिथ्यात्व को दूर कर भवभ्रमण से मेरा उद्धार किया है। आपने मुझ पर पिता और तीर्थंकर-सा उपकार किया है। मैं चिर-काल से मिथ्यात्वी था। द्वेष के वशीभूत होकर आने पर भी आपके साक्षात्कार से मैं उपकृत हुआ हूं। आप मुझे सम्यक्त्व प्रदान करें कारण महान पुरुषों का सान्निध्य कभी वृथा नहीं होता।'

(श्लोक २९-३१)

विवेकशील वज्रायुध ने उसे धर्म का स्वरूप समझा कर सम्यक्त्व में स्थित किया। कारण वे भावी तीर्थंकर के पुत्र थे। चित्रशूल फिर बोला, 'कुमार, आज से मैं आपका आज्ञावाही हूं। आप मुझसे कुछ प्रार्थना करें।' वज्रायुध बोले, 'मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूं आप अविचल सम्यक्त्व में स्थित रहें।' देव बोले, 'यह तो मेरे हित में है। आप अपने लिए कुछ मांगें ताकि मैं आपके ऋण से मुक्त हो सकूँ।' वज्रायुध बोले, 'वही मेरी सेवा होगी अन्य कुछ नहीं।' तब चित्रशूल निष्कांक्षी वज्रायुध को कुछ दिव्य अलङ्कार देकर विदा हुआ। (श्लोक ३२-३६)

चित्रशूल ईशानेन्द्र की सभा में लौटकर बोला, आपने वज्रायुध की जो प्रशंसा की वह बिल्कुल ठीक थी, वह उसके योग्य है। वह भविष्य में तीर्थंकर होगा। (श्लोक ३७-३८)

देवताओं की-सी ऋद्धि का भोग करते हुए वज्रायुध सांसारिक भोग में जीवन व्यतीत करने लगे। (श्लोक ३९)

एक दिन बसन्त में गणिका सुदर्शना ने वज्रायुध को बसन्त ऋतु का पुष्प संभार देते हुए कहा, 'महाराज, तरुणों का नर्मसखा, मीनकेतु के समर सचिव बसन्त का आज आविर्भाव हुआ है। जिन नगर-वधुओं को यौवन प्राप्त हुआ है वे झूले में झूल रही हैं और उनकी सखियां उनके पति का नाम पूछ रही हैं। मुग्धाएँ भी पुष्प चयन कर पुष्पधनु की पूजा कर रही हैं और लज्जा परित्याग कर दूती का कार्य कर रही हैं। बसन्त की शक्ति ऐसी ही है। अनङ्ग को जगाने के लिए चारण की तरह कोयल कुहू-कुहू और भ्रमर गुञ्जार

कर रहे हैं। तरुण पुष्पधन्वा के गौरव में पुष्पों का कर्णाभरण कण्ठमाला और भुजाओं में अंगद धारण कर रहे हैं। महाराज, देवी लक्ष्मीवती मेरे माध्यम से आपको सूचित कर रही हैं वसन्त, बसन्त-सखा के रूप में आविर्भूत हुआ है। नन्दन वन-से सुरनिपात उद्यान में जाकर उनकी बसन्त की नवीन शोभा देखने की इच्छा हुई है।' (श्लोक ४०-४७)

'ऐसा ही होगा' कहकर राजा तत्क्षण अनुचरों सहित अनंग के निवास रूप उस उद्यान में गए। नक्षत्र जैसे चन्द्र का अनुगमन करते हैं वैसे ही लक्ष्मीवती आदि सात सौ पत्नियों ने उनका अनुसरण किया। उनके संग राजा लताओं की तरह नत होकर कभी सीधे खड़े होकर उस उद्यान में भ्रमण करने लगे। छाया-तरुओं की पत्रावलियाँ सघन रूप से मिल जाने के कारण वे छत्र-से लग रहे थे। पुष्पों के विकसित हो जाने के कारण मानो वहाँ सुगन्ध का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो गया था। पुष्पों की केशर झरने से वापियों का जल मलिन हो गया था। फल-भार से वृक्षों की शाखाएँ भूमि का स्पर्श कर रही थीं। भ्रमण से क्लान्त होकर, फिर अन्तः पुरिकाओं के भी क्लान्त हो जाने के कारण वज्रायुध जलक्रीड़ा के लिए प्रियदर्शन नामक सरोवर के पास गए। क्लान्ति अपसारण के लिए उन्होंने पत्नियों सहित नन्दीश्वर द्वीप के जलाशय-से सुन्दर उस जलाशय में प्रवेश किया। पार्वत्य नदी में गजराज जैसे क्रीड़ा करता है वैसे ही वज्रायुध अपनी पत्नियों के साथ जलक्रीड़ा करने लगे। जलक्रीड़ा में उत्क्षिप्त जलकणों और मुक्तामाला की मुक्ता में कोई अन्तर ही नहीं रहा। अन्तःपुरिकाओं के मुख-कमल और स्वर्ण-कमलों का यह मिलन दीर्घ दिनों के पश्चात् बान्धव-मिलन-सा प्रतिभासित होने लगा। अन्तःपुरिकाओं द्वारा उत्क्षिप्त जल और पिचकारी-सा छोड़ा मुख-जल मानो पुष्पायुध के आयुध में परिणत हो गया था। सुन्दरियों की लहराती हुई वेणियों ने मीन केतु की शोभा धारण कर रखी थी। जलक्रीड़ा से क्लान्त होकर जब वे तट पर विश्राम कर रही थीं तो वे जलदेवियों-सी लग रही थीं। सुन्दरियों के नेत्रों में जलकण गिर जाने से वे रक्तवर्ण हो रहे थे मानो प्रतिस्पर्द्धा रक्तकमलों का उन्होंने रूप धारण कर लिया था। हस्तियों के मदस्राव से पार्वत्य नदी का जल जैसे सुगन्धित हो जाता

है वैसे ही मृगनयनियों का कस्तूरी विलेपन धुल जाने से वह सरोवर-जल सुगन्धित हो गया था। वज्रायुध जब इस प्रकार जलक्रीड़ा में मग्न थे उस समय उनके शत्रुगण मानो एक प्रकार निर्भय हो गए थे। (श्लोक ४८-६४)

उनके पूर्व जन्म का शत्रु दमितारि का जीव नाना भव भ्रमण कर विद्युद् द्रष्टा नामक एक देव रूप में उत्पन्न हुआ था। वह उस समय वहाँ आया और वज्रायुध को देखकर पूर्व जन्म का क्रोध उद्दीप्त हो जाने से देखूँ यह कैसे बचता है कहता हुआ वज्रायुध और अन्तःपुरिकाओं पर एक मुट्ठी अनाज की तरह उन्हें पीस डालने के लिए एक पहाड़ उठाकर फेंका। महावत जैसे हस्ती को बाँधता है उसी प्रकार उस दुष्ट ने उनके पैरों को वरुण पाश की तरह इन्द्रजाल के पाश से बाँध दिया। वज्रायुध ने वज्री जैसे वज्राघात से पहाड़ को चूर-चूर कर देता है उसी प्रकार मुष्ठि प्रहार से उस पहाड़ को चूर-चूर कर दिया। शेषनाग जैसे पाताल से निकलते हैं उसी प्रकार पत्नियों सहित वे महाबाहु फिर उस सरोवर से निकले। (श्लोक ६५-७०)

महाविदेह में सद्यजात जिनेश्वर की वन्दना कर शक्र उस समय नन्दीश्वर द्वीप में अर्हत् पूजा करने जा रहे थे। उन्होंने वज्रायुध को सरोवर से निकलते देख इस जन्म में चक्रवर्ती होंगे और भविष्य में तीर्थंकर ऐसा सोचकर उनकी उपासना की। कारण भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भी अतीत तीर्थंकर की तरह ही वन्दनीय होते हैं। आप भाग्यवान हैं। जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आप सोलहवें तीर्थंकर होंगे' ऐसा कहकर वे चले गए। वज्रायुध भी स्वपत्नियों सहित मनोमत क्रीड़ा कर उन्हें लिए अनुचरों सहित नगर को लौट गए। (श्लोक ७१-७४)

लौकान्तिक देवों से उद्‌बुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए क्षेमंकर ने वज्रायुध को सिंहासन पर बैठाया। एक वर्ष तक वर्षीदान देकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली और अभिग्रह कर कठिन तपस्या करने लगे। इस प्रकार घाती कर्मों के क्षय हो जाने से उन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ और इन्द्र ने आकर केवल ज्ञान उत्सव मनाया। समवसरण रचित हो जाने पर यथा स्थान बैठे वज्री, वज्रायुध और अन्य अन्य को उन्होंने देशना दी। देशना सुनकर बहुत

से लोगों ने मुनिधर्म ग्रहण कर लिया। फिर वज्रायुध आदि स्व-स्व स्थान को लौट गए। (श्लोक ७५-७९)

ठीक उसी समय अस्त्रशाला के अध्यक्ष ने आकर सानन्द वज्रायुध से कहा—'अस्त्रागार में चक्र उत्पन्न हुआ है।' तब वज्रायुध ने महा धूम-धाम से चक्र और अन्य तेरह रत्नों की पूजा की। चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए उन्होंने वैताढ्य पर्वत और छः खण्ड मङ्गलावती पर विजय प्राप्त की। कुमार सहस्रायुध को युवराज पद पर अभिषिक्त कर पृथ्वी के द्वितीय रक्षक के रूप में उन्हें नियुक्त किया। (श्लोक ८०-८३)

एक दिन वज्रायुध जब सामानिक देवों सहित इन्द्र की तरह राजन्य, सामन्त, मन्त्री और सेनापति से परिवृत हुए स्व-राज्यसभा में बैठे थे उसी समय एक तरुण विद्याधर आकाश से उतरा और हस्ती द्वारा आहत वृक्ष की तरह काँपते-काँपते मैनाक जैसे समुद्र की शरण ग्रहण करता है उसी प्रकार विपन्नों के आश्रय-स्थल महाराज वज्रायुध के निकट गया। ठीक दूसरे ही क्षण एक सर्व-सुलक्षणा रूपवती विद्याधर कन्या मानो वह मूर्त्तिमती विद्या देवी हो हाथ से ढाल-तलवार लिए उपस्थित हुई। वह चक्रवर्ती के समीप जाकर बोली, 'महाराज, इस दुर्वृत्त को अपनी शरण से मुक्त करें ताकि मैं इसे इसके दुष्कर्म का दण्ड दे सकूँ।' (श्लोक ८४-८८) ठीक इसके बाद में यम के दूत-सा रक्तचक्षु एक क्रुद्ध विद्याधर हाथ में मुद्गर लिए प्रकट हुआ और वज्रायुध से बोला—'उसके दुष्कृत्य का विवरण सुनिए जिसके लिए उसकी हत्या करने मैं यहाँ उपस्थित हुआ हूं। इस जम्बूद्वीप में विदेह क्षेत्र के अलङ्कार स्वरूप सुकच्छ नामक एक विजय है। उस विजय में वैताढ्य पर्वत के अग्रभाग में नगर-श्रेणियों में चूड़ामणि और स्वर्ग-ऐश्वर्य के शुल्क रूप शुल्कपुर नामक एक नगर है। उस नगर में उभय कुल की कीर्ति की रक्षा करते हुए विद्याधर राज शुल्कदत्त और उनकी रानी यशोधरा रहती थी। मैं उनका पुत्र पवनवेग हूं। नानाविध विद्या अर्जन कर अब मैं तरुण हुआ हूं। (श्लोक ८९-९४)

'उसी वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलङ्कार रूप किन्नरगीत नामक नगर में दीप्तचूल नामक एक विद्याधरराज रहते हैं उनकी पत्नी ने चन्द्रकीर्ति सुकान्ता नामक एक सर्वसुलक्षणयुक्त

कन्या को जन्म दिया। मैंने उसी से विवाह किया है। मेरे भी चारित्र और रूप सम्पन्न एक कन्या हुई। वही कन्या अभी आपके सम्मुख खड़ी है। यह मणिसागर पर्वत पर प्रज्ञप्तिका नामक विद्या की आराधना कर रही थी। ठीक उसी समय इस दुष्ट ने इसका अपहरण कर लिया। विद्या के प्रभाव से मेरी कन्या द्वारा प्रताड़ित होकर यह दुराचारी कहीं भी आश्रय न पाकर आपके आश्रय में आया है। प्रज्ञप्तिका विद्या की उपासना के लिए पूजा द्रव्य लेकर जब मैं वहाँ गया और उसे वहाँ नहीं पाया तब आभोगिनी विद्या के प्रयोग से समस्त तथ्य अवगत कर मैं यहाँ आया हूं। हे दुराचारियों को दण्ड देने वाले, आप इस दुराचारी का परित्याग करें। इस मुद्गर के आघात से मैं उसे श्रीफल की भाँति दो खण्ड कर यम लोक भेज दूँगा।' (श्लोक ९५-१०३)

अवधिज्ञान से सब कुछ जानकर राजा वज्रायुध उससे बोले—'महात्मन्, धैर्य धरिए। इसके पूर्वजन्म की कथा मैं आपको सुनाता हूं ध्यान से सुनिए।' (श्लोक १०४)

'इस जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र के विंध्यपुर नगर में विंध्यदत्त नामक एक राजा थे। उनके औरस से उनकी पत्नी सुलक्षणा के गर्भ से सर्वसुलक्षणयुक्त नलिनकेतु नामक पुत्र हुआ। उस नगर में बन्धुरूपी कमल के लिए सूर्यरूप श्रेष्ठि-कुल-तिलक धर्ममित्र नामक एक श्रेष्ठी निवास करते थे। उनकी पत्नी श्रीदत्ता के गर्भ से दत्त नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। दत्त की पत्नी का नाम था प्रभंकरा। वह दिव्य रूप और लावण्यवती थी। (श्लोक १०५-१०८)

'एक दिन बसन्त ऋतु में रति और मदन की तरह वह पत्नी सहित उद्यान में क्रीड़ा करने गया। राजा का पुत्र नलिनकेतु भी उसी समय उद्यान में आया। प्रभंकरा के रूप और लावण्य को देखकर वह बेसुध-सा होकर सोचने लगा इसका सौन्दर्य जितना प्रशंसनीय है उतना ही प्रशंसनीय है वह जो उसके साथ क्रीड़ा करे। इस प्रकार मदन के वशीभूत होकर उसने प्रभंकरा का अपहरण कर लिया। तदुपरान्त नलिनकेतु उसके साथ यथेच्छ विहार करने लगा। उधर विरह वेदना में कातर बना दत्त प्रभंकरा को याद करते हुए उन्मादी की भाँति उस उद्यान में घूमता रहता। इसी भाँति घूमते हुए एक दिन उसने वहाँ सुमनस नामक एक मुनि को

देखा। नेत्रों के लिए काजल जैसे अमृत है उसी प्रकार घाती कर्मों के क्षय हो जाने से सुमनस मुनि ने उसी समय अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाला केवल-ज्ञान प्राप्त किया। देव केवल-ज्ञान महोत्सव मनाने वहाँ आए। मुनि का देशनामृत पान कर दत्त अपना पूर्व दुःख भूल गया। उसने समस्त इन्द्रियों को संयमित कर दया धर्म का दीर्घकाल तक पालन किया। शुभ ध्यान में मृत्यु पाने के कारण वह जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में सुकच्छ विजय में वैताढ्य पर्वत स्थित सुवर्णतिलक नगर में विद्याधर राज महेन्द्रविक्रम और रानी अनिल-वेगा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। महेन्द्रविक्रम ने उसका नाम रखा अजितसेन। यथा समय महेन्द्रविक्रम ने समस्त विद्याएँ उसे प्रदान कीं। कारण वे विद्याएँ ही उनकी श्रेष्ठ सम्पदा थीं। बड़ा होकर अजितसेन ने विद्याधर कन्या से विवाह किया और उसके साथ आकाश में, पर्वतों पर, अरण्यों में नानाविध क्रीड़ाएँ करने लगा।'

(श्लोक १०९-१२२)

विंध्यदत्त की मृत्यु के पश्चात् विंध्यपुर में तार्क्ष्यकेतु-सा गौरवशाली नलिनकेतु राजा हुआ और प्रमादी देवों की तरह दत्त की अपहृत पत्नी प्रभंकरा के साथ विषयसुख भोग करने लगा। एक दिन देवी सहित वैमानिक देव जैसे विमान में आरोहण करते हैं उसी प्रकार प्रभंकरा सहित वह प्रासाद शिखर पर चढ़ा। सहसा उसने आकाश में शीलांजन धातु अपहरणकारी दस्यु की तरह इतस्ततः विचरण करते दिक्‌हस्ती से पर्वताकृति मेघों को उदित होते देखा। वज्रपात के शब्द से दिक् समूह काँप रहा था। विद्युत आलोक से आकाश आलोकित हो रहा था। और उसी मध्य एक इन्द्रधनुष उदित हुआ। उस दृश्य को देख कर वह आनन्दित हुआ। किन्तु; दूसरे ही क्षण उसने देखा प्रबल वायु वेग से वे मेघ नौका की भाँति इतस्ततः छिन्न-भिन्न हो गए, लगा मानो वह इन्द्रजाल देख रहा था। नलिनकेतु ने जब एक पल के अन्दर इस प्रकार मेघ को एकत्र और छिन्न-भिन्न होते देखा तो संसार से विरक्त होकर वह सोचने लगा आकाश में जैसे मेघ एक मुहूर्त्त में उदित हुए और दूसरे मुहूर्त्त में ही छिन्न-भिन्न हो गए मनुष्य जीवन का सुख भी ऐसा ही है। एक ही जीवन में वह कभी युवक कभी वृद्ध, धनी-दरिद्र, प्रभु-भृत्य, स्वस्थ और रुग्न हो जाता है। हाय! इस संसार में सब

कुछ क्षणिक है।' (श्लोक १२३-१३१)

'ऐसा चिन्तन कर उसने अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाया एवं स्वयं तीर्थंकर क्षेमंकर से प्रव्रजित हो गया। कठोर तपस्या और ध्यान से घाती कर्मों को क्षय कर उसने यथासमय केवलज्ञान प्राप्त किया। इसके अगले मुहूर्त्त में ही आयुष्यादि चार धाती कर्मों को भी क्षय कर सिद्ध लोक को गमन किया।' (श्लोक १३२-१३४)

'स्वभाव से ही सुशीला और स्वाधीनचेता प्रभंकरा भी साध्वी सुव्रता के पास रहकर चन्द्रायण व्रत पालन करने लगी। उस तपस्या के फल से उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। उसी प्रभंकरा ने आपकी कन्या शान्तिमती के रूप में जन्म लिया है। दत्त का जीव विद्याधर अजितसेन हुआ है और पूर्व जन्म के प्रेम के कारण उसने इसका अपहरण किया। अतः क्रुद्ध मत होइए। क्रोध भूलकर आप उसे एक भाई की तरह क्षमा कर दीजिए। दीर्घकालीन कषाय नरक ही ले जाता है, अन्य कहीं नहीं।' (श्लोक १३५-१३८)

बज्रायुध की बात सुनकर वे तीनों ही वैर से मुक्त होकर मुक्ति के आग्रही बने।' (श्लोक १३९)

चक्रवर्ती फिर बोले—'तुम तीनों ही शीघ्र तीर्थंकर क्षेमंकर से दीक्षित होनेवाले हो। शान्तिमती रत्नावली तप करेगी और मृत्यु के पश्चात ईशान लोक में ईशानेन्द्र के रूप में जन्म ग्रहण करेगी। ठीक उसी समय पवनवेग और अजितसेन भी घाती कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। ईशानेन्द्र आकर उनका केवलज्ञान-महोत्सव बहुत धूम-धाम से सम्पन्न करेंगे। और स्व-शरीर (मृत देह) की पूजा करेंगे। कालक्रम से ईशानेन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर मानव रूप में जन्म ग्रहण कर केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को जाएँगे।' (श्लोक १४०-१४४)

वहाँ उपस्थित सभासदों ने जब चक्रवर्ती को त्रिकाल का विवरण देते सुना तो आश्चर्य से उनके नेत्र विस्फारित हो गए। राजा पवनवेग, उनकी कन्या शान्तिमती और विद्याधर अजितसेन चक्री को नमस्कार कर बोले, देव, आप हमारे पिता, गुरु, प्रभु और जगन्नाथ हैं। परस्पर हिंसा करने वाले मनुष्यों में आपके सिवाय हमारी रक्षा कौन करेगा? एक दूसरे की हत्या कर हम नरक जाते; किन्तु आपके वचन हमें नरक-द्वार से लौटा लाए हैं। अतः

हे प्रभु, संसार भय से भीत होकर हम अर्हत् क्षेमंकर के आश्रय में जा रहे हैं। आज्ञा दीजिए। (श्लोक १४५-१४९)

ऐसा कहकर उन्होंने चक्रवर्ती की आज्ञा ली और तीर्थंकर क्षेमंकर के निकट जाकर वे दीक्षित हो गए। इन शान्तमना ने सोचा उनका कृश शरीर उन्हें परित्याग कर जा सकता है इस भय से उन्होंने दीर्घकाल तक घोर तप किया। शान्तिमती मृत्यु के पश्चात् ईशानेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुई और उसी मुहूर्त्त में उन दोनों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ईशानेन्द्र वहाँ आए, उनका केवल ज्ञान उत्सव कर स्व-देह का पूजन किया। ईशानेन्द्र भी वहाँ से च्यवकर मनुष्य बने और मुक्ति प्राप्त की। अन्य दोनों ने आयुष्य शेष होने पर उसी जीवन में मोक्ष प्राप्त किया। (श्लोक १५०-१५४)

सहस्राक्ष इन्द्र और जयन्त स्वर्ग को जैसे संचालन करते हैं उसी प्रकार वज्रायुध और सहस्रायुध ने पृथ्वी पर शासन किया। एक दिन सहस्रायुध की पत्नी जयना ने रात्रि के समय स्वप्न में किरण विच्छुरणकारी एक स्वर्ण शक्ति देखी। दूसरे दिन सुबह जयना ने यह बात अपने पति से कही। वे बोले—'देवी, तुम अवश्य ही एक महाशक्तिशाली पुत्र को जन्म दोगी।' उसी समय जयना ने एक दुर्वह भ्रूण धारण किया और यथा समय पृथ्वी जैसे शस्य उत्पन्न करती है उसी प्रकार एक पुत्ररत्न को उत्पन्न किया। जयना ने जैसा स्वप्न देखा था उसी के अनुसार माता-पिता ने पुत्र का नाम रखा कनकशक्ति। शैशव अतिक्रम कर कनकशक्ति ने जब यौवन प्राप्त किया तब उसने सुमन्दिर नगरी के राजा मेरुमालीन और रानी मल्ला की रूप और लावण्यवती कन्या कनकमाला के साथ विधिवत् विवाह किया। (श्लोक १५५-१६१)

ऐश्वर्य सम्पन्न श्रीमार नगरी में अजितसेन नामक एक राजा थे। रानी प्रियसेना के गर्भ से उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई। नाम रखा वसन्तसेना। वसन्तसेना कनकसेना की प्रिय सहेली थी। वसंतसेना के पिता ने उसके उपयुक्त वर प्राप्त न होने से स्वयंवरा रूप में उसे कनकशक्ति के पास भेजा। कनकशक्ति ने विधिपूर्वक उससे विवाह किया। इससे वसन्तसेना के पितृस्वसा के पुत्र के मन को भयंकर आघात पहुंचा और वह क्रोधित हो उठा।

(श्लोक १६२-१६५)

एक दिन कनकशक्ति जब उद्यान में इधर-उधर घूम रहा था तब उसने एक व्यक्ति को मुर्गे की तरह उड़ते और गिरते देखा। कनकशक्ति ने उससे पूछा—'आप क्यों पक्षी की तरह उड़ते हैं और गिर जाते हैं ? उस व्यक्ति ने जवाब दिया—यद्यपि यह गोपनीय है फिर भी आप जैसे महद् व्यक्ति को कहने में कोई आपत्ति नहीं है। फिर यह बताना भी मेरा कर्त्तव्य है। मैं विद्याधर हूं। कार्यवश वैताढ्य पर्वत से इधर आया था। लौटते समय इस उद्यान के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर मैं यहाँ उतरा और इसके सौन्दर्य का उपभोग करने लगा; किन्तु पुनः जाने के समय जब मैंने आकाशगामिनी विद्या का स्मरण किया तो देखता हूं, उसकी एक पंक्ति भूल गया हूं। अतः डैनों में डोरा बँधे पक्षी की तरह मैं उड़ता हूं और गिरता हूं।'

(श्लोक १६६-१७१)

कनकशक्ति बोला—'अन्य के सम्मुख विद्या उच्चारण करने में यदि कोई बाधा नहीं है तो आप मेरे सामने उच्चारण कीजिए।'

(श्लोक १७२)

विद्याधर ने जवाब दिया—'साधारण आदमी के सामने विद्या उच्चारण निषिद्ध है; किन्तु आप जैसे महान व्यक्ति के सामने उच्चारण करना तो क्या विद्या प्रदान करना भी कर्त्तव्य है।' ऐसा कहकर उसने एक पंक्तिहीन विद्या का उनके सम्मुख उच्चारण किया। कनकशक्ति ने उस पंक्ति से सामंजस्य रख अन्य पंक्ति बोली। उस पंक्ति से विद्याधर को विद्या पुनः प्राप्त हो गई और उसने कनकशक्ति को वह विद्या प्रदान की। विवेकशील उपकृत होने पर उपकार का प्रतिदान देते ही हैं। तदुपरान्त विद्याधर उन्हें नमस्कार कर चला गया और कनकशक्ति विद्या अधिगत कर विद्याधर हो गया। बसन्तसेना के पितृस्वसा के पुत्र को जो क्रोध आया था इसीलिए वह उसका कुछ नहीं कर सका। अपमानित होकर उसने आहार जल का परित्याग कर मृत्यु को प्राप्त किया और हिमचूल नामक देव रूप में उत्पन्न हुआ। (श्लोक १७३-१७८)

अपनी पत्नी वसन्तसेना और कनकमाला के साथ कनकशक्ति विद्या के प्रभाव से वायु की भाँति समस्त पृथ्वी पर अप्रतिहत रूप में विचरण करने लगा। एक दिन इसी भाँति स्वच्छन्द विचरण करता हुआ वह हिमवत पर्वत पर आया। वहाँ उसने चारण मुनि

विपुलमति को देखकर उनके चरणों की वन्दना की। मूर्तिमन्त तपः-प्रभाव सी उनकी देह स्वर्णवर्णी थी। अनुराग को क्षीण कर उन्होंने उस पर विजय पाई थी। धर्मलाभ कह कर उन्होंने देशना दी जो कि संसार रूपी दावानल को बुझाने में वर्षा के जल-सी थी। वह देशना सुनकर कनकशक्ति ने अपनी दोनों पत्नियों और राज्य को परित्याग कर मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। (श्लोक १७९-१८३)

विवेकशील और विवेकमना रानियाँ भी मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा से आचार्य विमलमति से दीक्षित हो गईं। इधर-उधर विचरण करते हुए कनकशक्ति एक दिन सिद्धिपद पर्वत पर पहुंचे और एक रात्रि की दृढ़ प्रतिमा धारण की। क्रूरमना हिमचूल ने जब उनको स्तम्भ की भाँति निश्चल खड़े देखा तो उन पर आक्रमण किया। उसे आक्रमण करते देखकर क्रुद्ध हुए विद्याधरों ने हिमचूल को भय दिखाकर प्रताड़ित कर दिया। मनुष्य अच्छे का ही पक्ष लेता है। प्रतिमा शेषकर मानों पुंजीभूत तप ही हो ऐसे कनकशक्ति वहाँ से रत्नसंचय नगर गए। वहाँ सुरनिपात उद्यान में पर्वत की भाँति स्थिर होकर पुनः एक रात्रि की प्रतिमा धारण की। उसी अवस्था में क्षपक श्रेणी में आरोहण कर घाती कर्मों को क्षय कर उन्होंने सर्व प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। देवों ने आकर उनका केवलज्ञान-महोत्सव मनाया। यह देखकर भयभीत बने हिमचूल ने कनकशक्ति की शरण ग्रहण की। वज्रायुध भी उनका केवल ज्ञान महोत्सव मनाकर नगर लौट गया। (श्लोक १८४-१९२)

एक दिन भगवान् क्षेमङ्कर कोटि-कोटि देव, असुर और मनुष्यों से परिवृत होकर समवसरण के लिए वहां उपस्थित हुए। अनुचरों ने चक्रवर्ती वज्रायुध को आकर निवेदित किया—'देव, तीर्थङ्कर भगवान् क्षेमङ्कर समवसरण के लिए यहां आकर अवस्थित हैं।' यह सुनकर संवादवाहक को साढ़े बारह करोड़ सुवर्णदान कर वे अनुचरों सहित क्षेमङ्कर के समवसरण में उपस्थित हुए। उन्हें तीन बार प्रदक्षिणा देकर विधिवत् वन्दना कर वे शक्र के पीछे जाकर बैठ गए और उनकी देशना सुनी। (श्लोक १९३-१९६)

देशना के अन्त में चक्री वज्रायुध ने उन्हें वन्दना कर कहा—'भगवन्, दुस्तर संसार-सागर के भय से मैं भीत हो गया हूं। सहस्रायुध को सिंहासन पर बैठाकर जब तक मैं दीक्षा लेने नहीं आऊँ

आप यहीं अवस्थान करें। 'शुभ कर्म में विलम्ब मत करो' इस कथन से उद्‌बुद्ध बने वज्रायुध नगर लौटे और सहस्रायुध को सिंहासन पर बैठाया। सहस्रायुध ने उनका प्रव्रज्या महोत्सव मनाया। तत्पश्चात् वे शिविका में बैठकर क्षेमङ्कर केवली के निकट पहुंचे। चार हजार रानियां, मुकुटबद्ध राजाओं एवं सात सौ पुत्रों सहित उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। नाना प्रकार के अभिग्रह ग्रहण कर परिषहों को सहन कर प्रव्रजन करते हुए राजर्षि वज्रायुध सिद्धि पर्वत पर गए। 'मैं सब प्रकार के परिषहों को सहन करूंगा' कहकर वे महामना विरोचन शिखर शीर्ष पर एक वर्ष के लिए प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए। (श्लोक १९७-२०३)

अश्वग्रीव के पुत्र मणिकुम्भ और मीनकेतु ने दीर्घकाल तक भव भ्रमण कर अज्ञान तप करते हुए असुर रूप में जन्म ग्रहण किया। स्वेच्छा से भ्रमण करते हुए वे महामुनि जहां प्रतिमा में स्थित थे वहां आए। अमिततेज के बैर के कारण भैंसा जैसे वृक्ष पर आक्रमण करता है उसी भांति उस महामुनि पर आक्रमण किया। सिंह बन कर छुरे-से तीक्ष्ण नाखूनों से उनकी देह को दोनों ओर से चीर डाला। हस्ती बनकर सूंड़ से क्षन्तर वेदी की तरह उन पर आक्रमण किया, दांतों से उनकी देह को क्षत-विक्षत कर डाला। असह्य पदाघात से उनको पीस डाला फिर सर्प बनकर शकट की धुरा की तरह उनकी देह को आवेष्टित कर दोनों ओर लटके रहे। राक्षस बनकर छुरी-से तीक्ष्ण दांतों से उनकी देह को काट-काट डाला। जब वह महामुनि को इस प्रकार पीड़ित कर रहे थे उसी समय वैमानिक देवों की पत्नियां महामुनि की उपासना के लिए स्वर्ग से उतरीं। रम्भा आदि देवियां दूर से ही इस प्रकार मुनि को पीड़ित होते देखकर बोल उठीं—अरे ओ दुष्ट, तू यह क्या कर रहा है?' फिर वे शीघ्रतापूर्वक आकाश से उतरीं। उन्हें उतरते देख वे भीत एवं त्रस्त होकर वहां से भाग छूटे। सूर्यालोक में उल्लू आखिर कब तक रह सकता है? रम्भा आदि देवियां इन्द्र-से महामुनि के सम्मुख अभिनय द्वारा अपनी भक्ति निवेदित करने लगी। भक्ति निवेदन से स्वयं को कृतकृत्य समझकर वे अपने-अपने निवास को लौट गईं। एक वर्ष की प्रतिमा समाप्त कर अनन्य संयम और व्रतयुक्त महामुनि पृथ्वी पर सर्वत्र विचरण करने लगे। (श्लोक २०४-२१७)

सहस्रायुध मुकुटबद्ध राजाओं से सेवित होकर परिणीता पत्नी की तरह राज्यश्री का भोग करने लगे। (श्लोक २१८)

एक दिन नानाविध मुनियों के गिरि गणधर पिहितास्रव उस नगर में आए। भक्ति के कारण सहस्रायुध उन्हें वन्दन करने गए और कानों के लिए अमृत तुल्य उनके प्रवचन सुने। यह संसार इन्द्रजाल-सा अनुभूत होने से अपने पुत्र शतबली को सिंहासन पर बैठाकर पिहितास्रव मुनि से दीक्षित हो गए और अन्तर एवं बाह्य तप में निरत होकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। (श्लोक २१९-२२२)

विचरण करते हुए एकदिन बुध जैसे चन्द्र से मिलता है उसी प्रकार सहस्रायुध वज्रायुध से मिले। पिता और पुत्र तप और ध्यान साधना में निरत हुए। एक साथ उपसर्गों को सहन कर देहबोध को भूले हुए तितिक्षा सम्पन्न बने ग्राम नगर अरण्यादि में विचरण करते हुए दीर्घ दिनों को वे एक दिन की तरह व्यतीत करने लगे। अन्त में उन्होंने ईषद्प्राग्भार पर्वत पर आरोहण कर पादोपगमन अनशन व्रत ग्रहण कर लिया। आयुष्य पूर्ण होने पर वे तृतीय ग्रैवेयक में महाऋद्धि सम्पन्न अहमिन्द्र रूप में १५ सागरोपम की आयु प्राप्त कर उत्पन्न हुए। (श्लोक २२३-२२७)

तृतीय सर्ग समाप्त

चतुर्थ सर्ग

जम्बूद्वीप के मध्यस्थित पूर्व विदेह के पुष्कलावती विजय में सीता नदी के तट पर सरोवर के मध्यस्थित कमल की भाँति रत्नमय पुण्डरीकिनी नामक एक नगरी थी। उस नगरी में मृत्युलोक के इन्द्र-से शत्रुओं के मनोरथ भग्न करनेवाले, वीरों में अग्रगण्य घनरथ नामक एक राजा राज्य करते थे। समुद्र के गंगा और सिन्धु की तरह उनके दो पत्नियाँ थीं प्रियमती और मनोरमा। वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक विमान से च्युत होकर रानी प्रियमती के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के शेष याम में उसने स्वप्न में एक मेघपुञ्ज जो कि वज्र और विद्युत्पात सहित वर्षण कर रहा था अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा। सुबह उसने स्वप्न-कथा राजा से कही। वे बोले—'तुम्हारा जो पुत्र होगा वह मेघ की तरह पृथ्वी का सन्ताप

हरण करेगा।' (श्लोक १-७)

सहस्रायुध का जीव ग्रैवेयक विमान से च्युत होकर मनोरमा के गर्भ में आया। उसने स्वप्न में घण्टिकायुक्त ध्वज-पताका शोभित रथ को अपने मुख में प्रवेश करते देखा। उसने भी दूसरे दिन सुबह राजा से यह बात कही—राजा बोले—'तुम्हारा पुत्र महारथी एवं महान योद्धा होगा।' (श्लोक ८-१०)

यथा समय दोनों ने सूर्य और चन्द्र की भाँति क्रमशः दो पुत्रों को जन्म दिया। एक शुभ दिन राजा ने स्वप्न दर्शन के अनुसार प्रियमती के पुत्र का नाम रखा मेघरथ और मनोरमा के पुत्र का नाम रखा दृढ़रथ। मेघरथ और दृढ़रथ परस्पर स्नेहशील होकर वासुदेव और बलदेव की तरह बड़े होने लगे। क्रमशः उन्होंने मदन निलय, तरुणियों को आकर्षित करने में मन्त्र रूप और सौन्दर्य का उत्सव यौवन प्राप्त किया। (श्लोक ११-१५)

सुमन्दिरपुर के राजा निहतशत्रु के मन्त्री एक दिन घनरथ की राजसभा में आए और घनरथ को नमस्कार कर बोले—'देव, विभिन्न गुण युक्त आपका यश यूथी फूल की गन्ध की तरह या चन्द्र की चन्द्रिका की तरह किसके हृदय को आनन्दित नहीं कर रहा है। दूर रहने पर भी आपके मित्र निहतशत्रु आपसे सम्बन्ध स्थापित कर आपके स्नेह के आकांक्षी हैं। राजा निहतशत्रु के त्रिलोक की साररूपा तीन कन्याएँ हैं। वे उनमें से दो को कुमार मेघरथ को एवं तीसरे को कुमार दृढ़रथ को देना चाहते हैं। आप परस्पर बान्धव बनिए।' (श्लोक १६-२१)

घनरथ ने इस सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए कहा—'हमारी मित्रता इस सम्बन्ध में दृढ़ होगी। पार्वत्य नदी की तरह परस्पर मिलित होकर आर्यों के बन्धुत्व क्रमशः वर्द्धित होते हैं।' (श्लोक २२)

मन्त्री बोले—'महाराज, तब उत्तम नैमित्तिकों को बुलाकर शुभ कार्य का शुभ मुहूर्त स्थिर करिए। कामदेव-से रूपवान राजकुमारों को हमारे राज्य में भेजिए। विवाह के बहाने आपको सम्मानित करने का हमें अवसर दीजिए। (श्लोक २३-२४)

नैमित्तिकों के शुभ दिन निश्चित करने पर कुमारों का जाना स्वीकृत कर घनरथ ने मन्त्री को विदा दी। मन्त्री ने आनन्द-चित्त शीघ्र सुमन्दिरपुर लौटकर यह शुभ समाचार देकर निहतशत्रु को

आनन्दित किया। (श्लोक २५-२६)

राजा घनरथ ने मदन जैसे वसन्त सहित गमन करता है वैसे ही दृढ़रथ सहित मेघरथ को सुमन्दिरपुर भेजा। सामन्त, नृपति, मन्त्री, सेनापति और सैन्य से परिवृत होकर राजाओं ने पार्वत्य नदी की तरह निर्बाध यात्रा की। दीर्घ पथ अतिक्रम कर उन्होंने राजा सुरेन्द्रदत्त के समुद्रसीमा-सी राज्य सीमा के पास छावनी डाली। वहां सुरेन्द्रदत्त द्वारा प्रेरित दूत मेघरथ के निकट आया और गर्वित भाव से बोला : (श्लोक २७-३०)

'सुरेन्द्र की तरह पराक्रमी हमारे महाराज सुरेन्द्रदत्त ने आपको यह आदेश दिया है कि आप हमारी राज्य सीमा में प्रवेश न करें। आप अन्य पथ से जाएँ। जिस पथ पर सिंह अवस्थान करता है मृगों का उस पथ से जाना उचित नहीं।' (श्लोक ३१-३२)

यह सुनकर मेघरथ हँसे और बोले—'यह पथ ही सीधा पथ है। तब इसका परित्याग हम क्यों करें? नदी गह्वरों को पूर्ण करती है; वृक्षों को उन्मूलित करती है और उच्च भूमि को निम्न भूमि में बदल देती है; किन्तु अपना पथ नहीं छोड़ती। अतः हम भी सीधे पथ से ही जाएँगे। तुम्हारा प्रभु सरल नहीं है, यदि उसमें शक्ति हो तो हमें रोके।' (श्लोक ३३-३५)

दूत शीघ्र लौटा और मेघरथ ने जो कुछ कहा था सब कुछ राजा सुरेन्द्रदत्त को निवेदित किया। उसकी बात सुनकर क्रोध से सुरेन्द्रदत्त का मुख तप्त ताम्रवर्ण-सा हो गया। एक हस्ती की चिंघाड़ सुनकर अन्य हस्ती चिंघाड़ उठते हैं वैसे ही उन्होंने युद्ध का नगाड़ा बजवाया। उनकी बृहद् सेना हस्ती, अश्व, पदातिक और रथी युद्ध के लिए उन्मुख हो गए। सेनाओं द्वारा बाहों पर ताल ठोकने से, धनुष की प्रत्यंचाओं के निर्घोष से, अश्व के ह्रेषारव से, रथों के घर्घर शब्दों से, हस्तियों के बृंहतिनाद से, ऊँटों की तीक्ष्ण आवाज से, गर्दभों की रासभ राग से, भेरी निर्घोष के मेघमन्द्र स्वर से पृथ्वी को बधिर करते हुए राजा सुरेन्द्रदत्त मेघरथ को युद्ध का अतिथि बनाने के लिए उसी मुहूर्त में सैन्यदल लेकर युद्ध-यात्रा को निकल पड़े। (श्लोक ३६-४१)

मेघरथ और दृढ़रथ भी जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करने के लिए रथ पर आरोहण करता है उसी प्रकार युद्ध के लिए जैत्र

नामक रथ पर चढ़े। उभय पक्षों के सैन्यदल द्वारा यन्त्र व हाथों द्वारा आकाश से उक्षिप्त अस्त्र रूपी मेघ से वेधनिका, बरछी, चक्र, बल्लम, गदा, मुद्गर और तीर—शर-निर्मित तीर, मूषिक पुच्छ तीर, लौह तीर आदि, प्रस्तर एवं लौहपिण्ड बरसाने लगे। तदुपरांत उभय पक्षों के सैन्यदल अतिशय निकट हो जाने से तलवारों का अनवरत युद्ध होने लगा जिससे खेचर रमणियों के लिए उस युद्ध को देखना प्रायः असम्भव हो गया। क्षेपणास्त्र से क्षेपणास्त्र भग्न हो गया, रथ से रथ इस भांति विदीर्ण हो गया मानो दो जलदानव समुद्र में युद्ध कर भग्न और विदीर्ण हो गए। कुमारों की सेना शत्रु सेना की अग्रगति से आंधी जैसे वृक्ष-समूहों को भग्न कर देती है उसी प्रकार भग्न हो गई। (श्लोक ४२-४७)

स्व अंगरक्षकों को भग्न होते देख क्रुद्ध महाबली राजकुमार ने हस्ती जैसे सरोवर में प्रवेश करता है उसी प्रकार शत्रु सेना के मध्य प्रवेश किया। शत्रु सेना को अब शर-जाल से मानो अन्धकार हो गया है ऐसे उद्वेलित समुद्र के सम्मुखीन होना पड़ा। हस्ती के द्वारा वेतस कुञ्ज जैसे विध्वस्त होता है उसी प्रकार अपनी सेना को विध्वस्त होते देखकर सुरेन्द्रदत्त युवराज सहित युद्ध में अग्रसर हुआ। सुरेन्द्रदत्त मेघरथ के साथ और युवराज दृढ़रथ के साथ युद्ध करने लगे। उन्होंने परस्पर एक दूसरे का अस्त्र भंग किया और क्षेपणास्त्र से क्षेपणास्त्र को। वे युद्ध क्षेत्र में चार दिक्पाल-से प्रतिभासित हो रहे थे। (श्लोक ४८-५२)

जांघों पर ताल ठोक कर एक दूसरे को भय दिखाकर विलक्षण मल्ल की तरह उन्होंने मल्ल युद्ध किया, उस समय वे इस प्रकार संश्लिष्ट हो गए कि लगा वे कुण्डलीकृत सांप हों। मल्ल युद्ध में उनकी महाबलशाली भुजाएँ एक साथ उत्तोलित होने से वे शृङ्गयुक्त गजदन्त पर्वत हो ऐसा भ्रम होने लगा। अन्त में मेघरथ और दृढ़रथ ने सुरेन्द्रदत्त और युवराज को वन्य हस्ती की तरह बन्दी बना लिया। सुरेन्द्रदत्त के राज्य में स्वराज्य की तरह आज्ञा प्रवर्तित कर आनन्दित मेघरथ और दृढ़रथ ने सुमन्दिरपुर की ओर प्रस्थान किया। (श्लोक ५३-५६)

निहतशत्रु ने आगे आकर कुमारों का स्वागत किया। आगत अतिथियों का स्वागत करना तो विशेष कर्त्तव्य होता ही है फिर

अतिथि भी तो वैसे ही थे। उन्होंने कुमारों का आलिंगन किया, उनका मस्तक चूमा। उस समय उन्हें अहमिन्द्र के अनुरूप सुख की अनुभूति हुई। सुदर्शनदत्त अपनी तिन ज्येष्ठ कन्या प्रियमित्रा और मनोरमा के साथ मेघरथ का एवं तृतीय छोटी कन्या का दृढ़रथ के साथ शुभ मुहूर्त में विवाह कार्य सम्पन्न किया। महा आडम्बर से यथाविधि विवाह सम्पन्न होने के पश्चात् दहेज सहित नितहशत्रु ने उन्हें विदा दी। वे भी अपनी नगरी की ओर प्रस्थित हो गए। राह में सुरेन्द्रदत्त और युवराज को उनका राज्य लौटाकर वे अपने नगर में प्रविष्ट हुए। (श्लोक ५७-६२)

प्रेम के कारण जिस प्रकार इन्द्र और उपेन्द्र एक स्थान में अवस्थित रहते हैं उसी प्रकार दीर्घबाहु मेघरथ और दृढ़रथ अपनी-अपनी पत्नियों सहित सुख भोग करने लगे। मेघरथ की पत्नी प्रियमित्रा ने नन्दीसेन को, मनोरमा ने मेघसेन को एवं दृढ़रथ की पत्नी सुमति ने रत्नों में रोहण की तरह एक पुत्र रथसेन को जन्म दिया। (श्लोक ६३-६५)

एक दिन जब घनरथ अन्तःपुर में यूथ परिवृत्त हस्ती की तरह स्व. पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू, और पौत्रादि से घिरे विनोद में समय व्यतीत कर रहे थे सुसेना नामक एक गणिका हाथ में एक मुर्गा लेकर वहाँ उपस्थित हुई और महाराज से निवेदन किया 'मेरा यह मुर्गा मुर्गों में सर्वोत्तम और मुर्गों का मुकुटमणि है। अन्य मुर्गों से यह कभी पराजित नहीं होता। यदि अन्य किसी का मुर्गा इसे पराजित कर सके तो मैं उसे एक लाख स्वर्ण मुद्रा दूँगी। यदि किसी के पास ऐसा मुर्गा है तो वह बाजी जीत ले।'

(श्लोक ६६-७०)

यह सुनकर युवराज्ञी मनोरमा बोली, महाराज, इस शर्त पर मेरा मुर्गा सुसेना के मुर्गे के साथ लड़ाई करेगा। घनरथ की सम्मति मिल जाने पर मनोरमा ने दासी से कहकर अपना मुर्गा बज्रतुण्ड को वहाँ मंगवाया और दोनों को आमने-सामने खड़ा कर दिया। प्रदर्शनी के पदातिक सैनिक की तरह ताल पर पैर फेंककर नृत्य करते-करते उन्होंने एक दूसरे पर आक्रमण किया। कभी उड़कर, कभी गिरकर, कभी आगे बढ़कर, तो कभी पीछे हटकर वे एक दूसरे पर आक्रमण करने लगे। उनके मस्तक लाल तो थे

ही; किन्तु अब तो होंठ और पैरों के नाखूनों के खरोंच लगने से रक्त क्षरित होने से वे और लाल हो उठे। अस्त्रधारी पुरुषों की तरह उन्होंने एक दूसरे को नाखूनों से बींध डाला। हर क्षण कोई 'युवराज्ञी का मुर्गा जीत गया' तो कोई सुसेना का मुर्गा जीत गया' कहकर चीत्कार कर उठते; किन्तु वास्तव में कोई किसी को पराजित नहीं कर पा रहा था। (श्लोक ७१-७३)

इस भाँति उन्हें परस्पर युद्धरत देखकर धनरथ सहसा बोल उठे—'इनमें से कोई किसी को पराजित नहीं कर सकेगा।'

(श्लोक ७८)

मेघरथ ने प्रश्न किया—'पिताजी, तो क्यों?' धनरथ जो कि अवधिज्ञानी थे बोले—'यह इनके पूर्व जन्म की कथा से सम्बन्धित है। मैं वही कथा सुना रहा हूं सुनो— (श्लोक ७९-८०)

'इस जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में रत्नपुंज-सा रत्नपुर नामक एक नगर था। वहाँ धनवसु और दत्त नामक दो वणिक रहते थे। उनमें बड़ी घनिष्ठता थी। पिपासित चातक की तरह उनमें धनाकांक्षा भी असीमित थी। इसलिए वे शकटों में, यानों में बहुविध पण्य लेकर विदेशों में जाते रहते। वे ग्राम नगर खानादि में विभिन्न स्थानों में एक साथ दरिद्र के पिता की तरह भ्रमण करते और जब उनके बैल क्षुधा से तृषा से क्लान्त, दुर्बल, आहत, क्षीण या शीत और ग्रीष्म से पीड़ित होकर अथवा अतिभार वहन करने में असमर्थ हो जाते तो वे उन्हें परमाधार्मिक देवों की तरह लाठी, सोंटा, अंकुश से आहत कर या पूँछ मोड़कर चलाते। बलदों की पीठ फूल-फूल जाती पर वे छुरी से उसे चीर डालते। नाक के छिद्र कट जाने पर अन्यत्र छेद कर देते। जाने की जल्दी में बलदों को पूरा विश्राम भी नहीं देते। यहाँ तक कि स्वयं भी चलते-चलते आहार करते। वे कम वजन देते, कम नाप करते, झूठे सिक्के देकर, पण्य की झूठी बढ़ाई, कर लोगों को ठगते रहते। प्रायः किसी न किसी बात को लेकर वे आपस में झगड़ते रहते। निष्ठुर लोभी तो वे थे ही, मिथ्यात्व के वशीभूत होकर धर्म का नाम भी नहीं लेते थे। एक दिन राग द्वेष से प्रेरित होकर एक दूसरे से लड़ते हुए वे मर गए। आर्त्तध्यान में मृत्यु होने के कारण दूसरे जन्म में हस्ती रूप में जन्मे। कारण आर्त्तध्यान में मृत्यु होने से पशु योनि ही

प्राप्त होती है। (श्लोक ८१-९३)

'इसी ऐरावत क्षेत्र के सुवर्णकुला नदी तट पर वे ताम्र कलश और कंचन कलश नामक हस्ती रूप में जन्मे। बड़े होने पर सातगुणा मदक्षरण से मतवाले होकर वे वृक्षादि छेदन-भेदन करते हुए उसी नदी तट पर स्वयूथ सहित इधर-उधर विचरते हुए एक दिन एक दूसरे को देखा। अपने प्रतिबिम्ब के भ्रम में पूर्व जन्म के द्वेष के कारण दोनों के मन में क्रोध उद्दीप्त हो गया और दावाग्नि प्रज्ज्वलित पर्वत की तरह एक दूसरे की ओर दौड़े। बहुत देर तक सूँड़ों से, दाँतों से परस्पर युद्ध करते हुए दूसरे जीवन में फिर युद्ध करेंगे, कहते हुए वहीं मर गए। (श्लोक ९४-९८)

'जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में पशुपालक नन्दीमित्र रहता था। उन्होंने उसके भैंसों के दल में भैंसा रूप में जन्म ग्रहण किया। बड़े होने पर उन्होंने हस्ती शिशु का आकार ग्रहण किया। राजा शत्रुंजय और देवानन्दा के पुत्र धनसेन और नन्दीसेन ने एक दिन उन दोनों सुन्दर भैंसों को देखा। कौतुहलवश उन्होंने उन्हें परस्पर लड़ने को नियुक्त किया। (श्लोक ९९-१०२)

'बहुत देर तक लड़ने के पश्चात वे मर गए और काल-महाकाल नामक भेड़ों के रूप में उत्पन्न हुए? एक दिन एक दूसरे को देखकर पूर्व जन्म के वैर के कारण परस्पर लड़ना प्रारम्भ किया और लड़ते-लड़ते मरकर इस जन्म में शक्तिशाली मुर्गों के रूप में जन्में हैं। इसके पूर्व भी उन्होंने एक दूसरे को देखकर पूर्व जन्म के वैर के कारण परस्पर लड़ना प्रारम्भ किया और लड़ते-लड़ते मरकर इस जन्म में शक्तिशाली मुर्गों के रूप में जन्में हैं। इसके पूर्व भी वे एक दूसरे को हरा नहीं सके थे और आज भी कोई किसी को नहीं हरा सकेगा।' (श्लोक १०३-१०५)

घनरथ की बात समाप्त होने पर मेघरथ बोले—'ये केवल पूर्व जन्म के वैर के कारण ही नहीं लड़ते, इनमें विद्याधर प्रविष्ट होकर इन्हें लड़ा रहा है।' यह सुनकर घनरथ ने भौंहें चढ़ाकर मेघरथ की ओर देखा। करबद्ध होकर विनीत भाव से तब मेघरथ ने कहना प्रारम्भ किया— (श्लोक १०६-१०७)

'इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में वैताढ्य नामक पर्वत की उत्तर श्रेणी पर स्वर्णनाभ नामक एक नगरी थी। गरुड़ से

शक्तिशाली एक गरुड़वेग नामक राजा वहाँ राज्य करते थे। उनके चारित्रसम्पन्ना पत्नी का नाम था धृतिसेना। उसने चन्द्रतिलक और सूर्यतिलक नामक दो राजपुत्रों को जन्म दिया। उनके जन्म के पूर्व उसने अपनी गोद में चन्द्र-सूर्य को देखा था। इसीलिए उनका यह नाम रखा गया। बड़े होने पर वे एक दिन मेरुपर्वत पर गए। वहाँ शिखर स्थित शाश्वत अर्हतों की वन्दना की। तदुपरान्त इधर-उधर भ्रमण करते हुए उन्होंने नन्दनवन की स्वर्ण शिला पर खड़े चारण मुनि सागरचन्द्र को देखा। मुनि को वन्दना-नमस्कार कर और प्रदक्षिणा देकर युक्तकर होकर उनकी देशना सुनी। (श्लोक १०८-११३)

देशना शेष होने पर वे पुनः मुनि को वन्दना कर बोले—'सौभाग्यवश ही आज अज्ञान-अन्धकार दूर करने में मशाल-से आपको देखा है। भगवन्, आप हमारे पूर्व जन्म बताएँ। सूर्योदय की भाँति आप जैसे व्यक्तियों का ज्ञान अन्य के कल्याण के लिए ही होता है।' (श्लोक ११४-११५)

मुनि ने कहना आरम्भ किया—धातकी खण्ड के पूर्व ऐरावत क्षेत्र में वज्रपुर नामक एक नगर था। वहाँ आर्त्तजनों को अभय प्रदान करने वाले अभयघोष नामक एक राजा थे। उनकी पत्नी का नाम था सुवर्णतिलका। विजय और वैजयन्त नामक उनके दो पुत्र थे। क्रमशः शिक्षा प्राप्त करते हुए वे यौवन को प्राप्त हुए।' (श्लोक ११६-११८)

'उसी समय उसी क्षेत्र में स्वर्णद्रुम नामक नगर में शङ्ख-से शुभ्र गुण युक्त शङ्ख नामक राजा राज्य करते थे। उनकी रानी पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न पृथ्वीसेना नामक एक कन्या थी। उस कन्या के जन्म के पूर्व रानी पृथ्वी ने स्वप्न में अपनी गोद में एक पुष्पदाम देखा। पुष्पदाम-सी कोमल पृथ्वीसेना क्रमशः समस्त कलाएँ हस्तगत कर यौवन को प्राप्त हुई। कला शिक्षा से संस्कारित होकर उसके रूप और गुण में वृद्धि हो गई। अभयघोष को राजा शङ्ख ने उसके उपयुक्त वर समझ कर उनसे उसका विवाह कर दिया। रमासह रमापति की तरह अभयघोष पृथ्वीसेना के साथ यौवन सुख भोग करने लगे। (श्लोक ११९-१२३)

'एक दिन वसन्त ऋतु में दासी वसन्तिका पुष्प सम्भार लिए

राजा अभयघोष के निकट आई। रानी सुवर्णतिलका उस पुष्प सम्भार को देखकर राजा से बोली—'षड्ऋतु के उद्यान में वसन्त का आविर्भाव हुआ है। देव, हम अन्तःपुरिकाओं सहित इस उद्यान में चलें और वसन्त लक्ष्मी का आलिङ्गन करें।' ठीक उसी समय पृथ्वीसेना वहां आई और बहुमूल्य पुष्पगुच्छ इन्हें पकड़ाया। राजा पुष्पगुच्छ को अपने हाथों में लेकर अवाक् से उसे देखते रहे। तदुपरान्त अन्तःपुरिकाओं को लेकर उसी उद्यान में आए।

(श्लोक १२४-१२८)

'पति की आज्ञा प्राप्त कर पृथ्वीसेना ने इधर-उधर घूमते हुए एक वृक्षतले ज्ञानी मुनि दन्तमंथन को देखा। भक्ति भरे चित्त से आनन्दित होकर उसने मुनि की वन्दना की और उनकी देशना सुनी। उस देशना को सुनकर उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ। संसार-भय से भीत पृथ्वीसेना ने उसी मुहूर्त्त में राजा से आदेश लेकर दन्तमंथन मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। राजा अभयघोष पृथ्वीसेना के चारित्र की प्रशंसा कर राज प्रासाद में लौट आए।

(श्लोक १२९-१३२)

'एक दिन अभयघोष जब प्रासाद की छत पर विश्रामरत सूर्य की तरह अपने रत्न-सिंहासन पर बैठे थे तब अनन्तमुनि (भावी तीर्थङ्कर) को छद्मस्थावस्था में प्रासाद में प्रवेश करते देखा। वह शीघ्रतापूर्वक आहार लेकर उनके सम्मुख आए और वन्दना की। अनन्त मुनि ने भिक्षा ग्रहण कर उपवास का पारणा किया। देवों ने रत्न वर्षादि पांच दिव्य प्रकट किए। पारणे के पश्चात् अनन्त मुनि अन्यत्र विहार कर गए। कारण, तीर्थङ्कर भी छद्मस्थावस्था में साधारण साधु की तरह एक स्थान पर अवस्थित नहीं रहते।

(श्लोक १३३-१३७)

'कालान्तर में केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर अनन्त विचरण करते हुए एक दिन वज्रपुरी में पहुंचे। अभयघोष उनके आगमन का संवाद प्राप्त कर उन्हें वन्दना करने गए और तीन बार प्रदक्षिणा देकर उनकी स्तुति की एवं भवनाशकारी उनकी देशना सुनी। देशना शेष होने पर अभयघोष उन्हें वन्दन कर बोले—'भगवन्, मेरे भाग्योदय से कल्पवृक्ष-से आप यहां उपस्थित हुए हैं। आपका आगमन अन्य के कल्याण के लिए ही होता है। हे दयानिधि, हे

जगत्पूज्य, आप तब तक यहाँ अवस्थान करें जब तक मैं राज्यभार पुत्र को देकर आपके चरण-कमलों में दीक्षा लेने के लिए नहीं लौटू।'
(श्लोक १३८-१४२)

'शुभ कार्य में विलम्ब मत करो' यह जिनादेश प्राप्त कर अभय घोष प्रासाद में लौटे और पुत्र विजय एवं वैजयन्त को बुलाकर बोले—'विजय, तुम ज्येष्ठ पुत्र के रूप में इस राज्यभार को ग्रहण करो और वैजयन्त तुम युवराज बनो। मैं तीर्थंकर भगवान से दीक्षा ग्रहण करूँगा ताकि मुझे इस संसार-चक्र में पुनः आवर्तित नहीं होना पड़े।' यह सुनकर वे बोले—'आप जैसे संसार से भयभीत हैं हम भी उसी प्रकार संसार भय से भीत हैं। हम आपके ही पुत्र हैं। अतः हम भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण करेंगे। दीक्षा ग्रहण के दो परिणाम होंगे—आपकी सेवा और संसार से मुक्ति।'
(श्लोक १४३-१४७)

'तब ऐसा ही हो' कहकर उन महामना ने अपना वृहद् राज्य अन्य योग्य व्यक्ति को प्रदान कर दोनों पुत्रों सहित तीर्थंकर अनन्त से चतुर्विध संघ के सम्मुख दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् उन तीनों ने घोर तपस्या की। राजा ने बीस स्थानक की उपासना द्वारा तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया। तीनों ही मृत्यु के उपरान्त अच्युत देवलोक में बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट आयुष्य लेकर उत्पन्न हुए।
(श्लोक १४८-१५१)

'इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के अलङ्कार स्वरूप पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिनी नामक एक नगरी है। वहाँ के राजा का नाम हेमांगद और रानी का वज्रमालिनी था। अभयघोष का जीव च्युत होकर उसके गर्भ में आया। जातक तीर्थंकर होगा यह चौदह स्वप्नों से सूचित हुआ। समय पूर्ण होने पर वज्रमालिनी ने एक पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों ने उनका स्नानाभिषेक सम्पादित किया। वे अभी घनरथ रूप में पृथ्वी पर शासन कर रहे हैं। दोनों राजकुमार विजय और वैजयन्त अच्युत देवलोक से च्युत होकर सूर्यतिलक और चन्द्रतिलक नामक विद्याधर बने। वे दोनों विद्याधर अपना पूर्व जन्म ज्ञात हो जाने से अपने पूर्व जन्म के पिता आपको देखने के लिए यहाँ आए हैं। वे ही कौतुक वश इन दोनों मुर्गों के मध्य प्रवेश कर इनको परस्पर लड़ने को उत्तेजित कर रहे हैं।

ये यहाँ से मुनि भोगवर्द्धन के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करेंगे और कर्मक्षय कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। (श्लोक १५२-१५९)

यह सुनकर दोनों विद्याधर कुमार प्रकट हुए और पूर्व की तरह ही स्वयं को उनका पुत्र समझ कर घनरथ को प्रणाम कर स्वगृह लौट गए। (श्लोक १६०)

जब उन मुर्गों ने यह बात सुनी तो वे मन ही मन सोचने लगे, हाय, यह संसार कितना भय और क्लेश से पूर्ण है। हमने जीवन में वणिक रूप से ऐसा कुछ उपार्जन नहीं किया जिससे और तो क्या पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त न कर सके? क्योंकि मनुष्य जन्म लाभ ऐसे ही दुष्कर है। उस मनुष्य जीवन को तो हमने आखेटी की तरह लोभी और निष्ठुर बनके दूसरों को ठगकर व्यर्थ ही नष्ट किया। कम नाप व कम तौल से केवल अन्य को ही नहीं ठगा, स्वयं भी परस्पर झगड़ा किया है और आर्त्त ध्यान में मरकर पशुयोनियाँ प्राप्त की हैं। धिक्कार है हमको! (श्लोक १६१-१६५)

ऐसा सोचकर उन्होंने मेघरथ को प्रणाम कर उनसे कहा—'देव, अब हमें बताएँ, हम अपना उद्धार कैसे करेंगे?'

(श्लोक १६६)

अवधिज्ञान से उनका भविष्य जानकर मेघरथ उन्हें बोला—'अर्हत् देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिन प्ररूपित दयामय धर्म की शरण ग्रहण करो। उसी से तुम्हारा कल्याण होगा।' (श्लोक १६७)

यह सुनकर मुर्गों ने वहीं संवेग को प्राप्त कर अनशन में मृत्यु प्राप्त की। मृत्यु के पश्चात् वे भूतरत्ना अरण्य में ताम्रचूल और सुवर्णचूल नामक दो महर्द्धिक भूत-नायक के रूप में उत्पन्न हुए। अवधिज्ञान से अपना पूर्व भव ज्ञात हो जाने से विमान में बैठकर वे अपने पूर्व जन्म के उपकारी युवराज मेघरथ के पास गए। वे मेघरथ को प्रणाम कर बोले— (श्लोक १६८-१७१)

'आपकी कृपा से हम व्यन्तर योनि में उत्पन्न हुए हैं। हम अपने कर्मानुसार पूर्व जन्मों में मनुष्य, हस्ती, महिष, मेष और अन्त में मुर्गे के रूप में पूर्ण आयुष्य लेकर जन्मे थे। मुर्गे के जन्म में न जाने हमने कितने कीटों का भक्षण किया। हमारी तो न जाने क्या दुर्गति होती यदि आप हमारी रक्षा नहीं करते? हे देव, हम पर दया कर अनुग्रह करें। इस विमान पर चढ़कर समस्त पृथ्वी को

देखें। यद्यपि अवधिज्ञान से आप तो सभी कुछ देख सकते हैं। फिर भी हमें आपकी सेवा का अवसर दें।' (श्लोक १७१-१७४)

इस भाँति आग्रह करने पर सज्जनता में क्षीरसमुद्र-से मेघरथ परिवार सहित उस विमान पर चढ़े। वह विमान आकाश में उड़ा और इच्छानुसार गति से चलने लगा। जो कुछ भी द्रष्टव्य था उसे वे अंगुली निर्देश कर मेघरथ को दिखलाने लगे :

(श्लोक १७५-१७६)

'वह देखिए, यह मेरु पर्वत चालीस योजन ऊँचा और वैदूर्य-मणि से निर्मित है। इसके किरण-जाल में ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो आकाश में दूर्वा अंकुरित हो गई है। रत्न-सिंहासन सहित चारों ओर से रक्षित वह अर्द्धचन्द्राकृति शिला है। ये शिलाएँ अर्हतों के स्नानाभिषेक जल से पवित्र हैं। ये शाश्वत जिनेश्वरों के मन्दिर हैं और पाण्डुक वन है। इसके पुष्प अर्हतों की पूजा में निवेदित होकर जीवन की सार्थकता प्राप्त करते हैं। ये छह वर्षधर पर्वत हैं जिससे चौदह महानदियां प्रवाहित होती हैं। ये छह सरोवर हैं। यह देखिए, यह वैताढ्य पर्वत है जिसकी दोनों श्रेणियों पर विद्याधर निवास करते हैं और जो भरत क्षेत्र को दो भागों में विभाजित करता है। वैताढ्य पर्वत के शिखर पर स्थित वे शाश्वत जिन-मन्दिर हैं। जम्बूद्वीप को वेष्टन करती वातायन सहित चक्राकार प्राचीर है। यहां विद्याधर क्रीड़ा करने आते हैं।

(श्लोक १७७-१८३)

'वह देखिए, लवण समुद्र जिसमें बहुत प्रकार के जल-जन्तु रहते हैं। कालोद परिवेष्टित वह धातकी खण्ड द्वीप है। ये दोनों मेरु पर्वत हैं जिनकी शिलाओं पर अर्हतों का जन्माभिषेक होता है। ये दोनों ईष्वाकार पर्वत हैं जिन पर शाश्वत जिन मन्दिर हैं। वह देखिए पुष्करार्द्ध द्वीप जो देखने में धातकी खण्ड जैसा है। यह मानुषोत्तर पर्वत है। मनुष्य यहीं तक आ सकते हैं। इसके आगे का स्थान मनुष्यों के लिए अगम्य है।' (श्लोक१८४-१८६)

इस प्रकार मानषोत्तर पर्वत तक समस्त स्थानों को दिखाकर वे पुण्डरीकिनी नगरी को लौट आए। मेघरथ को प्रासाद में उतारकर और उन्हें प्रणाम कर वहाँ उन्होंने रत्नों की वर्षा की। फिर अपने निवास को चले गए। (श्लोक १८७-१८८)

कालान्तर में लौकान्तिक देवों ने आकर महाराज घनरथ से कहा—'स्वामी, धर्म तीर्थ की प्रवर्तना करें।' घनरथ बोधित तो थे ही अतः उनकी बात सुनकर एक वर्ष तक वर्षीदान देकर मेघरथ को राजा बनाकर और दृढ़रथ को युवराज रूप में नियुक्त कर उन्होंने प्रव्रज्या अङ्गीकार कर ली। केवल-ज्ञान उत्पन्न होने पर भव्य जीवों को उपदेश देते हुए वे पृथ्वी पर विचरण करने लगे।'

(श्लोक १८९-१९१)

जिनका पादपीठ अजस्र राजाओं के मुकुटों द्वारा घर्षित होता है ऐसे मेघरथ दृढ़रथ सहित राज्य संचालन करने लगे। एक दिन प्रजा के अनुरोध पर विनोद के लिए वे देवरमण नामक उद्यान में आए। वहां जब वे अपनी रानी प्रियमित्रा सहित एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर संगीत सुन रहे थे उसी समय हजारों भूत वहाँ उपस्थित हो गए और उन्हें अभूतपूर्व संगीतानुष्ठान दिखाने की इच्छा प्रकट की। उनमें किसी का पेट लम्बोदर की भाँति था तो किसी की देह इतनी कृश थी कि लगता था मानो रसातल को पकड़े रहने के लिए ही वे सृष्ट हुए हों। किसी का पैर इतना लम्बा था कि लगता था मानो वे ताल वृक्ष पर चढ़े हुए हों। कोई अपनी दीर्घ बाहुओं के कारण सर्प-वेष्टित वृक्ष-से लगे रहे थे। किसी ने सर्पों के अलङ्कार धारण कर रखे थे तो किसी ने नेवलों के। किसी की देह पर चीते की छाल थी तो किसी के बाघ की। किसी ने देह पर भस्म रमा रखी थी तो किसी ने गन्ध द्रव्यों को। किसी के गले में उल्लुओं की माला लटक रही थी तो किसी के शकुनि की। किसी के गले में छछुन्दरों की माला थी तो किसी के गले में छिपकलियों की, तो किसी के गले में हड्डियों की। कोई अट्टहास कर रहा था तो कोई चीत्कार। कोई घोड़ की तरह हिनहिना रहा था तो कोई मेघ की तरह गरज रहा था। कोई भुजाओं को पीट रहा था तो कोई ताली बजा रहा था। कोई मुख से वाद्य-ध्वनि निकाल रहा था तो कोई काँख से। धरती को जो विदीर्ण कर दे और आकाश को फाड़ डाले ऐसे अभूतपूर्व पद-विन्यास और देह संचालन कर वे ताण्डव नृत्य दिखाने लगे। (श्लोक १९२-२०३)

राजा के विनोद के लिए जब वे इस प्रकार नृत्य दिखा रहे थे तभी आकाश से एक दिव्य विमान प्रकट हुआ। उस विमान में

रति और कामदेव-सा सुन्दर एक पुरुष और एक स्त्री थी। उन्हें देखकर रानी प्रियमित्रा ने राजा से पूछा—'देव, वे कौन हैं ? क्यों और कहाँ से यहाँ आए हैं ?' (श्लोक २०४-२०६)

प्रत्युत्तर में मेघरथ बोले—'इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी पर अलका नामक एक नगरी है। वहां विद्याधरराज विद्युद्रथ और उनकी रानी मनोरमा निवास करती है। उनको एक पुत्र हुआ जो वृक्ष की तरह महाशक्तिशाली था। उसके जन्म के पूर्व रानी ने सिंहवाहित एक रथ देखा था अतः उसका नाम रखा सिंहस्थ। वयः प्राप्त होने पर चन्द्र जैसे रोहिणी से विवाह करता है उसी प्रकार उसने अपने उपयुक्त और अनुकूल कुलोत्पन्ना वेगवती से विवाह किया। कालान्तर में विद्युद्-रथ ने उसे युवराज पद पर अधिष्ठित किया। पुत्र के वयस्क हो जाने पर राजा का यही कर्त्तव्य होता है। तदुपरान्त सिंहस्थ, सिंह जैसे अरण्य में इच्छानुसार विचरण करता है उसी प्रकार क्रीड़ा क्षेत्रों में, उद्यानों में, वापियों में यौवन सुख भोग करते हुए विचरण करने लगे।' (श्लोक २०७-२१२)

'एक दिन विद्युद्रथ के मन में आया कि इस संसार में सब कुछ विद्युतप्रभा की तरह ही क्षण-भंगुर है। इस भांति संसार-विरक्त होकर उन्होंने सिंहरथ को सिंहासन पर बैठाया और गुरु के सम्मुख जाकर सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भों से संयम ले लिया। मुक्ति के आकांक्षी होकर उन्होंने संयम और व्रत का पालन कर ध्यान के द्वारा अष्ट कर्मों को क्षय कर अन्ततः मोक्ष प्राप्त किया।' (श्लोक २१३-२१५)

'उदीयमान सूर्य की तरह प्रभा सम्पन्न सिंहस्थ ने क्रमशः जिसे पाना कठिन है ऐसे विद्याधरों के चक्रवर्तीत्व को प्राप्त किया। एक दिन रात में उन्होंने विनिद्र योगी की तरह इस प्रकार चिन्तन किया—वनजात यूथि पुष्प की तरह मेरा जीवन व्यर्थ है। संसार सागर को अतिक्रम करने में जो जहाज-से हैं ऐसे सर्वज्ञ अर्हतों का दर्शन कर स्वयं को पवित्र और धन्य बनाऊँ। कारण, उनका एक बार दर्शन करना ही स्वप्न में देखे कल्पतरु-सा है।'

(श्लोक २१६-२१९)

'ऐसा सोचकर वे पत्नी सहित अर्हत् अमितवाहन के दर्शनों

के लिए धातकीखण्ड स्थित पश्चिम विदेह की सीतोदा नदी के तट पर स्थित सुवत्स विजय के खड्गपुर नगर में गए। अर्हत् की वन्दना कर उन्होंने वहां संसार-सागर को उत्तरण करने में जहाज-सी उनकी देशना सुनी। संसार-दावानल को निर्वापण करने वाली उनकी देशना सुनकर और उन्हें वन्दना कर वे स्व-नगरी को लौटने को यात्रायित हुए। जाने के समय उनके विमान की गति समुद्र स्थित शर वन से जैसे जहाज की गति अवरुद्ध हो जाती है वैसे ही अवरुद्ध हो गई। (श्लोक २२०-२२४)

'मेरे विमान की गति किसके द्वारा रुद्ध हुई है यह जानने को उन्होंने नीचे देखा और मुझे वहां खड़े देखा। क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझे उठा लेना चाहा; किन्तु मैंने उन्हें बाएँ हाथ से पकड़ लिया। सिंह द्वारा पकड़ा गया हाथी जैसे चिल्ला उठता है वैसे ही वे चिल्ला उठे। यह देखकर उनकी पत्नी और अनुचरों ने मुझसे उनकी सुरक्षा चाही। मैंने उन्हें जब मुक्त कर दिया तो उन्होंने इस भूत-वाहिनी की सृष्टि कर उस संगीतानुष्ठान का आयोजन किया है।'

(श्लोक २२५-२२८)

प्रियमित्रा ने पुनः पूछा—'देव, इन्होंने पूर्व जन्म में ऐसा क्या किया था जो इस जन्म में ऐसी ऋद्धि के अधिकारी बने हैं?'

(श्लोक २२९)

मेघरथ बोले—'देवी, पुष्करार्द्ध के पूर्व भरत में सिंहपुर नामक एक नगर है। वहां उच्चकुलजात राजगुप्त रहते थे। दारिद्र्य के कारण वे अन्य के यहां काम कर अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। शंखिका नामक उनकी एक पत्नी थी। वह जिस प्रकार उनके अनुगत थी वैसी ही धर्म के प्रति श्रद्धाशील थी। वह भी अन्य के घर काम करती थी। (श्लोक २३०-२३२)

'एक दिन फलों के लिए वे दोनों वृक्षों से शोभित सिंहगिरि पर्वत पर गए। इधर-उधर फलों की खोज करते हुए उन्होंने मुनि सर्वगुप्त को देखा। उस समय वे देशना दे रहे थे। विद्याधर सभा में उपविष्ट उन मुनि के पास जाकर उन्हें वन्दना कर वे भी वहां बैठ गए। मुनि ने उनके लिए विशेष रूप से धर्म का उपदेश दिया। कारण, महान् व्यक्ति दरिद्र के प्रति विशेष करुणार्द्र होते हैं।'

(श्लोक २३३-२३६)

'देशना शेष होने पर वे मुनिराज को प्रणाम कर बोले—भगवन्, हमने पापी होने पर भी आज भाग्योदय से आपका दर्शन प्राप्त किया है। आप तो स्वभाव से ही सबके प्रति करुणाशील हैं। फिर भी हम दुःखी आपसे अनुरोध करते हैं, हे जगत्पूज्य, हमें कोई ऐसी तप-विधि का विधान दें जो हमें इस दारिद्र्य से मुक्त कर दे। मुनि ने उनके उपयुक्त बत्तीस कल्याणक तप का विधान दिया। वे सम्मत होकर घर लौट आए और तीन-तीन दिनों के दो उपवास, एक-एक दिन के बत्तीस उपवास किए। व्रत के पारणे के दिन वे दरवाजे की ओर देखते हुए किसी अतिथि रूप में मुनि की प्रतीक्षा करने लगे। ठीक उसी समय मुनि धृतिधर उनके घर में प्रविष्ट हुए। मुनि धृतिधर को उन्होंने भक्ति-भाव से आहार-पानी बहराया।

(श्लोक २३७-२४२)

'कालान्तर में मुनि सर्वगुप्त पुनः वहां लौट आए। वे फिर देशना सुनने गए। देशना सुनकर विवेकशील होने के कारण मानव-जन्म को कल्पवृक्ष रूप फल प्रदान करने वाली मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरु के आदेश से मुनि राजगुप्त ने कठिन आचामाम्ल (आयंबिल) वर्द्धमान तप किया और अन्त में चार शरण ग्रहण कर, अनशन धारण कर लिया। मृत्यु के पश्चात् दस सागरोपम की आयु लेकर वे ब्रह्मलोक में देव-रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक २४३-२४६)

'ब्रह्मलोक से च्युत होकर राजगुप्त विधुद्रथ के पुत्र रूप में विद्याधरराज सिंहरथ हुए। इनकी पत्नी सिंहिका भी बहुविध तपस्या कर ब्रह्मलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई। वहां से च्युत होकर उनकी पत्नी रूप में उत्पन्न हुई। अब वे स्व-नगर लौटकर अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर मेरे पिता से दीक्षा ग्रहण करेंगे। तप और ध्यानादि से अष्टकर्मों को क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे और अन्त में मोक्ष जाएँगे। (श्लोक २४७-२५०)

यह विवरण सुनकर सिंहस्थ मेघरथ को भक्ति-भाव से प्रणाम कर अपने राज्य को लौटे और पुत्र को सिंहासन पर बैठाया। मन उपशान्त होने से उन्होंने धनरथ से दीक्षा ग्रहण की और तपादि अनुष्ठान कर मोक्ष प्राप्त किया। (श्लोक २५१-२५२)

अन्तःपुरिका और अनुचरादि सहित राजा मेघरथ देवरमण

उद्यान से पुण्डरीकिनी नगरी आए। कालान्तर में एक दिन जब वे पौषधव्रतग्रहण कर पौषधशाला में बैठे विज्ञजनों से जिन-प्ररूपित धर्म की व्याख्या कर रहे थे उसी समय एक कपोत मृत्यु भय से करुण नयन लिए काँपता हुआ उनकी गोद में आ बैठा। मनुष्य की भाषा में जब वह विनती करने लगा—'महाराज, मेरी रक्षा करें।' तब उन्होंने 'डरो मत, डरो मत' कहकर प्रबोध दिया। उस प्रबोध से शान्त होकर वह करुणा-सागर राजा की गोद में पुत्र जैसे पिता की गोद में बैठता है वैसे ही निश्चिन्त होकर आराम से बैठ गया। तभी सर्प के पीछे गरुड़-सा दौड़ता हुआ एक बाज आया और मनुष्य की भाषा में राजा से निवेदन किया—'महाराज, यह मेरा आहार है। उसे शीघ्र छोड़ दें।' राजा ने कहा—'मैं उसे तुम्हें नहीं सौंपूँगा। कारण, आश्रित का परित्याग करना क्षत्रिय धर्म नहीं है। तदुपरान्त तुम्हारे जैसे बुद्धिमान पक्षी को स्व-जीवन के लिए अन्य की हत्या करना उपयुक्त नहीं है। तुम्हारे डैनें से यदि कोई एक पंख नोच ले तो उससे तुम्हें जैसी व्यथा होगी वैसी ही व्यथा दूसरों को भी तुम्हारे इस कार्य से होगी। फिर हत्या का तो कहना ही क्या? उसको खाकर क्षुधा निवारण की तुम्हारी तृप्ति क्षणिक है; किन्तु उसका तो जीवन ही खत्म हो जाएगा। जो पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या करते हैं, उनका मांस खाते हैं, उन्हें नरकवास का असह्य दुःख भोगना पड़ता है। क्षुधार्त्त होने पर भी विवेकवान जीव के लिए एक ओर असीम यातनादायी और दूसरी ओर मुहूर्त्त भर के लिए सुखप्रद ऐसी जीव हत्या करना उचित नहीं है। अन्य खाद्य से भी तुम्हारी क्षुधा का निवारण हो सकता है। जो पित्ताग्नि चीनी से निवारित हो सकती है वह दूध से भी हो सकती है। जीव-हत्या करके जो नरक दुःख भोगना पड़ता है उसे सहन करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रहता है। अतः जीव-हत्या से विरत विरत होकर अहिंसा नीति का पालन करो जिससे जन्म-जन्मान्तरों में सुख प्राप्त हो।' (श्लोक २५३-२६७)

बाज पक्षी ने भी मनुष्य की भाषा में ही प्रत्युत्तर दिया—'मेरे भय से यह कपोत आपकी शरण में आया है; किन्तु मैं क्षुधार्त्त किसकी शरण में जाऊँ आप ही कहिए? क्योंकि जो महान् हैं, करुणाशील हैं उनकी करुणा तो सब पर ही होगी। आप जिस

प्रकार उसकी रक्षा कर रहे हैं उसी प्रकार मेरी भी रक्षा करिए। भूख के मारे मेरी श्वास रुक रही है। अच्छा और बुरे का व्यवहार तो जीव तब करता है जब वह स्वच्छन्द रहता है। धर्म-प्राण व्यक्ति भी क्षुधा से पीड़ित होकर क्या-क्या अन्याय नहीं कर बैठता? अतः हे राजन्! अभी नीति की बात छोड़िए। यह मेरा आहार है। उसे मुझे लौटा दें। यह कैसी नीति है कि एक की रक्षा के लिए दूसरे की हत्या करें? राजन्, मैं और किसी भी भोजन से तृप्त नहीं हो सकता। मेरे द्वारा निहत भय त्रस्त जीवों के मांस खाने का ही मैं अभ्यस्त हूं।' (श्लोक २६८-२७३)

मेघरथ बोले—'मैं इस कबूतर के वजन के बराबर मांस अपनी देह से काटकर तुम्हें दूँगा। उसे खाकर तुम अपनी क्षुधा शान्त करो।' (श्लोक २७४)

'तब ऐसा ही हो', कहकर बाज ने यह बात स्वीकार कर ली। राजा ने तुलादण्ड पर एक ओर उस कबूतर को रखा और दूसरी ओर अपनी देह से मांस काटकर पलड़े में रखने लगे; किन्तु राजा जितना मांस काट-काटकर पलड़े में रखते जाते वह कबूतर भी उसी प्रकार भारी होता चला जाता। राजा ने जब देखा यह कबूतर अपना वजन बढ़ाता जा रहा है तो वे स्वयं तराजू पर चढ़ गए।' राजा को तुलादण्ड पर चढ़ते देख उनके अनुचर हाय-हाय करने लगे मानो सन्देह की तुलादण्ड पर वे चढ़ गए हों। सामन्त एवं मन्त्रीगण उनसे बोले—'देव, आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं। आप अपनी इस देह से समस्त पृथ्वी की रक्षा करते हैं। एक पक्षी के लिए आप अपनी देह कैसे दे सकते हैं? फिर यह पक्षी छद्मवेषी कोई देव या दानव लगता है। कारण, सामान्य कबूतर का इतना वजन कैसे हो सकता है? (श्लोक २७५-२८१)

जब वे ऐसा कह रहे थे तभी किरीट, कुण्डल और माला धारण किए मानो समृद्धि ही मूर्तिमन्त हो गई हो ऐसा देव उपस्थित हुआ। उसने राजा को सम्बोधन कर कहा—'महाराज, आप मनुष्यों के अनन्य हैं। ग्रह जैसे स्व-स्थान से च्युत नहीं होते उसी प्रकार आप भी मानवता से च्युत नहीं हो सकते। देव-सभा में इन्द्र ने जब आपकी प्रशंसा की तो वह मुझे अविश्वसनीय लगी। अतः मैं आपकी परीक्षा लेने आया। पूर्व जन्म के विरोध के कारण

इन दोनों पक्षियों को लड़ाई के लिए उद्यत देखकर मैं ही इन्हें प्रेरित कर यहां ले आया था। मुझे क्षमा करें।' (श्लोक २८२-२८५)

ऐसा कहकर राजा को स्वस्थ कर वह देव स्वर्ग को चला गया। सामन्त, नृप और अन्य उपस्थित व्यक्ति आश्चर्यान्वित होकर राजा से पूछने लगे—'देव, यह कबूतर और बाज पूर्व जन्म में कौन थे? इनके विरोध का क्या कारण था? और वह देव भी पूर्व जन्म में कौन था?' (श्लोक २८६-२८७)

मेघरथ ने कहा—'इस जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में श्री के कमलदल-सा पद्मिनीखण्ड नामक एक नगर था। सागरदत्त नामक समुद्र-सा महाधनशाली एक वणिक वहां रहता था। उसकी एक मात्र पत्नी का नाम था विजयसेना। उसके दो पुत्र थे धन और नन्दन। क्रमशः बड़े होते हुए उन्होंने यौवन प्राप्त किया। पिता के धन में गर्वित बने वे अहंकारी होकर नानाविध क्रीड़ाओं में समय व्यतीत करने लगे।' (श्लोक २८८-२९१)

'एक दिन वे सागरदत्त को प्रणाम कर बोले—'पिताजी, आदेश दीजिए, हम वाणिज्य के लिए विदेशों में जाएँ।' यह सुनकर आनन्दित हुए सागरदत्त ने उन्हें विदेश जाने की अनुमति दे दी। पुत्र जब बड़ा होकर पिता की सहायता करता है तो उससे अधिक आनन्द पिता के लिए अन्य नहीं हो सकता। वे बहुत-सा पण्य द्रव्य लेकर सार्थवाह सहित क्रमशः नासपुर नामक एक बृहद् नगर में पहुंचे। वहां व्यवसाय करते हुए उन्हें कुत्ते के एक मांसखण्ड की तरह एक महार्घ रत्न प्राप्त हुआ। उसी रत्न के लिए क्रुद्ध होकर वे वन्य वृषभ की तरह परस्पर शत्रु नदी के किनारे मार-पीट करने लगे। इसी मार-पीट में वे दोनों जल में गिर गए और उसी क्षण मृत्यु को प्राप्त हो गए। लोभ से किसकी मृत्यु नहीं होती? मृत्यु के पश्चात् वे दोनों भाई इन्हीं पक्षियों के रूप में उत्पन्न हुए। पूर्व जन्म के वैर के कारण वे इस जन्म में भी परस्पर शत्रु बन गए। (श्लोक २९२-२९८)

'इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के अलङ्कार-स्वरूप रमणीय नामक विजय में सीता नदी के दक्षिण तट पर शुभा नामक एक नगरी थी। उसी नगरी में आज के पञ्चम भव पूर्व में राजा सुमित्रसागर का अपराजित नामक एक पुत्र था। मैं बलदेव था

और मेरा अनुज अनन्तवीर्य वासुदेव था। वही वासुदेव दृढ़रथ है। उस समय दीर्घबाहु दमितारि प्रतिवासुदेव थे। उनकी कन्या कनकश्री के लिए हमने उसे युद्ध में मारा था। उसी से भव भ्रमण करते हुए इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अष्टापद पर्वत की तलहटी में निवृति नदी के तीर पर सोमप्रभ नामक तापस के पुत्र रूप में जन्म लिया। बालतप करते हुए मृत्यु के पश्चात् वही सुरूप नामक देव हुआ। ईशानेन्द्र द्वारा की गई मेरी प्रशंसा को सहन न कर सकने के कारण वह मेरी परीक्षा लेने आया।' (श्लोक २९९-३०५)

कबूतर और बाज ने मेघरथ द्वारा कही अपने पूर्व भव की कथा सुनकर उसी क्षण जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त किया और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। राजा के अनुचरों ने जब उन्हें हवा दी, जल छिड़का तो वे मानो नींद से जागे हों इस प्रकार मूर्च्छा भंग होने से जाग उठे। उन्होंने स्वभाषा में राजा से कहा—'प्रभु, आपने हमारे पूर्व जन्म का दुष्कृत्य स्मरण कराया। जिसके फलस्वरूप हमें यह तिर्यञ्च योनि प्राप्त हुई। अत्यधिक लोभ के वशवर्ती होकर आपस में मार-पीट कर हमने एक मनुष्य जन्म ही नष्ट नहीं किया; इस जन्म में भी नरक में जाने योग्य उपक्रम कर रहे थे। अन्धकूप में गिरते हुए को हाथ से बचा लेने की तरह आपने हमें बचा लिया। अब से हे स्वामिन्, आप हमें कुमार्ग से सुमार्ग पर ले जाकर हमारी रक्षा करें ताकि हमारा उत्थान हो।'

(श्लोक ३०६-३११)

मेघरथ ने जो कि अवधिज्ञान के समुद्ररूप थे, उन्हें भव्य जीव समझकर यथासमय अनशन ग्रहण करने को कहा। उन्होंने अनशन धारण कर धर्म भावना में मृत्यु प्राप्त की और भवनवासी देवों के इन्द्ररूप में जन्म ग्रहण किया। (श्लोक ३१२-३१३)

राज मेघरथ पौषध शेष कर मानो मूर्तिमन्त धर्म ही हों इस प्रकार राज्य करने लगे। एक दिन बाज और कबूतर की कथा स्मरण हो आने पर महाशान्ति की बीज रूप संसार-विरक्ति प्राप्त की। उन्होंने तीन दिन तक उपवास का परिषह सहन करने के लिए प्रतिमा धारण की और शरीर को पर्वत की तरह स्थिर कर लिया। उसी समय ईशानेन्द्र जो कि अन्तःपुरिकाओं के साथ स्व-विमान में अवस्थित थे सहसा 'आपको नमस्कार करता हूँ' कहकर किसी को

नमस्कार किया। यह देखकर इन्द्राणियों ने पूछा—'देव, अत्यन्त श्रद्धा से अभी आपने किसको नमस्कार किया ? संसार में कौन है जो आपके लिए भी नमन करने योग्य है।' (श्लोक ३१४-३१८)

ईशानेन्द्र बोले—'देवी, अर्हत् धनरथ के पुत्र मेघरथ सरोवर में जैसे श्वेत कमल सुशोभित होता है उसी प्रकार अभी पुण्डरीकिनी नगरी में उपवास और प्रतिमा धारण किए सुशोभित हो रहे हैं। वे भावी तीर्थङ्कर हैं और भरत क्षेत्र के अलङ्कार रूप हैं। यहां से उन्हें देखकर मैंने नमस्कार किया है। मनुष्य का तो कहना ही क्या, देव-दानव, यहां तक कि इन्द्र भी उनको ध्यान से विचलित करने में समर्थ नहीं है।' (श्लोक ३१९-३२२)

ईशानेन्द्र की दो इन्द्राणियां सुरूपा-अतिरूपिका को इस कथन पर विश्वास नहीं हुआ। अतः वे मेघरथ का ध्यान भंग करने पृथ्वी पर उतरीं और मीनकेतु का प्रासाद-सा या आयुध रूपी सुन्दरी स्त्रियों की सृष्टि की। वे सृष्ट सुन्दरियां मदन को जीवित करने में औषधि रूप थीं। उन्होंने हाव-भाव से, अनुकूल उपसर्ग से उनका ध्यान भंग करना चाहा। लहराती हुई वेणी के बन्धन द्वारा उनमें से एक ने प्रेम के उद्गम स्थल रूप स्कन्ध देश को प्रदर्शित किया। दूसरी अर्द्धस्खलित वस्त्रों से अपने नितम्ब दिखाने लगी जैसे—दर्पण से आवरण हटाया गया हो। सखियों से बात करने के बहाने एक ने भ्रू देश को बार-बार कम्पित किया। मानो वह मदन का अस्त्र निक्षेप कर रही है। एक ने प्रणयाविष्ट मुख और नेत्रों की अभिव्यक्ति से गन्धार ग्राम में अश्लील गीत गाया। एक सुन्दरी स्व-अनुभूत कामक्रीड़ा की बात अन्य सखी को बार-बार कहने लगी। अन्य एक ने कामार्त्त की भांति विभिन्न मुद्राएँ प्रदर्शित कर उनमें काम-वासना जागृत करना चाहा। कोई उनसे बात करने को कहने लगी, किसी ने उनके हाथ का स्पर्श चाहा, किसी ने उनसे कटाक्ष की याचना की, किसी ने उनका आलिंगन करना चाहा। इस प्रकार प्रभात होने तक उन्होंने काम-कला का प्रदर्शन किया। हीरे पर जैसे कुल्हाड़ी का आघात व्यर्थ होता है उसी प्रकार राजा मेघरथ पर फेंके उनके समस्त काम-बाण व्यर्थ हो जाने से इन्द्राणियों ने अपने मायाजाल को समेट लिया। अनुतप्त वे मेघरथ को प्रणाम कर स्व-निवास को लौट गईं। (श्लोक ३२३-३३५)

प्रशान्तमना मेघरथ ने प्रतिमा और उपवास भंग किया। रात्रि की घटना का स्मरण कर वे मुक्ति लाभ के लिए व्यग्र हो उठे। प्रधान महिषी प्रियमित्रा ने स्वामी को मुक्ति के लिए व्याकुल देख कर स्वयं भी मुक्ति की आकांक्षा करने लगी। कारण, सती स्त्री स्वामी के पथ का अनुसरण करती है। कालान्तर में अर्हत् घनरथ प्रव्रजन करते हुए वहां आए और ईशानकोण में अवस्थित हो गए। अनुचरों ने मेघरथ को उनके आवागमन का संवाद दिया। उन्होंने संवादवाहक को पुरस्कृत किया और अनुज सहित अर्हत् घनरथ को वन्दना करने गए। अर्हत् भगवान् ने भी एक योजन तक सुनी जा सके और जो सबके लिए बोधगम्य थी ऐसी भाषा में देशना दी। देशना समाप्त होने पर मेघरथ उन्हें प्रणाम कर बोले—'भगवन्, आप सबकी रक्षा करने वाले हैं अतः मेरी रक्षा करें। आप सर्वज्ञ हैं फिर भी हैं सबके कल्याणकारी। जगन्नाथ, मैं आपसे एक अनुरोध करता हूं—हे प्रभु, अपना कल्याण कौन नहीं चाहता? अतः जब तक मैं राज्य सिंहासन पर किसी को बैठाकर नहीं लौटूं तब तक आप यहीं अवस्थित रहें। लौटकर मैं आपसे दीक्षा ग्रहण करूंगा।'

(श्लोक ३३६-३४३)

'शुभ कार्य में विलम्ब मत करो'—अर्हत् घनरथ के ऐसा कहने पर मेघरथ घर गए और अपने अनुज से बोले—'भाई, अब इस राज्य-भार को तुम ग्रहण करो ताकि मैं दीक्षा ग्रहण कर सकूं। पथिक की भांति भ्रमण करते-करते अब मैं थक गया हूं।' तब दृढ़रथ करबद्ध होकर बोले—'सत्य ही यह संसार दुःखमय है। जो विवेकशील होते हैं वे इसका परित्याग कर देते हैं। इस राज्य का भार मुझ पर डालकर, जबकि संसार समुद्र का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, आप मेरा परित्याग क्यों कर रहे हैं? आज तक आपने मुझे अपने मन के अनुकूल ही समझा तो अब उसका व्यतिक्रम क्यों कर रहे हैं? कृपया मुझ पर दया करें। आप अपनी तरह मेरी भी रक्षा करें। आज पिताजी से आपके साथ मैं भी दीक्षित होऊंगा। यह राज्य भार आप किसी अन्य को सौंपें।

(श्लोक ३४४-३४९)

तब मेघरथ ने स्वपुत्र मेघसेन को राज्य दिया और दृढ़रथ के पुत्र रथसेन को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। मेघसेन द्वारा

दीक्षा-महोत्सव अनुष्ठित हुआ। तदुपरान्त दृढ़रथ एवं सात सौ पुत्र और चार हजार राजाओं सहित मेघरथ अर्हत् घनरथ के निकट जाकर दीक्षित हो गए। जिसे सहन करना कठिन है—ऐसा परिषह सहन कर तीन गुप्तियों और पांच समितियों का पालन कर शरीर के प्रति ममत्व त्यागी वे महात्मा दृढ़रथ सहित व्रत, तपाचरण और अंगादि शास्त्रों का अध्ययन कर पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

(श्लोक ३५०-३५४)

अर्हत् के प्रति भक्ति-भावापन्न होकर उन्होंने बीस स्थानक की उपासना कर जिसे अर्जन करना अत्यन्त कठिन है ऐसा तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपार्जन किया। (श्लोक ३५५)

सिंह निष्क्रीड़ित नामक घोर तप कर एक लक्ष पूर्व तक उन्होंने मुनि-धर्म का पालन किया। तत्पश्चात् अमरतिलक पर्वत पर आरोहण कर यथाविधि अनशन ग्रहण कर लिया।

(श्लोक ३५६-३५७)

मृत्यु के पश्चात् वे सर्वार्थसिद्धि नामक विमान में उत्पन्न हुए। उनके पवित्रमना अनुज दृढ़रथ भी कुछ समय के पश्चात् अनशन ग्रहण कर मृत्यु के पश्चात् पूर्ववर्ती विमान में उत्पन्न हुए।

(श्लोक ३५८)

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पंचम सर्ग

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के कुरु देश में हस्तिनापुर नामक नगर था। उसके प्रासाद के स्वर्णवर्णीय शिखरों की कलाकृति अनायास उद्गत पीतपुष्पा वन्यलता-सी लगती थी। (श्लोक १-२)

इसके चारों ओर वर्तुलाकार एक परिखा थी जिसके स्वच्छ और निर्मल जल में नगर प्राकार दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होता था। नगर के उद्यान स्थित क्यारियों के निकटवर्ती श्याम वृक्षराजि जल-आहरण के लिए अवतरित मेघ-से लगते थे। नगर की रत्न-जड़ित छतों पर चन्द्रकिरण प्रतिबिम्बित होने से दही के भ्रम में गृह-मार्जार उन्हें चाटने लगतीं। मन्दिरों से निकलती अगुरु की दीर्घ धूम-शिखा खेचर कन्याओं की अनायास ही लज्जा का निवारण

करतीं। विपणि श्रेणियों में प्रलम्बित रत्नमालाएँ देखकर ऐसा लगता मानो समस्त उदधियों से रत्न आहरण कर लिया गया है। हवा में हिलती मन्दिर स्थित पताकाओं की छाया धर्मरूपी सम्पद की रक्षा के लिए नियुक्त अजगरों का भ्रम उत्पन्न करती थीं। प्रतिगृह का गृह-प्रांगण इन्द्रनील मणियों से निर्मित होने के कारण जलपूर्ण क्रीड़ावापी-सा लगता था। (श्लोक ३-९)

इस नगरी के राजा का नाम था विश्वसेन। इक्ष्वाकु वंश के चन्द्र-से वे सभी के नयनों के आनन्द थे। उनकी कीर्तिरूपी कौमुदी से यह पृथ्वी आलोकित थी। जो उनकी शरण ग्रहण करते उनके लिए वे वज्रगृह रूप थे, याचकों के लिए कल्पतरु तुल्य और श्री एवं वाक् का सौहार्दपूर्ण मिलन-स्थल। उनकी असीम कीर्ति मानो द्वितीय समुद्र ही थी; समुद्र जैसे विशाल नदियों को ग्रास कर लेता है वैसे ही वे शत्रुओं की कीर्तिगाथा का ग्रास कर लेते थे। उनके प्रताप से जब समस्त शत्रु ही दमित हो गए थे तब अस्त्रशस्त्रों का व्यवहार तो होता ही कैसे? पण्यद्रव्य की भाँति वे आयुधशाला में ही संरक्षित रहते। जो युद्ध चाहता उसके कण्ठ पर वे पैर रखते, जो शरण चाहता उसकी पीठ पर हाथ, मानो दोनों के प्रति ही वे निरपेक्ष थे। युद्ध क्षेत्र में म्यान से निकाली उनकी तलवार आगत विजयश्री का मानो कोष ही थी। नीति उनकी अनुज थी, यश उनकी प्रिया, गुण मित्र और राज्योपाधि भृत्य। अतः उनके सहचर ऐसे लगते मानो देह से ही निर्गत हुए हों। पृथ्वी को आनन्द देने के लिए ही वे ऊँचे पद पर आसीन थे। मेघ में बिजली-सी अचिरा नामक उनकी पत्नी थी। रमणियों में वह चूड़ामणि थी, गुणों में भी वैसे ही सच्चरित्रा थी। साध्वी पत्नियों में अग्रगण्या वे बाहर में जैसे मुक्तामाला को धारण किया जाता है उसी तरह पति को दिन-रात हृदय में धारण किए रहती थीं। उनका रूप देखकर लगता था मानो स्वर्ग की देवियों का निर्माण भी उनके निर्माण के पश्चात् अवशिष्ट परमाणुओं से हुआ था। जाह्नवी जैसे पृथ्वी को पवित्र करती है उसी प्रकार पृथ्वी-वन्दिता वे पृथ्वी को पवित्र करती थी। विनय से झुके उनके कन्धों को देखकर लगता मानो सस्नेह वे धरती को देख रही हों कारण वह पृथ्वी उनके स्वामी द्वारा रक्षिता थी। सोमनस वन में विविध वर्ण के फूल जैसे पंक्ति-

बद्ध भाव से विकसित होते हैं उसी प्रकार रमणियों के समस्त गुण उनमें विकसित हुए थे। विश्वसेन और अचिरा ने इन्द्र और इन्द्राणी की तरह सुख भोग करते हुए दीर्घकाल व्यतीत किया।

(श्लोक १०-२४)

अनुत्तर विमान के सर्वश्रेष्ठ स्थान सर्वार्थसिद्धि-से मेघरथ का जीव पूर्णायु भोग कर भाद्र कृष्णा सप्तमी को चन्द्र जब भरणी नक्षत्र में था वहाँ से च्युत होकर रानी अचिरा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के शेष याम में जब वे सुख-शय्या पर शायीन थीं तब उन्होंने चौदह महास्वप्नों को अपने मुख में प्रवेश करते देखा: मदगन्ध से आकृष्ट भँवरों की गुंजार से मानो उनके मुख में प्रवेश करना चाह रहे हों ऐसा एक श्वेत हस्ती, कैलाश पर्वत की शुभ्रता मानो जीवन्त हो उठी हो या समस्त श्वेत कमलों की शुभ्रता को आत्मसात् कर लिया हो ऐसा एक श्वेत वृषभ, जिसकी पूँछ रत्नकमल की कलिका-सी लगती थी, ऐसे ही पूँछ उठाए एक केशरी सिंह, मानो उनकी ही द्वितीय आकृति हो ऐसी हस्तीद्वय द्वारा अभिसिंचित लक्ष्मी, मानो आकाश में इन्द्रधनुष उदित हुआ हो या श्री व आकाश को अलंकृत किया हो ऐसी पंचवर्णीय दिव्य पुष्पमालाएँ, स्वर्ग के दर्पण रूप कौमुदी मण्डित पूर्णचन्द्र, रात्रि को भी जो दिन की तरह उज्ज्वल कर दे ऐसा सहस्रमाली सूर्य, नृत्यरत क्षुद्र पताकाओं की मानो नृत्यशाला हो व दृष्टि के लिए आनन्द-सा नयनाभिराम एक ध्वजदण्ड, विकसित सुरभियुक्त कमलों से जिसका मुख आवृत है ऐसा जलपूर्ण एक कुम्भ, श्री की मानो पीठिका या विकसित कमल का मानो ह्रद हो ऐसा कमल शोभित जलपूर्ण सरोवर, तरंगरूपी हाथों से आकाश स्थित मेघ को जो स्पर्श करना चाहता हो ऐसा अनन्त-विस्तृत एक समुद्र, ध्वजाओं से शोभित रत्न-जड़ित स्वर्गीय प्रासाद-सा एक अतुलनीय विमान, देवताओं के निर्माण के लिए रक्षित परमाणु पुंज जिसे आलोक विच्छुरित हो रहा हो ऐसी रत्नराशि, लप-लप करती जिह्वा की भाँति लपलपाती शिखा जो समग्र अन्धकार का ग्रास करना चाह रही हो ऐसी निर्धूम अग्नि।

(श्लोक २५-४१)

रानी अचिरा ने नींद से जागकर राजा विश्वसेन को स्वप्नों से अवगत कराया। सुनकर राजा बोले, 'इन स्वप्नों के दर्शन से मुझे

लगता है तुम्हारे सर्वगुण युक्त त्रिलोक रक्षक एक पुत्र होगा।'
(श्लोक ४२-४३)

दिन में बुलाए गए नैमित्तिकों ने भी यही बात कही। बोले—'देव, इन स्वप्नों के दर्शन के फलस्वरूप आपका पुत्र या तो राज्य चक्रवर्ती होगा या धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर होगा।' राजा ने यह सुनकर उन्हें पुरस्कृत कर विदा किया। रानी पृथ्वी की तरह पुत्र-रत्न को गर्भ में धारण किए हुए रही। (श्लोक ४४-४५)

उस समय कुरुदेश में व्याधि, महामारी आदि के प्रकोप से विभिन्न प्रकार से लोकक्षय हो रहा था। प्रजा ने शान्ति के लिए बहुत से उपाय ज्ञात कर उनका प्रयोग किया; किन्तु बड़वानल की तरह वह शान्त नहीं हो रहा था; किन्तु महारानी अचिरा देवी के गर्भ में उत्तम जीव के आगमन मात्र से ही वह शान्त हो गया। कारण तीर्थंकरों के अतिशय की कोई सीमा नहीं होती।
(श्लोक ४६-४८)

नौ महीने साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर ज्येष्ठ मास की कृष्णा त्रयोदशी के दिन चन्द्र जब भरणी नक्षत्र में था और समस्त ग्रह उच्च स्थान में थे, तब अचिरादेवी ने पूर्व दिशा जैसे मृगलांछन चन्द्र को जन्म देती है वैसे ही मृगलांछन एक पुत्र को जन्म दिया। मुहूर्त्त भर के लिए त्रिलोक में सर्वत्र एक आलोक परिव्याप्त हो गया जिससे नरक के जीवों ने भी पल भर के लिए आनन्द का अनुभव किया। (श्लोक ४९-५१)

दिक्कुमारियों का आसन कम्पित हुआ। अवधिज्ञान से तीर्थंकर का जन्म अवगत कर वे आनन्दित हुईं। अधोलोक की आठ दिक्-कुमारियां तीर्थङ्कर के गृह में आईं और तीर्थङ्कर एवं उनकी माता को यथाविधि प्रणाम कर माता को अपना परिचय दिया और 'डरिए मत' ऐसा कहकर घूर्णिवायु से एक योजन तक की भूमि की धूल को दूर किया। फिर जिनेन्द्र और जिनेन्द्र की माता से न अधिक दूर, न अधिक पास खड़े होकर उनका गुणगान करने लगीं। ऊर्ध्वलोक से भी पूर्वानुसार आठ दिक्कुमारियां आईं और वारि वर्षण कर भूमि को स्वच्छ कर वे भी उनकी तरह खड़ी रहकर गीत गाने लगीं। पूर्व रुचक से आठ दिक् कुमारियां आईं और हाथ में दर्पण लेकर जिन और जिन-माता को प्रणाम कर

पूरब की ओर खड़ी होकर गाने लगीं। दक्षिण रूचक से आठ दिक् कुमारियाँ आईं और हाथ में स्वर्णकलश लेकर अर्हत् और अर्हत् माता को प्रणाम कर दक्षिण दिशा में खड़ी होकर गाने लगीं। पश्चिम रूचक से भी आठ दिक् कुमारियाँ आईं और जिन एवं जिन-माता को प्रणाम कर पश्चिम दिशा में जाकर खड़ी हो गईं और हाथ में पंखा लेकर उनका गुणगान करने लगीं। उत्तर रूचक से भी आठ दिक् कुमारियाँ आईं और उन्हें प्रणाम कर हाथ में चँवर लिए उनका गुणगान करती हुई उत्तर दिशा में जाकर खड़ी हो गईं। मध्यवर्ती कोण से चार दिक् कुमारियाँ आईं और पूर्व की तरह तीर्थंकर और तीर्थंकर माता को प्रणाम कर हाथ में दीपक लिए गाती हुई मध्यवर्ती कोण में जाकर खड़ी हो गईं। रूचक द्वीप के मध्य भाग से चार दिक् कुमारियाँ आईं और उन्हें प्रणाम कर तीर्थंकर की नाभिनाल चार अंगुल रखकर शेष काट दी। तदुपरान्त जमीन में गड्ढा खोदकर जैसे न्यास रख रही हों, इस भाँति उस नाभिनाल को उस खड्डे में रखकर रत्नादि से उसे पूरित कर उसे दूर्वाघास से आच्छादित कर दिया। सूतिका गृह के पूर्व, उत्तर और दक्षिण में उन्होंने चार चतुःशाल के कदली गृह का निर्माण किया। उन्होंने अर्हत् और अर्हत् माता को दक्षिण दिशा के कदली गृह में ले जाकर चतुःशाल के मध्यवर्ती स्थान में रखे रत्नजड़ित स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाया। दिव्य सुगन्धित तेल से उनकी देह-मर्दन की, उनके शरीर पर गन्ध-द्रव्यों का लेपन किया। तदुपरान्त उन्हें पूर्व दिशा के कदली गृह में ले जाकर रत्न-सिंहासन पर बैठाया और सुगन्धित जल, फूलों के इत्र और स्वच्छ जल से स्नान करवाया। वे उन्हें दिव्य वस्त्र और अलङ्कार पहनाकर उत्तर दिशा के कदली गृह में ले गईं और रत्न-सिंहासन पर बैठाया। आभियोगिक देवों द्वारा क्षुद्र हिम पर्वत से लाए गोशीर्ष चन्दन काष्ठ को जलाकर उसकी भस्म को ताबीज में भरा और उन ताबीजों को दोनों के हाथों में बाँध दिया। आप पर्वत की तरह परमायु प्राप्त करें कहकर उन्होंने तीर्थंकर के कानों में दो रत्नमय पत्थर ठोंके और जिन एवं जिन-माता को प्रणाम कर प्रसूति गृह में ले आकर शय्या पर सुला दिया और पास खड़े होकर जातक का गुणगान करने लगीं। (श्लोक ५२-७१)

सिंहासन कम्पित होने से शक्र तीर्थङ्कर का जन्म अवगत कर अनुचरों सहित पालक विमान में बैठकर वहां आया। हे रत्नगर्भा, मैं आपको प्रणाम करता हूं' कहकर उन्होंने तीर्थङ्कर-माता को प्रणाम किया और अवस्वापिनी निद्रा में निद्रित कर उनके पार्श्व में अर्हत् का प्रतिरूप रखकर चार दर्पणों में प्रतिबिम्बित होने की भांति पांच रूप धारण किए। एक रूप में उन्होंने प्रभु को गोद में लिया, अन्य दो रूपों में हाथ में चँवर, एक रूप में छत्र और पांचवें रूप में वज्र धारण कर प्रभु के आगे-आगे चलने लगे। मुहूर्त्त मात्र में वे मेरुपर्वत स्थित अतिपाण्डुकबला में उपस्थित हुए और प्रभु को गोद में लेकर वहां रखे हुए सिंहासन पर बैठ गए। तदुपरान्त अच्युतादि अन्य त्रेसठ इन्द्र मानो पूर्व सूचनानुसार आए हों इस भांति सिंहासन कम्पित होने के कारण वहां उपस्थित हो गए। समुद्र, नदियों एवं सरोवर आदि से लाए जल से अच्युतेन्द्र ने प्रभु को स्नान करवाया। तदुपरान्त अन्य त्रेसठ इन्द्रों ने भी नव-जातक को स्नान करवाया। फिर ईशानेन्द्र ने पांच रूप धारण कर एक रूप से प्रभु को गोद में लिया, अन्य तीन रूप से छत्र चामरादि लेकर पांचवें रूप में त्रिशूल धारण किए उनके सम्मुख खड़े हो गए। मुहूर्त मात्र में तब शक्र ने प्रभात के निर्मल आलोक-से प्रभु के चारों ओर चार स्फटिक वृष निर्मित किया। मानो फुआरे से जल निकल रहा है, इस प्रकार निर्मल जल उनके सींगों से निकाल कर भगवान् का स्नानाभिषेक करने लगे। तदुपरान्त देवदूष्य वस्त्र से उनकी देह पोंछकर गोशीर्ष चन्दन का लेप किया और दिव्य अलङ्कार एवं मालाओं से उन्हें विभूषित किया। तत्पश्चात् यथाविधि उनकी आरती कर आनन्दविह्वल होकर निम्नलिखित मंगलकर स्तव पाठ करने लगे : (श्लोक ७२-८४)

'जो समस्त जगत् के कल्याण कारण हैं, महान् उदार हैं, संसार रूप मरुस्थल के लिए एकमात्र छाया प्रदानकारी वृक्षरूप हैं ऐसे आपको, हे भगवन्, मैं प्रणाम करता हूं। हे देवाधिदेव, रात्रि संचित पाप कर्मों के लिए ऊषा रूप आपको साक्षात् सौभाग्योदय से ही आज मैंने प्राप्त किया है। हे त्रिलोकनाथ, आपके दर्शन कर आज मेरे नेत्र सार्थक हो गए हैं, उनके हाथ भी सार्थक हुए हैं जिन्होंने हाथों से आपका स्पर्श किया है। एक समय आप विद्याधरों

के राजा थे, अन्य समय महर्द्धिक देव थे। कभी आप बलदेव थे तो कभी अच्युतेन्द्र, कभी अवधिज्ञानी चक्रवर्ती तो कभी ग्रैवेयक विमान के अहमिन्द्र। कभी आप मनःपर्यव ज्ञानी राजा थे तो कभी सर्वार्थ-सिद्धि विमान के अलङ्कार रूप अहमिन्द्र। हे देवश्रेष्ठ! किस जीवन में आप श्रेष्ठ नहीं रहे? अब तीर्थङ्कर रूप में जन्म ग्रहण किए आपका गुणगान समाप्ति प्राय हो गया है। आपके गुणों का वर्णन करूँ ऐसी क्षमता मुझमें नहीं है। तो भी हो अन मैं अपनी इच्छा निवेदन करता हुआ कहता हूं कि आपकी भक्ति मुझे जन्म-जन्म में प्राप्त हो।' (श्लोक ८५-९२)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र ईशानेन्द्र की गोद से प्रभु को लेकर शीघ्रतापूर्वक महारानी अचिरा के कक्ष में गए और विधिवत् जातक को उनके पार्श्व में सुला दिया। प्रभु के नेत्रों को आनन्द देने के लिए उन्होंने चन्द्रातप पर श्रीदाम गण्डक को बांध दिया और देवदूष्य वस्त्र और एक जोड़ा कर्णाभरण उपाधान के पास रख दिया। तदुपरान्त जिनकी आज्ञा अलंघ्य हो, ऐसे शक्र ने देवों द्वारा घोषणा करवाई—यदि कोई हीन उद्देश्य से चाहे वह देव, असुर, मनुष्य कोई भी हो तीर्थङ्कर और तीर्थङ्कर-माता का अनिष्ट करने की चेष्टा करेगा तो उसका मस्तक अर्जक पुष्प की तरह सप्तधा विभक्त हो जाएगा। (श्लोक ९३-९६)

शक्र के आदेश से वैश्रवण ने हस्तिनापुर नगरी में स्वर्ण और रत्नों की वर्षा की। सूर्य जैसे दिन में प्रस्फुटित पद्म की अवस्वापिनी निद्रा हरण कर लेता है उसी प्रकार शक्र ने अर्हत्-बिम्ब और अर्हत्-माता की अवस्वापिनी निद्रा हरण कर ली। तदुपरान्त तीर्थङ्कर के लालन-पालन के लिए पांच धात्रियां नियुक्त कर वे नन्दीश्वर द्वीप के मेरुपर्वत पर गए। वहां सभी शाश्वत जिनेश्वरों का अष्टाह्निका महोत्सव कर अपने-अपने निवास को लौट गए।

(श्लोक ९७-१००)

अवस्वापिनी नींद टूट जाने से रानी ने दिव्य गन्ध, वस्त्र और अलङ्कार सहित स्वपुत्र एवं एक प्रकाश को देखा। उनकी दासियों ने उत्साहित और आनन्दमना होकर पुत्र-जन्म और दिक्-कुमारियों द्वारा किए विभिन्न कृत्यों का वृत्तान्त राजा को सुनाया। राजा आनन्दित हुए और उन्हें प्रचुर धन दान दिया। फिर महा

धूमधाम से पुत्र-जन्म का महोत्सव मनाया। जातक जब गर्भ में आया था तब रोग, महामारी आदि शान्त हो गए थे अतः उन्होंने जातक का नाम रखा शान्ति। मुख लगने पर अपने अंगुष्ठ में शक्र द्वारा रक्षित अमृत का पान कर एवं धात्रियों द्वारा लालित-पालित होकर वे क्रमशः बड़े होने लगे। (श्लोक १०१-१०५)

यद्यपि वे जन्म से ही तीन ज्ञान के अधिकारी थे फिर भी बाल्यकाल को बालकों की तरह ही खेलकूद कर बिताया। क्योंकि समयोचित कृत्य ही यही उचित है। उनके द्वारा अर्हत् की अशातना न हो इसलिए उनके साथ खेलते देव जान-बूझकर हारने की चेष्टा करते; किन्तु वे सहज में ही उन्हें हारने नहीं देते। कारण, जो महान् हैं वे अन्य भाव प्रबल होने पर भी करुणा का परित्याग सहज ही नहीं करते। इस भांति नाना प्रकार की क्रीड़ा करते हुए चालीस धनुष दीर्घ काया वाले प्रभु ने श्री के क्रीड़ा-गृह रूप यौवन को प्राप्त किया। (श्लोक १०६-१०९)

राजा विश्वसेन ने शान्ति के साथ बहुत सी राजकन्याओं का विवाह किया क्योंकि जो महान् शक्तिशाली होते हैं वे पुत्र के एक विवाह से सन्तुष्ट नहीं होते। पच्चीस हजार वर्ष पूर्ण होने पर उन्होंने शान्ति को सिंहासन पर बैठाया और स्वयं धर्म-कार्य में नियुक्त हो गए। शान्तिनाथ भी यथोचित भाव से राज्य संचालन करने लगे। क्योंकि महान् व्यक्तियों का जन्म सबकी रक्षा के लिए ही होता है। तदुपरान्त उन्होंने स्व-पत्नियों के साथ भोग सुख में भी समय व्यतीत किया। क्योंकि भोगावली कर्म रहने पर तीर्थंकर को भी भोग करना पड़ता है। (श्लोक ११०-११३)

उनकी रानियों में यशोमती प्रमुख थी। सूर्य जैसे मेघ में प्रवेश करता है उसी प्रकार उसने एक चक्र को अपने मुख में प्रवेश करते देखा। (श्लोक ११४)

दृढ़रथ का जीव सर्वार्थसिद्धि विमान का आयुष्य पूर्ण कर यशोमती के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। उसी समय नींद टूट जाने के कारण यशोमती ने अपने स्वप्न की बात शान्तिनाथ को बतलाई। अवधिज्ञानधारी शान्तिनाथ ने सब कुछ सुनकर कहा—'देवी, पूर्व जन्म में दृढ़रथ नामक मेरे एक छोटा भाई था। उसके जीव ने इस समय सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर तुम्हारे गर्भ में प्रवेश

किया है। यथासमय तुम एक पुत्र को जन्म दोगी।' स्वामी से यह सुनकर वह सुबह के मेघ गर्जन को सुनकर पृथ्वी जैसे आनन्दित होती है वैसे ही आनन्दित हो गई और उसी समय से अपने गर्भ को सुचारु रूप से धारण करती रही। यथासमय उसने एक सर्व सुलक्षण युक्त मानो उसके पति का ही प्रतिरूप हो ऐसे एक पुत्र को जन्म दिया। यशोमती ने स्वप्न में चक्र को अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा था अतः पिता ने उसका नाम रखा चक्रायुध। धात्रियों द्वारा पालित होता हुआ पृथ्वी के तिलक स्वरूप चक्रायुध शिशु हस्ती की तरह क्रमशः बड़ा होने लगा। बड़े होने पर अपने पिता की भांति ही बहुत सी सुन्दर राजकन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया गया। (श्लोक ११५-१२४)

राज्य शासन करते हुए इस भांति शान्तिनाथ को पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गए। देवलोकों में जिस प्रकार देवों का उपपात होता है वैसे ही शान्तिनाथ की आयुधशाला में उज्ज्वल प्रभा सम्पन्न एक चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। चक्र के लिए उन्होंने अष्टाह्निका महोत्सव किया। पूज्य होने पर भी जो पूजा के योग्य हैं उसकी पूजा वे भी करते हैं। सूर्य जैसे समुद्र का परित्याग करता है उसी प्रकार वह चक्र आयुधशाला का परित्याग कर दिग्विजय श्री को प्राप्त करने के लिए पूर्वाभिमुख होकर चलने लगा। अरकी भांति एक हजार यक्ष द्वारा रक्षित उस चक्र का पृथ्वी आच्छादनकारी अपनी सैन्य सहित रारा अनुसरण करने लगे। प्रतिदिन एक योजन पथ अतिक्रम कर वह चक्र जहां रुकता शान्तिनाथ भी वहां १२ योजन परिमाण स्कन्धावार का निर्माण कर अवस्थित होते। इस प्रकार पथ अतिक्रम कर वे पूर्व समुद्र के अलङ्कार रूप मगध तीर्थ में आकर उपस्थित हुए दीर्घस्कन्ध शान्तिनाथ ने समुद्र सैकत पर एक ऐसे स्कन्धावार का निर्माण करवाया जिसमें समुद्र के मध्य भाग में प्रवेश की तरह प्रवेश प्रायः असम्भव था। बिना रक्तपात के युद्ध जय की इच्छा से वे मगध तीर्थ की तरफ मुख करके सिंहासन पर बैठ गए। तब बारह योजन दूरवर्ती मगधपति का सिंहासन मानो उसका एक पाया भंग हो गया हो इस प्रकार कांपने लगा। मगधपति तब मन ही मन सोचने लगे : (श्लोक १२५-१३३)

यह कैसा अघटित हो रहा है कि मेरा सिंहासन कांपने लगा

है ? तो क्या मेरा प्रयाणकाल समुपस्थित है ? या कोई मेरी समृद्धि को देख नहीं सकने के कारण मेरा सिंहासन कम्पित कर रहा है ? ऐसा विचार आते ही अवधि ज्ञान का प्रयोग कर वे जान गए कि चक्री और भावी धर्म चक्री शान्तिनाथ आए हैं। तब मगध तीर्थाधिपति मन ही मन विचार करने लगे—हाय ! अज्ञान के वशवर्ती होकर मैंने ऐसी बाल सुलभ कल्पना क्यों की ? स्वयं सोलहवें तीर्थंकर और पंचम चक्रवर्ती मुझ पर करुणा कर वहां से देख रहे हैं। उनकी तुलना में मैं क्या ? मानो सूर्य की तुलना में एक खद्योत्। वे त्रिलोकनाथ है। उनकी दीर्घ भुजाएँ त्रिलोक की रक्षा व विनष्ट करने में समर्थ हैं। जिसके सम्मुख अच्युतादि इन्द्र भी भृत्य की भांति खड़े रहते हैं उनका मुझ जैसा क्षुद्र क्या सम्मान करेगा ? फिर भी त्रिलोकपति यहां आए हैं तो सूत्र द्वारा जैसे चांद को सम्मानित किया जाता है वैसे ही अपने नगण्य ऐश्वर्य से मैं उनका सम्मान करूँगा। (श्लोक १३८-१४२)

ऐसा सोचकर मगध तीर्थाधिपति उपहार सहित शान्तिनाथ के पास आए और आकाश में स्थित होकर उन्हें प्रणाम करते हुए बोले—हे त्रिलोकनाथ, मेरे सौभाग्यवश ही मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति को आपके सम्मुख आने का अवसर आपने दिया है। दुर्गाधिपति जिस प्रकार आपका आदेश पाकर दिवारात्रि दुर्ग की रक्षा करता है मैं भी उसी प्रकार आपका आज्ञावाही होकर पूर्व दिशा का रक्षक बनकर रहूंगा !' (श्लोक १४३-१४५)

ऐसे कहकर उन्हें प्रणाम कर भृत्य की भांति दिव्य अलङ्कार और वस्त्र उपहार में दिए। शान्तिनाथ ने उन्हें सम्मानित कर विदा किया। तब चक्ररत्न ने दक्षिण दिशा की ओर चलना प्रारम्भ किया। शान्तिनाथ भी चक्र का अनुसरण करते हुए निर्विघ्न रूप से अगणित सैन्य बल सहित दक्षिण समुद्र के तट पर पहुंचे। समुद्र तट पर रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठ कर वे वरदामपति का ध्यान करने लगे। वरदामपति अवधि ज्ञान से पंचम चक्री का आगमन जानकर विनाश से त्राण पाने के लिए उपहार लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुए। फिर चक्री को प्रणामकर उनका दासत्व स्वीकार करते हुए उन्हें दिव्य वस्त्रालङ्कार उपहार दिए। त्रिलोकीनाथ ने भी उन्हें आप्यायित कर विदा दी। तब चक्र ने पश्चिम दिशा की ओर प्रयाण

किया। (श्लोक १४६-१५२)

पान और सुपारी के वृक्षों से समाच्छादित समुद्र तट पर शान्तिनाथ ने तम्बू डाला। आसन कम्पित होने से प्रभास तीर्थाधिपति वहां आए और सिंहासन स्थित शान्तिनाथ का स्वागत कर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। चक्र अब उत्तर पश्चिम पथ पर सिंधु नदी की ओर चलने लगा एवं चक्री उसका अनुसरण करते हुए पीछे-पीछे चलने लगे। सिन्धु देवी के प्रासाद के निकट सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर चलायमान नगरी की तरह उन्होंने छावनी डाली। सिंहासन पर बैठकर सिन्धु देवी की ओर देखते हुए योगी जैसे किसी को आकृष्ट करने के लिए ध्यान करता है उसी प्रकार ध्यान करने लगे। अवधि ज्ञान से स्वामी का आगमन जानकर संगृहीत उपहार लेकर भक्तिभाव से सिन्धु देवी उनके सम्मुख उपस्थित हुई। तदुपरान्त वे करबद्ध होकर बोलीं, आपके सेनाध्यक्ष जैसे आपकी आज्ञा का पालन करते हैं उसी प्रकार मैं भी अब आपके आदेश का पालन करूँगी।' ऐसा कहकर उन्हें पुनः प्रणाम कर पृथ्वी के स्वर्ण, रत्न, स्नान के लिए पादपीठ, कुम्भ और अलङ्कारादि उपहार दिए। (श्लोक १५३-१६०)

वहां से चक्र का अनुसरण करते हुए चक्री ने उत्तर पूर्व की ओर प्रयाण किया और वैताढ्य पर्वत के सम्मुख पहुंचे। वैताढ्य देव ने शान्तिनाथ को उपहार देकर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। (श्लोक १६१-१६२)

चक्र का अनुसरण करते हुए शान्तिनाथ तमिस्रा गुहा के निकट पहुंचे और कृतमालदेव को अपने अधीन कर लिया। शान्तिनाथ के आदेश से सेनापति ने चर्म रत्न की सहायता से सिन्धु नदी अतिक्रम कर सिन्धु का दक्षिण भाग जीत लिया। तदुपरान्त सेनापति ने दण्ड रत्न की सहायता से तमिस्रा के उभय द्वार को खोल दिया। हस्तीरत्न पर आरूढ़ होकर चक्रवर्ती तब अपने वर्द्धित होते प्रताप को लेकर सैन्य सहित सिंह की भांति उस गुफा में प्रविष्ट हुए। अन्धकार दूर करने के लिए सूर्य जैसे पूर्वाञ्चल पर आरोहण करता है उसी प्रकार उन्होंने मणिरत्न को हस्ती के दक्षिण कुम्भ देश पर रखकर गुफा के दोनों ओर ४९ मण्डलों का निर्माण करते हुए वे अग्रसर हुए। तदुपरान्त गुहा के अभ्यन्तर स्थित उन्मग्ना

और निमग्ना नदियों पर वर्द्धकी रत्न द्वारा सेतु निर्माण किया यद्यपि उन नदियों को पार करना दुष्कर था फिर भी उन्होंने सैन्य सहित उन नदियों को पार किया। शक्तिशाली के लिए सब कुछ सहज है। सूर्य के प्रताप से प्रभात में जैसे कमल की पंखुड़ियाँ खुल जाती है उसी प्रकार उनके प्रताप से गुहा द्वार पर उनके उपस्थित होते ही वह उत्तर द्वार अपने आप खुल गया। उस द्वार से वे सैन्य सहित गुहा से बाहर निकले। शक्तिशाली का पथ नदी के पथ की तरह ही निर्बाध होता है। (श्लोक १६३-१७२)

चक्री को सैन्य सहित निकलते देख म्लेच्छगण एकत्र होकर इस भांति बोलने लगे—'सिंह रक्षित स्थान में हस्ती के प्रवेश की भांति मृत्यु की कामना कर कौन यहाँ प्रवेश कर रहा है? पदातिक सेना जो गर्दभ की भांति धूलि से आवृत होकर स्वयं को सचमुच की सेना समझकर फलांगे लगा रही है वे कौन हैं? वृक्ष पर स्थित मर्कट की तरह हस्ती पृष्ठ पर आरूढ़ होकर कौन आ रहा है? स्रोत में प्रवाहित जल पक्षियों की तरह कौन अश्व पर चढ़े हुए हैं? पंगु की तरह रथ पर कौन बैठे हैं? और यह लौह पिण्ड क्या है जो चक्राकृति है और जिससे अग्नि शिखाएँ निकल रही है। सियार की तरह ये सब मूर्ख मनुष्य हमारे साथ विवाद करने आ रहे हैं? अधिक क्या बोलना है शत्रु तो विष की भाँति होता है। इसीलिए कौए जैसे पतंगों को विनष्ट कर देते हैं हम भी उसी प्रकार इन्हें विनष्ट कर डालें। (श्लोक १७३-१७९)

परस्पर इस प्रकार बोलते हुए, चक्री की अग्रगामी सैन्य से युद्ध करने के लिए नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र हाथ में लिए वे अग्रसर हुए। लोह मुद्गर लिए दीमक के घरों की तरह उन्होंने अपने हाथियों को जमीन पर सुला दिया। लट्ठ मार-मारकर मिट्टी के घड़े या बर्तनों की तरह रथों को चूर-चूर कर दिया। शूकर मांस को पकाने के लिए जैसे शल्य से उसे विद्ध करना पड़ता है उसी प्रकार तीर व बरछो से अश्व को विद्ध कर डाला। मन्त्रों द्वारा भूतों को विमोहित करने की तरह बड़े-बड़े लौह कीलकों से उन्हें विमोहित कर डाला। दुर्विनीत किरातों ने बन्दर की तरह कूद-कूद कर विभिन्न प्रकार से उनकी हत्या कर, कुचल कर, थप्पड़ मार-मार कर, चीत्कार कर, चक्री की अग्रगामी सेना को वन-विध्वंस

करने की भांति विध्वंस कर दिया। (श्लोक १८०-१८४)

अग्रगामी सेना को विध्वंस होते देखकर भयंकर क्रोध से तप्त वर्ण कृतान्त की तरह अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर सेनापतिरत्न अपने हाथ में खड्गरत्न लेकर अश्वरत्न पर आरोहण कर किरातों की ओर दौड़े। तीन रत्न सेनापतिरत्न, खड्गरत्न, अश्वरत्न के एक साथ एकत्व होने से वे तीनों प्रज्वलित अग्नि-से लगने लगे। अश्वश्रेष्ठ गरुड की तरह द्रुतगति से अग्रसर होकर धरती को विदीर्ण करता हुआ सेनापति का मन की गति से भी तेजगति से दौड़ा। जलस्रोत के सम्मुख जैसे वृक्ष नहीं ठहरते हैं वैसे ही सेनापति रत्न के आक्रमण के सामने उनके अश्वारोही और पदातिक सेना खड़ी नहीं रह सकी। कोई गह्वर में कूद पड़ा, कोई झाड़ झंखाड़ में छिप गया, कोई पर्वत पर चढ़ गया, कोई जल में घुस गया। किसी ने अस्त्रों का परित्याग कर दिया, कोई निर्वस्त्र हो गया, कोई मृत की भांति स्थिर हो गया, कोई जमीन पर लोटने लगा। वृक्ष की शाखा के टूटकर गिरने की तरह किसी का हाथ कट कर गिर गया, फलों की तरह किसी का माथा जमीन पर गिर पड़ा, हथेलियां पंखुरियों की भांति झर कर गिर पड़ी। किसी का दांत टूट गया, किसी का पैर; किसी की खोपड़ी खाली बर्तन की तरह खन-खन करने लगी। अश्वरत्न सहित जब सेनापतिरत्न समर रूपी समुद्र में अवतरित होते हैं तो जल-जन्तुओं की तरह शत्रु सैन्य का विनष्ट होना स्वाभाविक है। (श्लोक १८५-१९१)

सेनापति द्वारा इस प्रकार अनुस्यूत होकर किरातगण उसी प्रकार चारों ओर बिखर गए जैसे धुनी हुई रूई हवा में बिखर जाती है। कई योजन दूर जाकर लज्जा और क्रोध से भरे वे विचार-विमर्श के लिए एकत्र हुए। (श्लोक १९५-१९६)

हाय! वैताढ्य पर्वत को लांघकर यहां आने की यह विपत्ति क्यों संघटित हुई? उद्धत समुद्र तरंगों की तरह विशाल सैन्य-वाहिनी लिए आकर उन्होंने हमारी भूमि को आच्छादित कर दिया है। उनकी सेना के एक व्यक्ति ने हमारे प्रतापी योद्धाओं को हरा दिया। जिनकी भुजाएँ साहस से फूल उठती थीं ऐसे हम लज्जा के मारे स्वयं की ओर देख भी नहीं सकते। अब तो हम मुँह दिखाने योग्य भी नहीं हैं। तो क्या अब हम ज्वलन्त आग में प्रवेश

कर जाएँ या ऊँचे पहाड़ों से कूद पड़ें ? या हम विष पान करें या गले में फांसी लगाकर ऊँची वृक्ष शाखाओं पर लटक जाएँ या पुराने कपड़े को फाड़ने की तरह अपने पेट को फाड़ दें या दांतों से अपनी जीभ को कद्दू की तरह कतर दें ? जिस तरह भी हो अब तो मृत्यु ही हमारा शरण-स्थल है। पराजय के पश्चात् कौन स्वाभिमानी व्यक्ति बचना चाहता है ? शत्रु को पराजित करने का यदि कोई उपाय हो सके तो हम अपने कुलदेव मेघकुमारों का आह्वान कर पूछें। जिनका सब कुछ लुट गया है, शत्रुओं द्वारा जिनका पौरुष खंडित हो चुका है, उनके तो कुलदेव ही एकमात्र आश्रय हैं। (श्लोक १९७-२०६)

ऐसा विचार कर चक्री के प्रताप से दग्ध होकर वे मानो सिन्धु नदी में डूबने जा रहे हैं इस भांति सिन्धु के तट पर पहुंचे। सर्वस्व खो देने वाले जुआड़ियों की तरह वे नग्न और दुःखार्त होकर सिन्धु के संकत पर सीधे लौट गए। कुल देवताओं की कृपा प्राप्त करने के लिए वे तीन दिन तक उपवास कर वहीं रहे। कारण देवताओं पर भक्ति से ही विजय प्राप्त होती है। तीन दिन के पश्चात् मेघकुमार देव वहां आए और आकाश में स्थित रहकर बोले—'वत्सगण, दुःखित मत होओ। तुम्हें क्या कष्ट है हमें बताओ।' तब वे बोले—'कोई चक्रवर्ती हमारी हत्या करने आया है। उसके भय से हम काक पक्षी की तरह यहाँ भाग आए हैं। हे देवगण, आप हमारी रक्षा कीजिए, आप लोग ही हमारे एक मात्र शरण्य हैं। जब कोई किंकर्त्तव्यविमूढ़ व विपन्न हो जाता है तब इष्टदेव ही उनके आश्रय होते हैं।' (श्लोक २०७-२९२)

मेघकुमार देव बोले—'दुःख परित्याग करो। हम तुम्हारे शत्रु को जल में डुबा कर मार डालेंगे।' (श्लोक २९३)

तब पृथ्वी को समुद्र में बदल डालने की तरह मेघकुमार देव शान्तिनाथ की सेना पर तीक्ष्ण शर रूपी वारि वर्षण करने लगे। अपनी छावनी को जल में डूबते देख चक्री ने चर्मरत्न को अपने हाथों से स्पर्श किया। मुहूर्त्त भर में चर्मरत्न बारह योजन तक फैल गया और समुद्र फेन की तरह जल पर तैरने लगा। शान्तिनाथ के आदेश से समस्त सैन्य लंबर डाली नौका की तरह उस पर चढ़ गई। तदुपरान्त उन्होंने चर्मरत्न की तरह छत्ररत्न को स्पर्श

किया। छत्ररत्न ने भी बारह योजन तक विस्तृत होकर चर्मरत्न को आच्छादित कर डाला। वातायन पर दीप रखने की भाँति अन्धकार दूर करने के लिए नरश्रेष्ठ शान्तिनाथ ने छत्ररत्न की हथेली पर मणिरत्न रखा। वहाँ सुबह बोया धान दुपहर में पक जाता। अतः सैनिकों ने उन्हें ही खाना प्रारम्भ कर दिया। गाथापति रत्न में ऐसी शक्ति होती है। चक्रवर्ती शान्तिनाथ ने इस प्रकार समुद्र यात्री वणिक की तरह उसी महा समुद्र में सात दिन व्यतीत किए। (श्लोक २१४-२२१)

इस पर चक्ररत्न के अधिष्ठायक यक्ष क्रुद्ध हो गए। वे हाथ में तलवार लेकर मेघकुमार देवों के पास जाकर बोले—'यह क्या कर रहे हो तुम लोग? क्या तुम्हें मतिभ्रम हुआ है कि तुमने अपनी शक्ति और अन्य की शक्ति का परिमाप नहीं किया? एक तरफ है आकाश को छूता स्वर्ण शिखर मेरु और दूसरी ओर है मिट्टी और बालू से बनी जंघा ऊँची बल्मीक। एक ओर है समस्त पृथ्वी को आलोक-दानकारी सूर्य और दूसरी ओर है टिमटिमाता क्षुद्र खद्योत। एक ओर है महाशक्तिशाली गरुड़ और अन्य ओर है नगण्य नाग। एक ओर है पृथ्वी को धारण करने वाला नागराज और दूसरी ओर है विषहीन निर्जीव सर्प। एक ओर है स्वम्भूरमण समुद्र और दूसरी ओर है गृहांगण की क्रीड़ा वापी। एक ओर है त्रिजगत् पूजित चक्री और तीर्थंकर और अन्य ओर है नगण्य म्लेच्छ जिनपर जयलाभ करने हम यहाँ आए हैं। अतः तुम लोग जाओ, इस स्थान का परित्याग करो नहीं तो शान्तिनाथ की आज्ञा वहन करने वाले हम तुम्हारे इस अविनय को सहन नहीं करेंगे। यह याद रखो।'
(श्लोक २२२-२२८)

यक्ष देवों के इस प्रकार भर्त्सना करने पर मेघकुमार देव म्लेच्छों के पास आकर उन्हें समझाते हुए बोले—'तुमलोग शान्तिनाथ की शरण ग्रहण करो। वे ही तुम्हारे शरण्य हैं।' यह सुनकर म्लेच्छगण हाय-हाय कर मदविहीन हाथी की तरह शान्त हो गए! फिर किरातगण नाना वाहन, अलङ्कार, मूल्यवान वस्त्र, स्वर्ण और रौप्य लिए शान्तिनाथ के पास गए और धरती पर लोट-पोट होकर उनकी वश्यता स्वीकार करते हुए बोले—
(श्लोक २२९-२३२)

'हे प्रभु ! अन्य नृपों की तरह हम कभी किसी के वशीभूत नहीं हुए। इसीलिए जब आप यहाँ आए, हमने अज्ञानतावश आपके विरुद्धाचरण कर अपराध किया। हम पर दया करें और हमारा अपराध क्षमा करें। हमें आदेश दीजिए। अब हम आपके अधीन रहेंगे। इससे अधिक हम और क्या कह सकते हैं ?' (श्लोक २३३-२३५)

शान्तिनाथ ने उनका उपहार ग्रहण कर उन्हें आश्वस्त किया। सेनापति ने सिन्धु के उत्तर प्रान्त को जीत लिया। इस प्रकार गंगा और सिन्धु के मध्यवर्ती भू-भाग को स्वसैन्य द्वारा आच्छादित कर वे क्षुद्र हिमवन्त पर्वत के निकट गए। क्षुद्र हिमवन्त पर्वत के देवगण ने गोशीर्ष चन्दन, पद्म ह्रद के जल सहित अन्य जल और रत्न भेंट कर चक्री की अभ्यर्थना की। फिर शान्तिनाथ ऋषभकूट पर्वत गए और कांकिनी रत्न से यथा नियम 'चक्रवर्ती शान्तिनाथ' यह नाम उत्कीर्ण किया, तदुपरान्त वे, जिनके शत्रुओं का मनोबल भंग हो गया था, रथ पर आरूढ़ होकर लौटते हुए वैताढ्य पर्वत की तलहटी में उपस्थित हुए। (श्लोक २३६-२४०)

इह और परकाल के सुखों के लिए उभय श्रेणियों के विद्याधर राजाओं ने चक्री की सम्वर्द्धित किया। फिर वे गंगा नदी के तट पर गए और उसे जीत लिया। गंगा के उत्तर प्रान्त पर सेनापति ने विजय प्राप्त कर ली। तब शान्तिनाथ खण्डप्रपाता गुहा के निकट गए और जयमालदेव को जीत लिया। दण्डरत्न की सहायता से सेनापति के गुहाद्वार खोल देने पर चक्र का अनुसरण करते हुए चक्री ने उसमें प्रवेश किया। पूर्व की भांति उन्होंने मणिरत्न और कांकिणीरत्न कृत मण्डल के आलोक से प्रदीप द्वारा जैसे घर के अन्धकार को दूर किया जाता है वैसे ही गुहा के अन्धकार को दूर किया। फिर सेतु द्वारा उन्होंने सहज ही उन्मग्ना और निमग्ना नदियों को अतिक्रमण किया। शक्तिशाली के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। सिंह की तरह चक्री सैन्य सहित दक्षिण द्वार से निकले जो कि उनके आने पर अपने आप खुल गया था।

(श्लोक २४१-२४७)

गंगा के विस्तृत संकत पर जहां गंगा की तरंगों की तरह अश्व घूम रहे थे, चक्री ने अपनी छावनी डाली। निसर्प आदि नव रत्न जो कि गंगा के मुहाने के निकट अवस्थित थे शान्तिनाथ के

पास आए और उनकी वश्यता स्वीकार की। गंगा के दक्षिण प्रान्त पर जहां म्लेच्छ रहते थे उसे गांव जीतने की भांति सेनापति ने अनायास जीत लिया। इस प्रकार आठ सौ वर्षों के पश्चात् भरत क्षेत्र के छह खण्डों को छह रिपुओं की भांति जीत कर चक्री ने वहां से प्रत्यावर्तन किया। (श्लोक २४८-२५१)

दीर्घ पथ अतिक्रमण कर नरकुञ्जर शान्तिनाथ क्रमशः श्री के निवास रूप हस्तिनापुर लौट आए। देवों की भांति पलकहीन नेत्रों से नागरिक एवं ग्रामीणों ने उन्हें स्व-प्रासाद में प्रवेश करते देखा। शान्तिनाथ का चक्रीपद पर अभिषेक देवों और मुकुटबद्ध राजाओं ने किया। यह उत्सव बारह वर्षों तक हस्तिनापुर में चला। इन बारह वर्षों तक हस्तिनापुर को दण्ड या कर से मुक्त कर दिया गया। तदुपरान्त वे एक हजार अनुचर यक्ष, चौदह रत्न और नवनिधियों द्वारा स्वतन्त्र भाव से अभिषिक्त हुए। वे चौंसठ हजार रानियों से परिवृत थे। उनके हाथी, रथ और अश्व प्रत्येक की संख्या चौंसठ-चौंसठ हजार थी। वे छियानवे करोड़ गांव, छियानवे करोड़ पदातिक और बत्तीस-बत्तीस हजार राज्य व राजन्य के अधीश्वर थे। उनके ३७३ रसोइए थे और उनके राज्य में १८ जातियां एवं १८ उपजातियां थीं। वे ७२ हजार वृहद् नगर, ३९९ हजार पत्तन, ४८ हजार द्रोणमुख, २४ हजार सामान्य नगर और मण्डलों के अधीश्वर थे। वे २० हजार रत्नों की खानें, १६ हजार खेट, १४ हजार निगम और ५५ अन्तर्द्वीपों के मालिक थे। वे ३९ कर्वटों के प्रमुख और अवशिष्ट समस्त भरत के छह खण्डों के अधीश्वर थे। चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त होने के पश्चात् ८०० वर्ष कम १९ हजार वर्ष तक नृत्य-गीत अभिनयादि देखकर पुष्प चयन एवं जलक्रीड़ादि करते हुए उन्होंने व्यतीत किए। (श्लोक २५२-२६६)

उसी समय भूकम्प द्वारा कम्पित हुए हैं इस प्रकार ब्रह्मलोक के लोकान्तिक देवों के सिंहासन कम्पित हुए। सारस्वत आदि देवों ने चकित होकर सोचा यह क्या हुआ? फिर अवधि ज्ञान के प्रयोग द्वारा एक दूसरे को बोले—'सुनो-सुनो, जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में अर्हत् शान्तिनाथ का दीक्षाकाल उपस्थित हुआ है। उनकी शक्ति से मानो चैतन्य प्राप्त कर सिंहासनों ने उनकी दीक्षापूर्व के हमारे कर्तव्यों का स्मरण करा दिया है। तीन ज्ञान के धारक

वे स्वयं भी सब कुछ जानते हैं फिर भी हम जाकर उन्हें यह बतलाएँ कि उनके व्रत ग्रहण का समय हो गया है। यह परम्परागत है।'

(श्लोक २६७-२७१)

परस्पर इस प्रकार वार्तालाप कर सारस्वत आदि देव विमान में बैठकर शान्तिनाथ के निकट आए। उन्हें तीन बार प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया और करबद्ध होकर बोले—'प्रभु, तीर्थ स्थापना का समय हो गया है।' ऐसा कहकर उन्हें पुनः प्रणाम कर लोकान्तिक देव स्वर्ग को लौट गए। (श्लोक २७२-२७४)

एक वर्ष पूर्व तक उन्होंने जृम्भक देवों द्वारा लाए धन का दान किया। तदुपरान्त संयम रूप साम्राज्य के चक्रवर्तीत्व को प्राप्त करने के लिए अपने पुत्र जो कि उन्हीं का प्रतिबिम्ब-सा था ऐसे चक्रायुध को राज्यभार सौंप दिया। इनका दीक्षा महोत्सव भी उनके चक्रवर्ती पद के अभिषेक-उत्सव की तरह देवों, मनुष्यों और चक्रायुध द्वारा अनुष्ठित हुआ। चक्रवर्ती तब सर्वार्था नामक शिविका पर चढ़कर उसमें रखे सिंहासन पर बैठ गए। प्रथम मनुष्यों ने उस शिविका को उठाया। फिर देव पूर्व दिशा में, असुर दक्षिण दिशा में, सुपर्णकुमार पश्चिम दिशा में और नागकुमार उत्तर दिशा की ओर ले गए। (श्लोक २७४-२७८)

तदुपरान्त प्रभु सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पधारे। वहां पाटल पुष्पों ने आकाश को सन्ध्या राग से रंजित कर रखा था। ग्रीष्मकालीन श्री के मिलन से शिरीष पुष्पों से वह वन मानो हर्षित हो रहा था। स्वेद जल झरने की भांति जूँही के फूल झर रहे थे। देवधर वृक्ष की स्वर्णिम फलियां कामदेव के धनुष का भ्रम उत्पन्न कर रही थीं। धातकी के नवीन पुष्पोद्गम से आकृष्ट होकर भ्रमर पंक्तिबद्ध बने गुन-गुन गीत गा रहे थे मानो वे ग्रीष्म-लक्ष्मी को गीत सुना रहे हों। लटकती हुई खजूरों की पुष्पराजि वनलक्ष्मी के पयोधर-सी प्रतीत हो रही थी। फल-भक्षण के लिए उत्साही बने शुक पक्षियों की श्रेणीबद्ध पूँछों से वह वन मानो द्विधा विभक्त हो गया है ऐसा लग रहा था। पत्र-पल्लवों के समारोह से वह वन चातक पक्षीमय है ऐसा भ्रम हो रहा था: नागरिकगण उस वन में क्रीड़ा कर रहे थे। (श्लोक २७९-२८४)

वहां पहुंचकर भगवान् शान्तिनाथ शिविका से उतरे और

राज्य, रत्न, अलङ्कार, माल्य आदि का परित्याग किया। ज्येष्ठ मास की कृष्णा चतुर्दशी के दिन चन्द्र जब भरणी नक्षत्र में अवस्थित था सिद्धों को नमस्कार कर दो दिनों के उपवासी उन्होंने एक हजार राजाओं सहित दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा ग्रहण के साथ-साथ उन्हें मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन मन्दिरपुर के राजा सुमित्र के घर क्षीरान्न ग्रहण कर दो दिन के उपवास का पारणा किया। देवों ने रत्न वर्षादि कर वहां पांच दिव्य प्रकट किए। प्रभु जहां खड़े हुए थे वहां राजा सुमित्र ने एक रत्नवेदी का निर्माण करवाया। बिना कहीं बैठे, बिना कहीं सोए, निःस्पृह, संसार के बन्धनों से रहित, मूल और उत्तरगुणधारी भगवान् शान्तिनाथ पृथ्वी पर विचरण करने लगे। (श्लोक २८५-२९०)

इस भांति विचरण करते हुए एक वर्ष पश्चात् हस्तिनापुर के उसी सहस्राम्रवन उद्यान में वे फिर लौट आए। दो दिनों का उपवास किए नन्दी वृक्ष के नीचे जब वे शुक्ल ध्यान में बैठे थे तब घाती कर्मों के क्षय हो जाने से उसी मुहूर्त्त में वहीं उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उस दिन पौष शुक्ला नवमी थी और चन्द्र भरणी नक्षत्र में अवस्थित था। (श्लोक २९१-२९३)

सिंहासन कम्पित होने से प्रभु को केवल ज्ञान हो गया है जानकर इन्द्र देवों सहित वहां आए। देवों ने भृत्य की भांति घूर्णि-वायु उत्पन्न कर एक योजन व्यापी स्थान को धूल, कङ्कर, घास आदि से मुक्त किया। धूल शान्त करने के लिए दिव्य सुगन्धित जल की वर्षा की। तदुपरान्त घुटनों तक पुष्पों की वर्षा की। स्वर्ण शिलाओं से उस स्थान को उन्होंने आच्छादित किया। पूर्व और अन्य दिशाओं में उन्होंने सुन्दर तोरण-द्वार निर्मित किए। मध्य में एक रत्नवेदी बनाई और चातुर्दिक चित्र-विचित्र दरवाजे बनाए। सोना, चांदी एवं रत्नों से तीन प्राकारों की रचना की। रत्नमय सर्वोच्च प्राकार के बीच उन्होंने एक सौ अस्सी धनुष दीर्घ एक चैत्य वृक्ष निर्मित किया। चैत्य वृक्ष के नीचे एक अनन्य वेदी की रचना की और उस पर पूर्वाभिमुख कर एक रत्न-सिंहासन रखा। तब पूर्व द्वार से चौंतीस अतिशय से युक्त प्रभु शान्तिनाथ ने उस समवसरण में प्रवेश किया। जगद्गुरु ने उस चैत्य वृक्ष को नमस्कार कर 'नमो तीर्थाय' कहकर चतुर्विध संघ को नमस्कार किया।

कारण, यह सनातन नियम है। प्रभु पूर्व दिशा में रखे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठे। देवों ने अन्य तीन दिशाओं में उनके प्रतिरूप रखे। देव, असुर और मनुष्य अपने-अपने निर्दिष्ट द्वारों से प्रविष्ट होकर निर्दिष्ट स्थानों पर प्रभु की ओर मुख करके खड़े हो गए। उनके यान, वाहन निचले प्राकार में रख दिए गए।
(श्लोक २९४-३०५)

सहस्राम्रवन उद्यान के माली तब आनन्दपूरित नेत्रों से सम्राट् चक्रायुध के पास गए और बोले—'महाराज, आज आपकी समृद्धि वर्द्धित हो गई है। कारण, सहस्राम्रवन में भगवान् शान्तिनाथ को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है।' यह सुनकर आनन्दित बने चक्रायुध ने उन्हें पारितोषिक दिया और उसी समय प्रभु के पास पहुंचे। उन्हें प्रदक्षिणा देकर प्रणाम करके इन्द्र के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु को पुनः वन्दना कर इन्द्र और चक्रायुध ने भक्ति गद्‌गद् कण्ठ से उनकी इस प्रकार स्तुति की : (श्लोक ३०६-३१०)

'हे जगन्नाथ, आपके माध्यम से पृथ्वी आज आनन्दित हो गई है। हे ज्ञान रूपी सूर्य : आपके उदय से पृथ्वी आलोकित हो उठी है। हे जगद्‌गुरु, आनन्द के कल्पवृक्ष रूप, पूर्व जन्म के संचित पुण्य से मैंने आज आपके कल्याणक को प्राप्त किया है। हे त्रिलोकनाथ आपके दर्शन रूप स्रोत के जल ने जीव मात्र के वासनादि द्वारा कलुषित मन को धोकर पवित्र कर दिया है। कर्मनाश कर आप जब तीर्थङ्करत्व प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे तब वह निज स्वार्थ के प्रति वैराग्य और अन्य के प्रति करुणा रूप थी। संसार भय से भीत मनुष्यों के लिए आपका यह समवसरण महादुर्ग की तरह आश्रय रूप हो गया है। आप सबके अन्तःकरण को जानते हैं और सबका कल्याण करते है। अतः आप से कोई प्रार्थना नहीं करनी है। फिर भी हे नाथ, हम यही प्रार्थना करते हैं—पृथ्वी पर विचरण करते समय आप जिस प्रकार ग्राम, खान, नगर आदि का परित्याग करते हैं उसी प्रकार हमारे हृदयों का परित्याग न करें। हे भगवन्, आपके चरण-कमलों में हमारा मन भ्रमर बनकर सर्वदा संलग्न रहे।' (श्लोक ३११-३१८)

इस प्रकार स्तुति कर जब इन्द्र और चक्रायुध चुप हो गए तब भगवान शान्तिनाथ ने देशना प्रारम्भ की। (श्लोक ३१९)

'हाय, चतुर्गति रूप इस संसार में जीवों के दुःखों के बहुत से कारण हैं। गृह जिस प्रकार चार स्तम्भों पर खड़ा रहता है उसी प्रकार यह संसार भी क्रोध, मान, माया व लोभ इन चार स्तम्भों पर खड़ा है। मूल के सूख जाने पर जिस प्रकार वृक्ष सूख जाता है उसी प्रकार जब कषाय नष्ट हो जाता है तब संसार भी नष्ट हो जाता है। अग्नि में तपाकर खाद को जलाए बिना जैसे स्वर्ण शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किए बिना कोई कभी कषायों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। चपल और उन्मत्त अश्व मनुष्य को जैसे विपथ पर ले जाता है उसी प्रकार अनि-यन्त्रित इन्द्रियां बलपूर्वक उसे नरक में ले जाती हैं। जो इन्द्रियों के वशीभूत है वह कषायों द्वारा पराजित है। जिस दीवार के नीचे से ईंट निकल जाती है वह दीवर जैसे गिर जाती है उसी प्रकार इन्द्रिय अनियन्त्रित का वध बन्धन और पतन होता है। इन्द्रियों के अधीन होकर ऐसा कौन है जो दुःख-परम्परा से बच गया हो? जो शास्त्रज्ञ हैं वे भी इन्द्रियों के वशीभूत होकर मूर्खों जैसा कार्य कर बैठते हैं। इन्द्रियों के अधीन होना कितना लज्जास्पद है, वह तो इससे ही प्रमाणित होता है कि महाराज भरत बाहुबल पर चक्र निक्षेप कर बैठे। बाहुबल की जय और भरत की पराजय इन्द्रिय पर जय और इन्द्रियों के वशीभूत होने का ही परिणाम है। जो जन्म उनका अन्तिम जन्म था ऐसे वे दोनों अस्त्र लेकर युद्ध करते हैं इसी से तो इन्द्रियों का प्रबल प्रताप प्रकाशित होता है।

(श्लोक ३२०-३३०)

'पशु रूप मानव इन्द्रियों के वशीभूत हो जाते हैं यह तो समझ में आता है; किन्तु जो पूर्व जन्म को जानते हैं जिनका मोह उपशान्त है वे भी इन्द्रियों के वशीभूत हो जाते हैं। देव और मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर कैसे-कैसे कुकर्म कर बैठते—यह कितने दुःख की बात है। इन्द्रियों के वशीभूत जो अखाद्य है वही खाते हैं, जो अपेय है उसका पान करते हैं, जहाँ जाना उचित नहीं वहाँ जाते हैं। इन्द्रियों के वशीभूत होकर ही तो वे उत्तम कुल और सदाचार का परित्याग कर वेश्या का दासत्व स्वीकारते हैं, नीच कर्म करते हैं। इन्द्रियों के प्रताप से ही मोहान्ध व्यक्ति पर-द्रव्य और पर-स्त्री पर दृष्टि डालते हैं और इस दुष्कर्म के लिए उनके

हाथ पाँव और इन्द्रियां काट दी जाती हैं, यहां तक कि मृत्यु दण्ड तक दिया जाता है। अधिक कहने को क्या है ? कारण, जो मनुष्य के श्रद्धापात्र हैं वे भी इन्द्रियों के वशीभूत होते है, साधारण लोगों के लिए परिहास का विषय बनते हैं। एक वीतराग को छोड़कर संसार के समस्त जीव, इन्द्र से लेकर साधारण कीट तक सभी इन्द्रियों के वशीभूत है। (श्लोक ३३१-३३८)

'हस्तिनी के स्पर्श सुख के लिए हस्ती अपनी सूँड़ बढ़ाकर अग्रसर होता है और आलान-स्तम्भ के बन्धन में चढ़ जाता है। अगाध जल में विचरण करने वाला मत्स्य काँटे में लगे कीट को खाने के लोभ से उसे गले में उतारता है और धीवर के हाथ में पड़ जाता है। मत्त गजराज के मदगन्ध से आकृष्ट भ्रमर उसके गण्डस्थल पर बैठता है और कान के चपेटाघात से पंचत्व को प्राप्त हो जाता है। स्वर्णवर्णीय दीपशिखा के आलोक पर मुग्ध होकर पतंग उस ओर दौड़ता है और मृत्यु को वरण करता है। मनोहर संगीत श्रवण कर मुग्ध हरिण शिकारी के बाण से निहत होता है। मात्र एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर जब ये सब मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो पांचों इन्द्रियों के जो वशीभूत हैं उनका तो कहना ही क्या ? एतदर्थ बुद्धिमान मनुष्यों के लिए यही उचित है कि वे मन को विषय-वासना से मुक्त करें, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किए बिना व्रत और कृच्छ साधनादि सभी व्यर्थ हो जाते हैं। (श्लोक ३३९-३४५)

'जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं करते वे कष्ट पाते हैं। इसलिए जो समस्त दुःखों से मुक्त होना चाहता है उसके लिए उचित है इन्द्रियों पर जय लाभ करना। कार्य से विरत होने से ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं होती बल्कि कार्य करते हुए भी जो राग-द्वेष से मुक्त हैं वे ही सचमुच विजयी हैं। इन्द्रिय विषयों के साथ रहकर इन्द्रियों का संभोग रोकना सम्भव नहीं। इसी लिए जो विज्ञ हैं वे उनसे राग-द्वेष हटा लेते हैं। जो संयमी होते हैं उनकी इन्द्रियां पराजित हैं। इन्द्रिय के विषय नष्ट होने पर आत्मा का हित नष्ट नहीं होता बल्कि अहित नष्ट होता है। जिनकी इन्द्रियां वशीभूत हैं वे मुक्ति लाभ करते हैं। जिनकी अनियन्त्रित हैं वे संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इस भेद को ज्ञात कर यथोचित मार्ग ग्रहण

करें। (श्लोक ३४६-३५०)

'रूई मक्खन आदि की भांति कोमल और पत्थर आदि की तरह कठोर स्पर्श से जो प्रीति-अप्रीति होती है वह हेय है ऐसा विचार कर राग-द्वेष को जीतो और स्पर्शेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। स्वादिष्ट अभक्ष्य पदार्थ और कटु रस पर रुचि-अरुचि का त्याग कर रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। घ्राणेन्द्रिय में सुगन्ध-दुर्गन्ध के प्रविष्ट होने पर यह वस्तु का परिणाम है ऐसा विचार कर उसके राग द्वेष से रहित बनो। सुन्दर आकृति और असुन्दर आकृति देखकर जो हर्ष और विषाद उत्पन्न होता है उसका परित्याग कर चक्षु इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। वीणादि का मधुर स्वर सुनकर उस पर राग-द्वेष न कर श्रोत्रेन्द्रिय पर जय लाभ करो। संसार में ऐसा कोई इन्द्रिय विषय नहीं है जो मूलतः शुभ वा अशुभ है। संसार में ऐसा कोई विषय नहीं जिसका जीव ने पूर्व में भोग नहीं किया और उस पर राग-द्वेष के कारण कष्ट नहीं उठाया। तब फिर क्यों वह किसी विषय पर मुग्ध और किसी विषय पर विषादयुक्त होता है? इन्द्रियों के विषय यदि मूलतः प्रिय और अप्रिय होते तब तो राग और द्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता; किन्तु ऐसा नहीं है। यह तो मन का विभाव है। अतः मन के शुद्धत्व द्वारा जिनकी इन्द्रियां उपशान्त हो गई हैं जिनके कषाय क्षीण हो गए हैं वे अक्षीण स्थान मोक्ष प्राप्त करते हैं।'

(श्लोक ३५१-३५९)

कानों के लिए अमृत तुल्य ऐसी देशना सुनकर मोक्ष प्राप्ति के अभिलाषी चक्रायुध प्रभु से बोले—हे स्वामिन्, दुखों के आकर इस संसार के भय से मैं भीत हो गया हूं। जो विचक्षण हैं वे शक्तिशाली होने पर भी मनुष्य जन्म प्राप्त किया है इसका गर्व नहीं करते। ज्वलन्त गृह के और डूबती हुई नौका के अधिकारी जिस प्रकार मूल्यवान द्रव्य संग्रहकर अन्यत्र चले जाते हैं उसी भांति मैं भी जन्म, जरा मृत्यु से भयंकर इस संसार से मात्र आत्मा को लेकर आप की शरण ग्रहण करता हूं। भगवन्, संसार समुद्र में पतित मुझ पर आप दया करें। मुझे संसार समुद्र को पार करने वाली नौका रूप दीक्षा दें।' (श्लोक ३६०-३६४)

भगवान ने कहा—'तुम्हारे जैसे विवेकवान के लिए यह

उपयुक्त है।' (श्लोक ३६५)

ऐसा सुनकर चक्रायुध ने राज्यभार अपने समर्थ पुत्र को सौंपकर पैंतीस राजाओं सहित उसी समवसरण में श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। वे भगवान शान्तिनाथ के गणधर बने। चक्रायुध आदि इन ३६ गणधरों को भगवान ने उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त त्रिपदी का उपदेश दिया। इसी त्रिपदी के अनुसार उन्होंने द्वादशांगी की रचना की। प्रभु ने भी उन पर व्याख्या और गण का भार अर्पित किया। (श्लोक ३६६-३६८)

अनेक स्त्री-पुरुष उसी समय प्रभु से दीक्षित हुए और अनेक ने सम्यक् दर्शन सहित श्रावक के बारह व्रत को ग्रहण किया। दिन का प्रथम याम समाप्त हो जाने पर प्रभु उठ खड़े हुए और मध्य प्रकार की अलङ्कार रूप पीठिका पर विश्राम ग्रहण किया। तब प्रभु के पादपीठ पर बैठकर गणधर प्रमुख चक्रायुध ने देशना देनी प्रारम्भ की। दिन के द्वितीय याम के शेष होने पर उन्होंने भी देशना देनी बन्द कर दी। देव मनुष्य सभी प्रभु को प्रणाम कर स्व-स्व स्थान को चले गए। (श्लोक ३६९-३७२)

भगवान शान्तिनाथ के समवसरण में गरुड़ यक्ष उत्पन्न हुआ जिसका मुख शूकर की भाँति और जिसके दाहिने हाथों में एक में बीजोरा नींबू और दूसरे में कमल था। बाएँ दोनों हाथों में से एक में नकुल और दूसरे में अक्षमाला थी। ये भगवान के शासनदेव हुए। उसी समय समवशरण में पद्मासना कनकवर्णा निर्वाणी यक्षी उत्पन्न हुई। जिसके दोनों दाहिने हाथों में से एक में पुस्तक और दूसरे में नील कमल था और बाएँ हाथों में से एक में कलश और अन्य में कमल था। ये त्रिलोकपति की शासन देवी हुईं।

(श्लोक ३७३-३७६)

यक्ष और यक्षिणी सहित भगवान शान्तिनाथ दूसरों के कल्याणार्थ जो मोक्ष प्राप्ति में समर्थ है उन्हें उपदेश देते हुए पृथ्वी पर विचरण करने लगे। प्रव्रजन करते हुए वे एक दिन हस्तिनापुर नगर आए। यहां उनकी समवसरण सभा का आयोजन किया गया। प्रतिपदा की रात्रि को चन्द्र जैसे सूर्य से मिलता है उसी प्रकार उस नगर के राजा कुरुचन्द्र प्रजाजनों सहित प्रभु से मिलने आए। चतुर्विध संघ यथास्थान स्थित होने पर भगवान ने संसार से विरक्त

करने वाली देशना दी। (श्लोक ३७७-३८०)

देशना की समाप्ति पर कुरुचन्द्र भगवान को प्रणाम कर पूछे भगवन्, मैंने पूर्व जन्म में ऐसा कौन-सा पुण्य किया था कि मैं राजा बना हूं। किस कर्म के कारण मैं प्रतिदिन पांच दिव्य प्राप्त करता हूं? मैं उन्हें स्वयं भोग न कर प्रियजनों को देने के लिए रख देता हूं; किन्तु अन्य किसी को दे नहीं पाता। भगवन्, यह कौन से कर्मोदय का फल है? (श्लोक ३८१-३८३)

भगवान शान्तिनाथ बोले, कुरुचन्द्र, पूर्व जन्म में तुमने मुनियों को दान दिया था इसी से तुम्हें यह राज्य प्राप्त हुआ है। वस्त्रादि जो पांच दिव्य वस्तुएँ तुम प्राप्त करते हो वह भी इसी पुण्य के कारण। तुम जो उनका उपभोग नहीं कर सकते उसका कारण है जो वस्तु बहुजनों के भोग के लिए है उसका भोग एक व्यक्ति नहीं कर सकता। तुम सोचते हो यह वस्तु मैं प्रियजनों को दूंगा; किंतु दे नहीं पाते। कारण तुम उन प्रियजनों को नहीं जानते। मैं तुम्हें तुम्हारे पूर्व भव की कथा सुनाता हूं। (श्लोक ३८४-३८६)

'जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कौशल नामक देश है। उस में श्रीपुर नामक एक नगर था। वहां चार वणिकपुत्र निवास करते थे। उनके नाम थे सुधन, धनपति, धनद, और धनेश्वर। वे समवयस्क थे और उनमें सच-भाइयों सा प्रेम था। एकबार वे धनोपार्जन के लिए रत्नद्वीप गए। उनके साथ द्रोण नामक एक भृत्य था जो उनकी रसद आदि वस्तुओं को वहन करता था। रास्ते में एक वन पड़ा। उस वन को पार करने के समय उनके साथ लाया खाद्य द्रव्य यथेष्ट होने पर भी प्रायः निःशेष हो गया। उसी अवस्था में चलते हुए उन्होंने वृक्ष के नीचे प्रतिमाधारी ध्यानस्थ मुनि को देखा। उनके हृदय में भक्ति उत्पन्न होने पर उन्होंने सोचा—इन्हें कुछ आहार देना चाहिए। यह सोचकर उन्होंने द्रोण से कहा 'भद्र, इन मुनि को कुछ आहार दो।' द्रोण ने भी श्रद्धान्वित होकर उच्च भावना से मुनि को भिक्षा दी और महाभोग फल रूपी पुण्य उपार्जन किया। (श्लोक ३८६-३९३)

'वहां से वे रत्नद्वीप गए। वहां वाणिज्य कर खूब धन उपार्जन किया। उस धन को लेकर वे स्व-नगर को लौट आए और सुखपूर्वक रहने लगे। उस पुण्य के कारण उनकी उन्नति हुई। स्वाति नक्षत्र

में जो वृष्टि होती है उसी से तो धान्य की खूब वृद्धि होती है। उनमें धनेश्वर और धनपति कुछ कपटी थे। उन सबमें द्रोण की ही भावना विशेष शुद्ध थी। द्रोण की मृत्यु उन सबसे पूर्व हुई। मृत्यु के पश्चात् उस पुण्य के प्रभाव से हस्तिनापुर नरेश के पुत्र कुरुचन्द्र के रूप में तुमने जन्म ग्रहण किया। तुम्हारे जन्म के पूर्व तुम्हारी मां ने मुख में चन्द्र को प्रवेश करते देखा था। अतः तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हारा नाम कुरुचन्द्र रखा। सुधन और धनदेव मृत्यु होने पर काम्पिल्य और कृष्णिकापुर के वणिक पुत्र रूप में जन्मे। सुधन का नाम हुआ बसन्तदेव और धनदेव का कामपाल। क्रमशः धनपति और धनेश्वर की भी मृत्यु हुई। वे वणिक कन्या मदिरा और केशरा रूप में शंखपुर और जयन्ती नगरी में जन्मे। वे चारों बड़े होने पर यौवन को प्राप्त हुए। (श्लोक ३९४-४०२)

'एक बार बसन्तदेव वाणिज्य के लिए काम्पिल्य से जयन्ती नगरी गया और वहां पण्य क्रय-विक्रय कर अर्थोपार्जन करने लगा। वहां रहते हुए वह एक दिन अष्टमी तिथि के चन्द्रोत्सव में रतिनन्दन उद्यान में गया। वहां उसने केशरा को देखा। केशरा ने भी उसे प्रीतिपूर्ण नयनों से देखा। पूर्व जन्म के प्रेम के फलस्वरूप वे परस्पर आकृष्ट हो गए। बसन्तदेव ने जयन्ती नगरी के एक वणिक पुत्र प्रियंकर से पूछा—'भद्र, वह कौन है? किसकी लड़की है?' प्रत्युत्तर में प्रियंकर ने कहा—'वह श्रेष्ठी पंचनन्दी की कन्या और जयन्तीदेव की बहन है। उसका नाम केशरा है। वह अभी अविवाहित है।' (श्लोक ४०३-४०८)

'वसन्तदेव ने जयन्तीदेव के साथ व्यावसायिक सम्बंध स्थापित किया। फलतः दोनों में बन्धुत्व स्थापित हुआ और वे एक-दूसरे के घर आने-जाने लगे। एक दिन जयन्तीदेव ने वसन्तदेव को अपने घर भोजन के लिए आमन्त्रित किया। बन्धुत्व का दोहद ऐसा ही होता है। वहां वसन्तदेव ने नेत्रों के लिए चन्द्रिका-सी केशरा को पुष्पों से कुसुमायुध की पूजा करते देखा। जयन्तीदेव ने अपने हाथों से वसन्तदेव को पुष्प माला दी। यह देखकर केशरा पुलकित हो गई और इसे एक शुभ-शकुन माना। इससे दोनों हर्षित हुए। उन दोनों का प्रीतिपूर्ण व्यवहार वहां उपस्थित धात्री-पुत्री प्रियंकरा की दृष्टिगत हुआ। वह उनके मनोभावों को समझ

गई। कारण जो बाह्य क्रिया और मुख के भावों से मनोभाव जान सकता है उसके लिए हृदय को समझना कुछ कठिन नहीं है।

(श्लोक ४०९-४१३)

'केशरा के भाई ने वसन्त-सखा वसन्त की भांति वसन्तदेव का सत्कार किया। यह देखकर प्रियंकरा केशरा से बोली, 'तुम्हारे भाई ने उनका सत्कार किया अब तुम भी उनका यथोचित सत्कार करो।' केशरा युगपत् लज्जा भय और आनन्द से विह्वल होकर बोली—सखि, वह तो तुम्हीं करो।' तब प्रियंकरा प्रियंगु, कल्लोल आदि पुष्पों का गुच्छा वसन्तदेव के हाथों में देती हुई बोली—'मेरी सखी के हाथों से बनाया यह प्रेम पुष्प स्वीकार करिए।' वसन्तदेव ने भी वह मुझे चाहती है सोचकर आनन्दपूर्वक वह पुष्प-गुच्छ स्वीकार कर लिया। फिर स्व-नामांकित अंगूठी उसे देकर बोले—'यह आपकी सखी को दे दीजिएगा। वे मेरे इस सामान्य उपहार को अवश्य ग्रहण करें। उन्होंने मेरे प्रति जो स्नेह प्रकट किया है वह स्नेह उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहे। (श्लोक ४१४-४२०)

'प्रियंकरा ने केशरा को अंगूठी देकर वसन्तदेव ने जो कुछ कहा था उसे दोहरा दिया। जल सिंचन से बीज से अंकुरित होकर वृक्ष जैसे बढ़ता है उसी प्रकार वह बात सुनकर केशरा का प्रेम बढ़ने लगा। रात्रि के शेष याम में केशरा ने स्वप्न देखा मानो वसन्तदेव के साथ उसका विवाह हो रहा है। उसी समय वसन्तदेव ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा। अनुरूप स्वप्न दर्शन विवाह से भी अधिक प्रीतिवर्द्धक होता है। आनन्द से पुलकित होकर केशरा ने वह स्वप्न प्रियंकरा को बताया। ठीक उसी समय कुल पुरोहित अन्य प्रसङ्ग में सहसा बोल उठे—'ऐसा ही होगा।' यह सुनकर प्रियंकरा बोली, 'स्वप्न दर्शन और इस शकुन से प्रतीत होता है वसन्तदेव ही तुम्हारा पति होगा।' 'आओ शकुन को दृढ़ करें'—ऐसा कहकर वह वसन्तदेव के पास गई और केशरा के स्वप्न की बात कही। अपने स्वप्न से केशरा के स्वप्न का सादृश्य देखकर वसन्तदेव ने सोचा मानो उनका विवाह पक्का हो गया है। प्रियंकरा बोली—'आर्य, केशरा आपकी ही है। अब निःसंकोच उसके साथ विवाह का आयोजन करिए।' (श्लोक ४२१-४२८)

वसन्तदेव बोले, 'परम्परानुसार वह अवश्य ही होगा' कहकर

सत्कार सहित उसे विदा किया। (श्लोक ४२९)

'इस प्रकार परस्पर वार्त्ता विनिमय में कुछ काल व्यतीत हुआ। एक दिन वसन्तदेव जब निज घर में विश्राम कर रहे थे तभी पंचनन्दी के घर से मङ्गलवाद्य की आवाज सुनाई दी। भृत्य को पूछने पर उसने कहा—'पंचनन्दी ने कान्यकुब्ज निवासी श्रेष्ठी सुदत्त के पुत्र वरदत्त के साथ केशरा का सम्बन्ध किया है यह उसी का मङ्गलवाद्य है।' (श्लोक ४३०-४३४)

'यह सुनकर मानो किसी ने उसके सिर पर हथौड़ा मार दिया हो इस प्रकार मूर्च्छित होकर वह गिर पड़ा। ठीक उसी समय प्रियंकरा वहां आई और उसे स्वस्थ कर बोली—'आप चिन्ता न करें। मेरी प्रिय सखी ने कहला भेजा है—गुरुजनों के मनोभाव को जानकर मैं आपके साथ ही विवाह करूंगी। उन्होंने मेरी इच्छा जाने बगैर ही यह सम्बन्ध पक्का कर लिया है। वे चाहे जो स्थिर करें मैं ऐसा नहीं करूँगी। मैं या तो आपकी होऊँगी या मृत्यु को वरण करूँगी। आप मेरी इस बात को सत्य समझिएगा। कारण, उच्च कुल जात कभी झूठ नहीं बोलते।' (श्लोक ४३५-४३८)

'यह सुनकर वसन्तदेव आनन्दित हुए और बोले—'मेरा स्वप्न भी तो यही कहता है। उच्चकुलजात कभी मिथ्या नहीं बोलते यह मैं जानता हूं। मैं भी केशरा के लिए ही जीऊंगा। अगर वह नहीं मिली तो प्राण त्याग दूँगा।' (श्लोक ४३९-४४०)

प्रियंकरा ने यह बात जाकर केशरा से कही। यह सुनकर केशरा भी आनन्दित हुई। फिर वे लोग किस प्रकार मिलेंगे यह परिकल्पना करते हुए चक्रवाक की दुःखद रात्रि-से कुछ दिन बीत गए। इसी मध्य उनका मनोरथ पूर्ण होने के पूर्व ही लग्न के पहले दिन बारात आ पहुंची। (श्लोक ४४१-४४३)

'यह सुनकर वसन्तदेव नगर परित्याग कर एक उद्यान में गए। उन्होंने सोचा केशरा का यदि दूसरे के साथ विवाह हुआ तो वह वहीं कुम्हड़े की भांति सूखकर मर जाएगी। अथवा यथार्थ बात जाने बिना उसके गुरुजनों ने जो विवाह स्थिर किया है उसके भार से व मुझे नहीं पाने के दुःख से वह विवाह के पूर्व ही आत्म-हत्या कर सकती है। अतः क्यों नहीं मैं उसकी मृत्यु के पूर्व ही मृत्यु-वरण कर दुःख को हल्का करूँ। घाव पर नमक की तरह

प्रियतमा की मृत्यु का संवाद कौन सुनना चाहेगा ?'

(श्लोक ४४४-४४७)

'ऐसा सोचकर अशोक वृक्ष की ऊपरी शाखा पर धनुष की प्रत्यंचा की तरह उसने रस्सी बांध दी और गले में फाँसी डाल ली। ठीक उसी समय समीप की झाड़ी से एक व्यक्ति बाहर आया और 'ऐसा मत करो, ऐसा मत करो' कहता हुआ वृक्ष पर चढ़ा एवं रस्सी काट कर उसके गले का फन्दा खोल डाला और बोला—'तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ?' वसन्तदेव ने कहा—'मुझ भाग्यपीड़ित से इन्द्र-वारुणी की तरह तुम मुझे देखकर क्यों दुःखी हो रहे हो ? मैं मृत्यु-वरण कर अपनी प्रियतमा के विच्छेद दुःख को भूलने जा रहा था। तुमने मुझे क्यों बाधा दी ?' (श्लोक ४४८-४५२)

'वसन्तदेव ने उसके पूछने पर सारी कथा कह सुनाई। दूसरे को कहने से दुःख कुछ कम हो जाता है। यह सुनकर वह बोला—'यदि ऐसा ही है तो विवेकवान् को आत्महत्या नहीं करनी चाहिए। बल्कि अभिप्सित वस्तु को कैसे प्राप्त किया जाए उसका उपाय सोचना चाहिए। तुम्हारे इस कार्य में अवसर भी है। अतः पशु की भांति प्राण मत दो। जहां अवसर नहीं होता वहां भी आत्महत्या उचित नहीं है। मृत व्यक्ति को उसकी अभिप्सित वस्तु नहीं मिलती वह तो कर्मानुसार भिन्न गति में चला जाता है। मुझे देखो ना—इच्छित वस्तु नहीं मिलने के कारण मैं भटक रहा हूं। सोचता हूं जीवित रहें तो शायद किसी दिन वह मिल भी सके। मेरी कथा सुनो : (श्लोक ४५३-४५७)

'मैं कृत्तिकापुर का अधिवासी हूं, नाम कामपाल। यौवन में देश पर्यटन की इच्छा से घर से बाहर निकला। घूमते-घूमते शङ्खपुर नगर में पहुंचा। वहां शङ्खपाल यक्ष का उत्सव हो रहा था। अतः उसे देखने गया। वहां एक आम्र निकुञ्ज में एक सुन्दरी को देखा। वह मुझे कामदेव की किसी अन्तःपुरिका-सी लगी। मैं काम से आबद्ध-सा उसी प्रकार खड़ा उसे देखता रहा। उसने भी मेरी ओर प्रेममय दृष्टि से देखा। अपनी एक सखी से मुझे पान भेजा जो कि प्रेम और आरक्त अधरों का निदर्शन और कारण है। मैंने उसका पान ग्रहण किया और विनिमय में कुछ देने की सोच ही रहा था। उसी समय एक उन्मत्त हाथी जिस खूंटे से बांधा हुआ

था उस खूँटे को उखाड़कर पैरों की शृङ्खला तोड़कर उस लड़की की ओर दौड़ा। इस आकस्मिक घटना से महावत किंकर्तव्यविमूढ़ बना-सा हाथ में अंकुश लिए खड़ा ही रह गया, कुछ कर नहीं पाया। हाथी को आते देखकर उस लड़की के अनुचर डर कर इधर-उधर भाग गए। कारण, भय के समय सबको अपना जीवन ही प्रिय होता है। सिंह के सम्मुख हरिणी की तरह वह भय से थरथर काँपने लगी। हाथी जैसे ही सूँड से उसे उठाने गया तभी मैंने लाठी से उसकी पूँछ पर प्रहार किया। सांप की पूँछ पर पैर पड़ जाने से जैसे वह लौटकर देखता है उसी प्रकार हाथी उसे छोड़ कर मेरी ओर घूमा। उसी समय मैंने हाथी को धोखा देकर सुन्दरी को उठाया और निर्विघ्न स्थान में चला गया। वहां मैंने उसे कंधों से नीचे उतारा; किन्तु उसने मुझे अपने हृदय से नहीं उतारा। उसके अनुचर लौटे और मदिरा की मैंने प्राण-रक्षा की इसके लिए मेरा गुणगान करने लगे। (श्लोक ४५८-४७२)

'वे पुनः मदिरा को आम्रकुञ्ज में ले गए; किन्तु पुनः हाथी का उपद्रव होने पर जिसे जिधर राह मिली वह उधर ही दौड़ गया। उसी भाग दौड़ में मदिरा कहां गई कुछ जान नहीं पाया। तदुपरान्त उसे इधर-उधर बहुत जगह खोजा। बहुत खोजने पर भी वह नहीं मिली। तब हताश होकर घूमता हुआ यहां आया। यद्यपि उसे पुनः पाने की सम्भावना नहीं है, फिर भी मैं मरा नहीं, जीवित हूं; किन्तु तुम्हारे पास तो केशरा तक पहुंचने का उपाय है। हमलोगों का दुःख एक-सा ही है। अतः एक मित्र की भाँति तुम्हें कह रहा हूं—मृत्यु को क्यों वरण कर रहे हो? तुमने कहा—कल उसका विवाह है। परम्परानुसार आज वह कामदेव और रति की पूजा करने अकेली मन्दिर के भीतर जाएगी। अतः चलो हम चुपचाप मन्दिर में कहीं जा छुपें। उसके मन्दिर में प्रवेश करने पर उसी के वस्त्र पहन कर उसके अनुचरों के साथ मैं केशरा के रूप में उसके घर चला जाऊँगा। मेरे चले जाने के पश्चात् तुम उसे लेकर जहां इच्छा हो चले जाना।' (श्लोक ४७३-४८०)

'उसकी बात से आनन्दित होकर वसन्तदेव बोला—'तुम्हारी योजना बहुत सुन्दर है। उसमें तो मेरा प्राप्तियोग और आनन्द है; किन्तु तुम पर तो एक साथ आफत आ पड़ेगी।' ठीक उसी समय

कुल देवी की तरह एक वृद्धा ब्राह्मणी छींकी। उस छींक को सुनकर कामपाल बोला—'मित्र, उससे मुझपर आफत नहीं आएगी। वरन् तुम्हारा कार्य कर देने के कारण मेरा भी भला ही होगा।' ठीक उसी समय एक वृद्ध ब्राह्मण अन्य प्रसंग पर बोला—'बात सही है।' इस परिकल्पना से सहमत होकर वसन्तदेव ने कामपाल सहित नगर में प्रवेश किया और दोनों आहारादि के पश्चात् सन्ध्या के बाद कामदेव और रति के मन्दिर में जाकर मूर्त्तियों के पीछे छिपकर बैठ गए। कुछ देर में ही उन्हें मंगल वाद्य सुनाई पड़े। केशरा आ रही है जानकर वे आनन्दित हुए। केशरा यही मन्त्र उच्चारण करती हुई आई 'मेरा मेरे प्रेमी से मिलन हो।' मन्त्र उच्चारण से ही सिद्ध होता है। स्वर्ग की देवी जैसे विमान से उतरती है वैसे ही केशरा पालकी से उतरी और प्रियंकरा के हाथ से पूजा का स्वर्णथाल लेकर अकेली ही मन्दिर में प्रविष्ट हुई। फिर भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया। क्योंकि ऐसी ही परम्परा है। (श्लोक ४८१-४९०)

'पत्र-पुष्प और मुद्राएँ रति और कामदेव की मूर्ति के सम्मुख रखकर वह करबद्ध होकर वाष्परुद्ध कण्ठ से बोली—'देव, आप सभी के हृदय में सब समय विराजमान रहते हैं। अतः सबका मनोभाव भी जानते हैं। इतना होने पर भी मैं जिससे प्रेम नहीं करती उससे मुझे मिला रहे हैं। क्या यह उचित है? मैं वसन्तदेव के अतिरिक्त किसी को नहीं चाहती। विषकन्या जिस प्रकार पति की मृत्यु का कारण बनती है उसी प्रकार दूसरा पति मेरी मृत्यु का कारण होगा। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए ताकि वसन्तदेव परजन्म में मेरा-पति बने। बहुत दिनों से आपकी उपासना कर रही हूं। यह अन्तिम उपासना है।' (श्लोक ४९१-४९५)

'ऐसा कहकर वह गले में फांसी लगाकर तोरण की कील से लटकने ही जा रही थी कि वसन्तदेव व कामपाल मूर्त्तियों के पीछे से बाहर आ गए। वसन्तदेव ने उसके गले की फांसी खोल दी। वह भय, विस्मय, लज्जा से बोल उठी--'तुम कौन हो? यहां कैसे आए?' वसन्तदेव बोला—'प्रिये! मैं तुम्हारा पति वसन्तदेव हूं जिसे तुम परजन्म में पाने की कामना कर रही थी। इन महात्मा की योजना के अनुसार मैं तुम्हें यहां लेने आया हूं। तुम्हारे ये वस्त्र

खोलकर तुम इन्हें दे दो ताकि उन्हें पहन कर वे तुम्हारे अनुचरों को धोखा देकर तुम्हारे घर जा सकें। जब वे चले जाएँगे तब हम अन्यत्र चले जाएँगे।' (श्लोक ४९६-५०१)

'यह सुनकर केशरा ने मूर्त्ति के पीछे जाकर अपने वस्त्र खोल कर कामपाल को दे दिए और स्वयं पुरुष वेष धारण कर लिया। कामपाल ने भी कामदेव की उपासना कर केशरा के वस्त्र पहन लिए और मुख पर अवगुण्ठन डालकर दरवाजा खोल दिया। फिर प्रियंकरा के हाथ पर हाथ रखकर पालकी पर चढ़ गया। पालकी-वाहक पालकी ले चले। इस भांति अनुचरों के अनजान में कामपाल पंचनन्दी के घर पहुंच गया। स्वयं ब्रह्मा भी सुपरिकल्पित योजना का भेद नहीं जान पाते। प्रियंकरा ने उसे पालकी से नीचे उतारा और वधू गृह में ले जाकर स्वर्णमण्डित बेंत के आसन पर बैठाया। 'केशरा, तू वहीं मन्त्र जाप करती रह' कहकर वह दूसरी ओर चली गई। कामपाल बुद्धिमान तो था ही। अतः उसके कथन का तात्पर्य समझ गया और मन्मथ एवं रति के मिलन का जाप करता रहा।

(श्लोक ५०२-५०८)

'शङ्खपुर निवासी केशरा के मामा की लड़की मदिरा विवाह में आमन्त्रित होकर वहां आई थी। वह केशरा वेशी कामपाल को जाकर बोली—'केशरा, जो भाग्याधीन है उसके लिए कष्ट क्यों पा रही है? मैंने शङ्खपुर में ही वसन्तदेव के साथ तेरे प्रणय की कथा सुनी थी। मैं अपने अनुभव से ही विच्छेद की वेदना जानती हूं। दुर्भाग्य जो इच्छित नहीं है ऐसा ही करता है। उसी प्रकार सौभाग्य जो इच्छित है उसे भी जुटा देता है। बहन, तू तो फिर भी सौभाग्य-शाली है। कारण, जिससे प्रेम किया उसे बहुत बार देखा है, उससे बातचीत की है; किन्तु मेरे दुर्भाग्य की बात मैं क्या कहूं? फिर भी सुन—मैं अनुचरों को लेकर शङ्खपाल के उद्यान में गई थी। वहां अशोक वृक्ष के नीचे मनोहरण एक नवयुवक को देखा। एक सखी के द्वारा मैंने उसे पान भेजा। ठीक उसी समय यम की तरह एक उन्मत्त हाथी मेरी ओर दौड़ा। तभी उसने हाथी से मेरी रक्षा की। उसी हाथी का पुनः उपद्रव होने पर मैं और मेरे अनुचर हाथी के भय से इधर-उधर दौड़ने लगे। उस समय जो उन्हें खोया तो आज तक खोज नहीं पाई। उसी समय से मृतक की भांति जी

रही हूं। तब से स्वप्न के अतिरिक्त उन्हें कहीं नहीं देखा। अब तो सौभाग्य ही उन्हें मेरे पास ला सकता है। अन्यथा मत समझना। तुम्हारे दुःख को लाघव करने के लिए ही मैंने तुम्हें यह बात कही है। अब दुःख की बात छोड़ो। यदि भाग्य सुप्रसन्न हुआ तो उसके साथ फिर मिलन हो सकता है।' (श्लोक ५०९-५२२)

'उसकी बात सुनकर कामपाल अवगुण्ठन हटाकर मदिरा से बोला—'प्रिये, वह नवयुवक मैं ही हूं जिसे तुमने यक्षोत्सव में देखा था। भाग्य की कृपा से हमलोगों की तरह वसन्तदेव और केशरा का मिलन हो गया है। अब बातों में समय नष्ट मत करो। भय त्याग कर भागने का पथ सोचो ताकि हम यहाँ से भाग सकें।'

(श्लोक ५२३-५२५)

'ऐसा कहकर वह उठ खड़ा हुआ और मदिरा द्वारा निर्देशित पिछले दरवाजे से उद्यान में गया और वहां से मदिरा को लेकर वसन्तदेव एवं केशरा से मिलकर इस नगर में आया। राजन्, पूर्व जन्म के स्नेह के कारण वे दोनों तुम्हें दिव्य पंच द्रव्य देते रहते हैं। उन्हें पहचानो। उनके साथ इन पंच द्रव्यों का उपभोग कर सकोगे। इतने दिनों तक तुम उन्हें पहचानते नहीं थे इसीलिए तुम उन का उपभोग नहीं कर सके।' (श्लोक ५२६-५२९)

भगवान शान्तिनाथ की यह बात सुनकर राजा और उनके मित्रों को पूर्व जन्म का ज्ञान हुआ। राजा कुरुचन्द्र भगवान को प्रणाम कर अपने पूर्व जन्म के मित्रों को भाइयों की तरह अपने प्रासाद में ले गए। देव भी भगवान शान्तिनाथ को प्रणाम कर अपने-अपने निवास स्थान को लौट गए। भगवान लोक कल्याण के लिए अन्यत्र विहार कर गए। (श्लोक ५३०-५३२)

भगवान के संघ में ६२००० ब्रह्मचारी साधु, ६१६०० साध्वियां, ८०० पूर्वधारी, ३००० अवधि ज्ञानी, ४००० मनःपर्याय ज्ञानी, ४३०० केवलज्ञानी, ६००० वैक्रियलब्धिधारी, २४०० वादी २९०००० श्रावक और ३९३००० श्राविकाएँ थीं। केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान एक वर्ष कम २५ हजार वर्ष तक प्रव्रजन करते रहे। अपना निर्वाण समय निकट जानकर वे सम्मेत-शिखर पर्वत पर गए और ९०० मुनियों सहित अनशन ग्रहण कर लिया। एक महीने बाद ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को चन्द्र जब भरणी

नक्षत्र में अवस्थित था तब उन ९०० मुनियों सहित निर्वाण को प्राप्त हो गए। भगवान की पूर्ण आयु एक लाख हजार वर्ष की थी। उसमें उन्होंने २५-२५ हजार वर्ष कुमारावस्था, माण्डलिक राजा, चक्रवर्ती, और व्रत पर्यायों में व्यतीत किए। तीर्थङ्कर रूप में धर्मनाथ स्वामी के निर्वाण के बाद एक पल्योपम के तीन चतुर्थांश कम तीन सागरोपम के पश्चात् भगवान शान्तिनाथ का जन्म हुआ था। उनका निर्वाण महोत्सव भी देव और इन्द्रादि द्वारा अनुष्ठित हुआ। यथा समय गणधर चक्रायुध को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। दीर्घकाल तक पृथ्वी पर विचरण करते हुए भव्य जीवों को प्रज्ञा का आलोक देते हुए वे भी बहुत से मुनियों सहित कोटि-शिला तीर्थ पर निर्वाण को प्राप्त हुए। (श्लोक ५३३-५४३)

प्रख्यात प्रतापी और शक्ति के अक्षय अधिकारी भगवान शान्तिनाथ की जय हो। जिन्होंने छः खण्ड पृथ्वी को सहज ही जीत लिया था। बाद में उसी राज्य सम्पदा को तृण की भांति त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ली। जिनका यश चक्रवर्ती रूप में उससे भी अधिक तीर्थङ्कर रूप में फैला उनकी जय हो। (श्लोक ५४४)

पंचम सर्ग समाप्त

पंचम पर्व समाप्त

□

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्

श्री कुन्थुनाथचरितम्

षष्ठ पर्व

प्रथम सर्ग

अज्ञानान्धकार रूपी प्रस्तर को चूर्ण करने में नदी प्रवाह रूप भगवान् कुन्थुनाथ की वाणी जययुक्त हो। भव समुद्र को मन्थन करने वाले मन्थन पर्वत की तरह त्रिलोकनाथ कुन्थु का जीवनचरित अब मैं वर्णन कर रहा हूं। (श्लोक १-२)

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर आवर्त नामक विजय में खड्गी नामक नगर में समस्त गुणों के आकर न्यायपरायणों में अग्रगण्य सिंहवाह नामक एक राजा थे। वे नीति के मानो पर्वत-से, पाप-विनाशन के खड्ग रूप, धर्म के आश्रय-स्थल और बुद्धि के निवास रूप थे। उनके मन और बुद्धि के तल को स्पर्श करना, जो विचक्षण थे उनके लिए भी, सहज नहीं था। उनका वैभव और सैन्यदल शक्र के समान था। उनका तेज हरि के अनुरूप था। समुद्र-से शक्तिशाली वे अपनी मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं करते थे। साथ ही पृथ्वी को भी उसकी मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करने देते थे। उनकी प्रत्यंचा का निर्घोष विजयश्री को आकृष्ट करने में, शत्रुसैन्य को ध्वंस करने में और पृथ्वी की रक्षा करने में मन्त्र रूप था। वे न्याय के लिए ही पृथ्वी पर शासन करते थे, अर्थ के लिए नहीं। जो धर्मानुरागी होते हैं वे अर्थ को तो उसके परिणाम रूप में ही प्राप्त करते हैं। श्रमण जैसे आसक्तिरहित होकर आहार ग्रहण करते हैं उसी प्रकार तत्त्ववेत्ताओं में अग्रणी वे आसक्तिहीन होकर सांसारिक सुखों का भोग करते थे। इसी भांति कुछ काल व्यतीत हुआ। (श्लोक ३-१०)

एक दिन उन्होंने पूर्ण विरक्त होकर आचार्य संवर से संसार-

समुद्र के तट-सी दीक्षा ग्रहण कर ली। निष्ठा सहित व्रत पालन कर और बीस स्थानक एवं अर्हतों की आराधना कर उन्होंने तीर्थङ्कर नामक गोत्र कर्म उपार्जन किया। कालक्रम से सम्यक् दृष्टि वे ध्यान में निविष्ट होकर मृत्यु वरण कर सर्वार्थसिद्धि विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ११-१३

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नामक एक नगर था। उस नगर में मन्दिरों पर श्वेत पताकाएँ वायु से आन्दोलित होकर सर्वदा नृत्य करती थीं। देखकर लगता मानो स्वयं धर्म ही आनन्द-मना होकर नृत्य कर रहा है। यहां के गृह-प्रांगण रत्नजड़ित होने से मद्यासक्त हाथी उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे अन्य हाथी समझ स्व-दन्तों से आघात करते। आकाश जैसे ग्रह नक्षत्रों से सुशोभित होता है उसी प्रकार राजा का प्रासाद-तोरण, प्रजाजनों गृहद्वार और अन्यत्र सर्वत्र अर्हत् प्रतिमाओं से शोभित होते थे।
(श्लोक १४-१८)

अलका में जैसे कुबेर है उसी भांति नवीन सूर्य से प्रभावशाली सूर इस नगरी के राजा थे। उनके हृदय में द्वितीय आत्मा की भांति धर्म निवास करता था। काम और अर्थ तो शरीर की भांति बाहर अवस्थित रहते। अतः हाथों के अङ्गदादि की भांति अलङ्कार रूप में ही वे शोभित होते थे। वे बिना किसी पर क्रुद्ध हुए इस पृथ्वी पर शासन करते थे। कठोर नहीं होने पर भी चन्द्र सबको आलोकित करता है। (श्लोक १९-२२)

हरि की श्री की भांति उनकी पत्नी का नाम श्री था। वह जैसी रूप लावण्य और शील की प्रतिरूप थी वैसी ही अनिन्द्य चारित्र की अधिकारिणी थी। वह जैसी सुन्दर थी वैसा ही उसकी वाणी से अमृत झरता था। उसे देखकर अमृतसरिता या चन्द्रलोक से आगत देवी का भ्रम होता था। उसकी देह जैसी अनिन्द्य थी वैसे ही वह धीरे-धीरे बोलती थी। राजहंस के हंसी की तरह वह राजा सूर की श्री थी। स्वर्ग में देवियों सहित देव जैसे सुख भोग करते हैं वैसे ही उसके साथ अव्याहत सांसारिक सुख भोग करते थे।
(श्लोक २३-२६)

सिंहवाह का जीव सर्वार्थसिद्धि विमान की तेंतीस सागरोपम की आयु पूर्ण कर वहां से च्युत होकर श्रावण कृष्णा नवमी के दिन

चन्द्र जब कृत्तिका नक्षत्र में अवस्थित था श्रीदेवी की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ। चार दन्त विशिष्ट श्वेत हस्ती, रात्रि में विकसित श्वेत कमल-सा श्वेत वर्ण वृषभ, केशर युक्त सिंह, स्नानाभिषेक से सुन्दर लक्ष्मी, पंचवर्णीय पुष्पमाला, पूर्ण चन्द्र, सहस्रमाली सूर्य, पताका युक्त ध्वजदण्ड, जलपूर्ण स्वर्णकलश, कमल भरा सरोवर, तरंगायित समुद्र, रत्नमय प्रासाद, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि इन चौदह महास्वप्नों को गर्भ के प्रभाव से महारानी श्री ने देखा। सुबह महारानी से स्वप्नों की बात सुनकर राजा बोले—'स्वप्नानुसार तुम्हारा पुत्र चक्रवर्ती या तीर्थङ्कर होगा।' (श्लोक २७-३३

नौ महीने साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर वैशाख चतुर्दशी के दिन चन्द्र जब कृत्तिका नक्षत्र में अवस्थान कर रहा था और सकल ग्रह उच्च स्थान में थे तब श्री देवी ने अज लांछनयुक्त स्वर्ण-वर्णीय और शुभ लक्षणों से भरे एक पुत्र को जन्म दिया। मुहूर्त्त भर के लिए त्रिलोक में एक आलोक व्याप्त हो गया और नारकी जीवों को भी क्षण भर के लिए आनन्द का अनुभव हुआ। शक्र एवं अन्य इन्द्रों का आसन कम्पित हुआ। सिंहासन कम्पित होने से छप्पन दिक् कुमारियां भृत्य की तरह वहां आकर उपस्थित हुईं। उन्होंने उनका जन्म कृत्य सम्पन्न किया। शक्र पांच रूप धारणकर प्रभु को मेरु पर्वत पर ले गए। त्रेसठ इन्द्रों ने तीर्थों से लाए जल से उन्हें स्नान करवाया। शक्र ने तब प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर उन्हें स्नान करवाकर पूजादि कर इस प्रकार स्तुति की—

'हे जगन्नाथ, आज क्षीरोदादि समुद्र का जल, पद्मादि सरोवर का कमल और जल, क्षुद्र हिमवतादि पर्वतों की औषधि, भद्रशाल वनादि के पुष्प, मलयादि अधित्यकाओं का चन्दन आपको स्नान करवाकर जीवन की सार्थकता प्राप्त की है। आपका जन्म कल्याणक मनाकर देवों की क्षमता ने आज सार्थकता प्राप्त की है। प्रासाद जैसे मूर्ति से शोभित होते हैं मेरु पर्वत भी उसी प्रकार आप से शोभित होकर आज श्रेष्ठता और तीर्थस्थल में परिणत हो गया है। आपको देखकर नेत्र, आपको स्पर्श कर हाथ आज वास्तविक नेत्र और हाथ हुए हैं। अवधिज्ञान से यह जानकर कि आपका जन्म हुआ है अवधि ज्ञान भी आज, हे जिन, सार्थक हुआ है। हे भगवन्, स्नान कराते समय आज आप जिस प्रकार मेरे गोद में विराजमान

थे उसी प्रकार चिरकाल तक मेरे हृदय में अवस्थित रहें।'

(श्लोक ३४-४७)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र जातक को लेकर शीघ्र हस्तिनापुर गए और उन्हें माता श्रीदेवी के पार्श्व में सुला दिया। (श्लोक ४८)

राजा सूर ने भी पुत्र जन्मोत्सव मनाया। तीर्थङ्कर के आविर्भाव से पृथ्वी पर उत्सव ही उत्सव होते रहते हैं। वे जब गर्भ में थे तब रानी श्री ने कुन्थु नामक रत्न राशि देखी थी इसीलिए पिता ने उनका नाम रखा कुन्थु। शक्र द्वारा रक्षित अंगुष्ठ का अमृत पान कर वे क्रमशः बड़े हुए और ३५ धनुष की दीर्घता प्राप्त की। पिता के आदेश से यथासमय उन्होंने राजकन्याओं से विवाह किया। भोग किए बिना भोगावली कर्म नष्ट नहीं होते।

(श्लोक ४९-५२)

जन्म के पश्चात् २३७५० वर्ष व्यतीत होने पर पिता के आदेश से उन्होंने राज्यभार ग्रहण किया। राज्य ग्रहण के पश्चात् २३७५० वर्ष व्यतीत होने पर उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। जो पृथ्वी को पूज्य थे ऐसे सूर-पुत्र ने उस चक्ररत्न की पूजा की। जो महत् होते हैं वे भृत्यों को भी सम्मान देते हैं।

(श्लोक ५३-५५)

तदुपरान्त चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए उन्होंने क्रमशः मगध, वरदाम और प्रभास पति को जय कर लिया। सिन्धु देवी और वैताढ्य राजकुमार कृतमाल देव को उन्होंने स्वयं जीता और उनके सेनापति ने सिन्धु जनपद पर अधिकार कर लिया। सेनापति के तमिस्रा का द्वार खोल देने पर उन्होंने तमिस्रा अतिक्रमण कर आपात जातीय म्लेच्छों पर विजय प्राप्त कर ली। सिन्धु के अन्य जनपदों पर सेनापति द्वारा अधिकार कर लेने पर उन्होंने क्षुद्र हिमवत कुमारों को जीत लिया। फिर नियमानुसार ऋषभकूट पर्वत पर अपना नाम लिखा और चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए वहां से प्रत्यावर्तन किया। वहां से वैताढ्य पर्वत पर गए जहां उभय श्रेणियों के विद्याधर राजाओं ने उन्हें उपहारादि देकर पूजन किया। गंगादेवी और नाट्यमाल देव को उन्होंने स्वयं जीता और उनके सेनापति ने गंगा जनपद स्थित म्लेच्छों को जीत लिया। सेनापति रत्न खण्डप्रपाता गुहाद्वार के खोल देने पर उन्होंने उसमें

प्रवेश किया और वैताढ्य पर्वत अतिक्रम कर गए। गंगा के मुहाने पर स्थित नवनिधियों ने स्वयं उनकी शरण ग्रहण कर ली एवं गंगा के ऊपरी जनपद को उनके सेनापति ने जीत लिया। इस प्रकार उन्होंने छह महीने में समस्त भरत क्षेत्र को जीत लिया। चक्रवर्ती कुन्थुनाथ इस भांति चक्री को जो कुछ करणीय था वह सब कर देव और मनुष्यों से परिवृत होकर हस्तिनापुर लौट आए। देवों और मनुष्यों ने उन्हें चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त किया। वह उत्सव नगर में बारह वर्षों तक चला। २३७५० वर्षों तक कुन्थुनाथ ने चक्री रूप में राज्य भोग किया। (श्लोक ५६-६८)

लोकान्तिक देवों के 'तीर्थ स्थापन करिए' यह स्मरण करा देने पर कुन्थुनाथ ने एक वर्ष तक वर्षी दान दिया और राज्यभार पुत्र को सौंप दिया। वे महाभिनिष्क्रमण उत्सव पर आरोहण कर सहस्राम्रवन उद्यान में गए। वह उद्यान वसन्त के आविर्भाव से मनोरम बना हुआ था। तरुण युवकों की भांति दक्षिण पवन चम्पक कलिका को चूम रही थी, सहकार शाखा को आन्दोलित कर रही थी, वासन्तिकाओं को नृत्य करा रही थी, निर्गुण्डियों को आनन्दित कर रही थी, लवलियों को आलिंगन दे रही थी, मल्लिकाओं का स्पर्श सुख ले रही थी, कृष्ण कलिकाओं को प्रस्फुटित कर रही थी, कमल पुष्पों को अभिनन्दित कर रही थी, अशोक मंजरी को सान्निध्य दे रही थी, कदली वृक्षों के प्रति अनुराग प्रकट कर रही थी। हिण्डोलों में झूमती हुई सुन्दरियों द्वारा वह वन और भी सुन्दर हो उठा था। विलासी नगरवासी वहां आकर पुष्प चयन कर रहे थे। भ्रमरों के गुञ्जन और उन्मत्त कोकिलाओं की कुहुक से वह वन सबका स्वागत कर रहा था। (श्लोक ६९-७५)

कुन्थुनाथ शिविका से नीचे उतरे और उस वन में प्रविष्ट हुए तदुपरान्त अलङ्कारादि खोलकर वैशाख कृष्णा पंचमी को चन्द्र जब कृत्तिका नक्षत्र में अवस्थित था उन्होंने एक हजार राजाओं के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। दीक्षा ग्रहण के साथ-साथ उन्हें मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। तदुपरान्त दो दिनों के उपवास का पारणा दूसरे दिन सुबह उन्होंने चक्रपुर के राजा व्याघ्रसिंह के घर पायसान्न ग्रहण कर किया। देवों ने रत्न वर्षादि पंच दिव्य प्रकट किए। राजा व्याघ्रसिंह ने जहां प्रभु खड़े हुए थे वहां एक रत्नवेदी

का निर्माण करवाया। (श्लोक ७६-७९)

अनासक्त वायु की भाँति अप्रतिहत प्रभु ने सोलह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में विचरण किया। प्रव्रजन करते हुए एक दिन वे सहस्राम्रवन में लौट आए और दो दिनों के उपवास के पश्चात् तिलक वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए। चैत्र शुक्ला तृतीया को चन्द्र जब कृत्तिका नक्षत्र में अवस्थित था तब घाती कर्मों के क्षय हो जाने से प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तब चार श्रेणियों के देव और उनके इन्द्र ने अविलम्ब वहां आकर तीन प्राकारों से समन्वित समवसरण की रचना की। देवों द्वारा संचालित स्वर्ण कमलों पर पैर रखते हुए प्रभु पूर्व द्वार से उस समवसरण में प्रविष्ट हुए। वहां ४२० धनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा देकर जगद्गुरु धर्म चक्रवर्ती कुन्थुनाथ 'नमो तित्थाय' कहकर' पूर्वाभिमुख होकर पूर्व दिशा में रखे सिंहासन पर उपविष्ट हुए। उनकी शक्ति से व्यन्तर देवों ने उनके अनुरूप तीन मूर्तियों का निर्माण कर तीन ओर रखा। चतुर्विध संघ यथायोग्य स्थित हुआ। पशु मध्य प्राकार में और वाहनादि निम्न प्राकार में रखे गए। समवसरण की रचना ज्ञात होने पर कुरुराज वहां आए और उन्हें प्रणाम कर इन्द्र के पीछे करबद्ध होकर बैठ गए। फिर भगवान को पुनः प्रणाम कर सौधर्मेन्द्र और कुरुराज आनन्दित मन से इस प्रकार स्तुति करने लगे :

(श्लोक ८०-९०)

'चतुर्विध शरीर के चतुर्शरीर रूपी हे चतुर्मुख, मनुष्यों के चतुर्थ वर्ग (मोक्ष) के प्रवक्ता, आपकी जय हो। मोहमुक्त होने के कारण चतुर्दश रत्नों का परित्याग कर हे त्रिलोकनाथ, आपने अनिन्द्य त्रिरत्न धारण किए हैं। यद्यपि आप राग-रहित हैं फिर भी आपने सभी के हृदयों को जीत लिया है। यद्यपि आप निःस्वार्थ हैं फिर भी आप सर्वशक्तिमान हैं। यद्यपि चन्द्र-से आपके कञ्चन वर्ण का सभी ध्यान रखते हैं, फिर भी आप ध्यान के निर्यास रूप हैं। यद्यपि कोटि-कोटि देव आपको घेरे हुए हैं, फिर भी आप निःसंग हैं। यद्यपि आपका प्रेम सभी के लिए है, फिर भी आप स्वयं प्रेम से रहित हैं। यद्यपि आप अकिंचन हैं, फिर भी पृथ्वी की परम सम्पदा हैं। हे भगवन्, हे सत्रहवें तीर्थङ्कर, आपका रूप अगम्य है, आपकी शक्ति अगम्य है, आप निखिल जनतारक हैं। हे प्रभो, आपको

नमस्कार। आप जनसाधारण के लिए अचिन्त्य मणिरत्न स्वरूप हैं। वाणी से आपकी प्रशंसा और मन से आपका ध्यान जितना ही किया जाए उतना ही कम है। हे भगवन्, हम आपकी पूजा और स्तुति निरन्तर कर सकें इसके अतिरिक्त हमारी कोई इच्छा नहीं है।' (श्लोक ९१-९८)

इस भांति स्तुति कर उनके निवृत्त हो जाने पर भगवान् कुन्थुनाथ ने निम्नलिखित देशना दी :

'चौरासी लाख योनि रूप भँवरों से पूर्ण यह संसार रूपी भव समुद्र महा भयंकर और दुःखों का कारण है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने पर सुदृढ़ मन शुद्धि रूपी जहाज विवेकियों को इस भव सागर से उत्तीर्ण कराने में समर्थ है। ज्ञानियों के लिए मनःशुद्धि मोक्षमार्ग प्रदर्शनकारी एक ऐसी दीपशिखा है जो कभी निर्वापित नहीं होती। वहाँ अप्राप्त गुण स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। जहां मनःशुद्धि नहीं वहां प्राप्त गुण भी लुप्त हो जाते हैं। अतः प्रज्ञाशील व्यक्तियों के लिए निरन्तर मन को शुद्ध रखना उचित है। जो बिना मनःशुद्धि के मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं वे ज हाज परित्याग कर तैर कर समुद्र पार करने की चेष्टा करते हैं। अन्धे के लिए जैसे दर्पण व्यर्थ है उसी प्रकार मनःशुद्धि के बिना तपस्वी का ध्यान भी व्यर्थ है। चक्राकार वायु जैसे राह चलते लोगों को अन्यत्र उठाकर फेंक देता है उसी प्रकार मोक्ष पथ के यात्रियों को चञ्चल और अविशुद्ध मन अन्यत्र ले जाता है।' (श्लोक ९९-१०६)

'निरंकुश और निःशंक विचरणकारी मन रूपी निशाचर त्रिलोक के प्राणियों को संसार रूपी गह्वर में लाकर पटक देता है। मन को अवरोध किए बिना जो योग-साधना में प्रवृत्त होते हैं वे उसी प्रकार हास्यास्पद और व्यर्थ होते हैं जैसे लँगड़े व्यक्ति का पैरों से चलकर गांव में जाने की इच्छा व्यक्त करना। जो मन को जीत लेता है, उसके समस्त कर्म निरुद्ध हो जाते हैं और जिनका मन पर शासन नहीं, उसके कर्म दिन-प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं। मन रूपी मर्कट सर्वत्र विचरण करना चाहता है। अतः जो मुमुक्षु हैं उनके लिए उचित है कि दृढ़ संकल्प द्वारा उसे नियन्त्रित करें, सर्व प्रकार से शुद्ध करें। मनःशुद्धि बिना तप, संयम और स्वाध्याय का प्रयोजन ही क्या है? कारण, बिना मनःशुद्धि के वे केवल देह पर्यवसित हैं। मन की विशुद्धि के द्वारा ही एक मात्र राग और द्वेष पर विजय

प्राप्त की जा सकती है ताकि आत्मा स्व-स्वरूप में निष्कलंक भाव से अवस्थित रहें।'
(श्लोक १०७-११२)

उनकी यह देशना सुनकर बहुत से प्रव्रजित हो गए और स्वयम्भू आदि ३५ गणधर हुए। प्रथम याम बीत जाने पर प्रभु देशना से निवृत्त हुए। तब उनके पादपीठ पर बैठकर स्वयंभू गणधर ने देशना दी। द्वितीय याम बीत जाने पर वे भी देशना से निवृत्त हो गए। देव और अन्य जन भगवान कुन्थुनाथ को प्रणाम कर स्व-स्व लोक चले गए।
(श्लोक ११३-११५)

भगवान कुन्थुनाथ के तीर्थ में कृष्णवर्णीय हंसवाहन गन्धर्व नामक यक्ष उत्पन्न हुए। जिनके दाहिने हाथों में से एक में पाश था, दूसरा वरद मुद्रा में था और बायें हाथों में से एक में बिजोरा और दूसरे में अंकुश था। वे भगवान के शासनदेव बने। उनके तीर्थ में शुक्लवर्णा मयूरवाहिनी बला नामक यक्षिणी उत्पन्न हुई। उनके दाहिनी ओर के हाथों में से एक में बिजोरा और दूसरे में अंकुश था एवं बाएँ हाथों में से एक में भुषण्डी और दूसरे में कमल था। सर्वदा निकट रहती हुई वे उनकी शासन देवी बनी।
(श्लोक ११६-११७)

अन्य जीवों की मुक्ति के लिए जगद्गुरु उनके साथ पृथ्वी पर सर्वत्र विचरने लगे। भगवान कुन्थुनाथ के संघ में ६०००० साधु एवं ६०६०० साध्वियां, ६७० पूर्वधारी, २५०० अवधि ज्ञानी, ३३४० मनःपर्याय ज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० वैक्रिय लब्धिधारी, १२००० वादी, १७९००० श्रावक तथा ३९१००० श्राविकाएँ थीं।
(श्लोक ११८-१२५)

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् २३७३४ वर्ष बीत जाने पर निर्वाण समय निकट जानकर प्रभु १००० मुनियों सहित सम्मेत शिखर पधारे और अनशन ग्रहण कर लिया। एक मास पश्चात् वैशाख कृष्णा प्रतिपदा के दिन चन्द्र जब कृत्तिका नक्षत्र में था तब उन्होंने १००० मुनियों सहित मोक्ष प्राप्त किया। भगवान कुन्थुनाथ की पूर्ण आयु ९५००० वर्ष की थी, जो कि युवराज, राजा, चक्रवर्ती और व्रती रूप में समान भाग में विभक्त थी। भगवान शान्तिनाथ के निर्वाण के अर्द्ध पल्योपम पश्चात् भगवान कुन्थुनाथ निर्वाण को प्राप्त हुए। इन्द्र और देवों ने उनका निर्वाण

महोत्सव मनाया और उनके दन्तादि अवशेष पूजा के लिए स्व-स्व वासस्थान पर ले गए। ((श्लोक १२६-१३१)

प्रथम सर्ग समाप्त

अमरनाथचरित

द्वितीय सर्ग

इक्ष्वाकु वंश के तिलक गोरोचनवर्णीय और चतुर्थ आरा रूप सरिता के हंस भगवान अरनाथ की जय हो। मैं यहां त्रिलोक रूपी कमल के लिए आनन्ददायी चन्द्र रूप भगवान अरनाथ का जीवन-वर्णन करूँगा। (श्लोक १-२)

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में सीता नदी के उत्तरी तट पर वत्स नामक विजय में सुसीमा नामक एक नगरी थी। वहां के राजा का नाम था धनपति। वे जैसे असीम साहसी थे वैसे ही धर्मपरायण थे। वे जब इस पृथ्वी पर शासन करते थे तब बन्धन, प्रताड़न, अङ्ग भंगादि दण्डों का प्रयोग नहीं होता था। कारण, प्रजाजनों में कलह या विवाद ही नहीं था। वे परस्पर प्रेम भावापन्न होकर रहते थे मानो समस्त पृथ्वी धर्मसंघ में परिणत हो गई है। जिन-प्ररूपित धर्म उनके करुणामय हृदय में सर्वदा हंस की तरह निवास करता था। क्रमशः इस संसार की निरर्थकता अनुभव कर उन्होंने संसार से विरक्त होकर संवर की साधना के लिए सम्बर नामक मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। कठोरतापूर्वक धर्म पालन और तप कर वे पृथ्वी पर पर्यटन करने लगे। यद्यपि वे कर्मों के शत्रु थे, फिर भी बीस स्थानक की उपासना और अर्हत् भक्ति कर तीर्थङ्कर नाम गोत्र उपार्जन किया। कालान्तर में ध्यानासन में देह त्याग कर नवम ग्रैवेयक विमान में अहमिन्द्र रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक ३-१२)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नामक एक महानगरी थी। वहां के राजा सेवाकर्म के लिए ही प्रजा की सेवा करने हेतु जन्म ग्रहण करते थे। विमानादि अतुल वैभव के कारण ही वहां के प्रजाजन राजा-से लगते थे। नगरी की परिखा देखकर लगता—नगरी के सौन्दर्य को चिरस्थायी करने के लिए ही सृष्टिकर्ता ने वह रेखा खींच दी थी। बहुविध स्वर्ण, स्फटिक और इन्द्रनील

मणियों के भवन देखकर लगता मानो वे मेरु, कैलाश और अञ्जन गिरि के शिखर हैं। स्वर्ग के वृत्रघ्न-से वहां के राजा थे चन्द्र-से सुन्दर सुदर्शन। धर्म तो मानो उनका मित्र ही था जिसका साहचर्य वे क्या नगर में, क्या बाहर, क्या शयन-कक्ष में, कभी भी परित्याग नहीं करते थे। उनका प्रताप मन्त्र की भांति विस्तृत होने के कारण उनकी सेना तो मात्र अलङ्कार रूप थी। राजा लोग प्रतिदिन उन्हें जो हस्ती उपहार में देते उनके मदक्षरण से राजप्रासाद के चत्वर की धूलि निवारित होती रहती। (श्लोक १३-२०)

अन्तःपुर की अलङ्कार स्वरूपा उनकी प्रधान महिषी का नाम था देवी। इन्हें देखकर लगता मानो स्वर्ग की कोई देवी ही मृत्युलोक से अवतरित हुई है। उनका स्वभाव इतना कोमल था कि प्रणय में भी उन्होंने कभी अपने पति के प्रति कोप प्रकट नहीं किया और उदार हृदयी होने के कारण न ही कभी अपनी सौतों के प्रति ईर्ष्या। पति का प्रेम व स्व-सौन्दर्य पर वे कभी गर्वित नहीं होती थीं जब कि वे रमणियों में रत्नरूपा थीं। उनका प्रतिरूप, जिनका देहसौष्ठव अनिन्द्य था व जो सौन्दर्य की मानो सरिता थी वह मात्र दर्पण में ही देखा जा था, अन्यत्र नहीं। उनके साथ सुख-भोग करते हुए राजश्रेष्ठ दीर्घबाहु सुदर्शन ने देवों की तरह कुछ काल व्यतीत किया। (श्लोक २१-२५)

आनन्द में निमज्जित धनपति का जीव ग्रैवेयक विमान की आयु पूर्ण कर फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के दिन चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में अवस्थित था वहां से च्यवकर महारानी देवी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के शेष याम में सुख शय्याशायीन उन्होंने तीर्थङ्कर के जन्म सूचक चौदह महास्वप्न देखे। तीन ज्ञान का अधिकारी, वह भ्रूण उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट दिए बिना उनके देह सौन्दर्य को वर्द्धित करते हुए गुप्त रूप से बढ़ने लगा। अग्रहायण मास की शुक्ला दशमी को चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में अवस्थित था महारानी देवी ने स्वर्णवर्णीय सर्वसुलक्षणयुक्त नन्द्यावर्त लांछन युक्त पुत्र को जन्म दिया। छप्पन दिक्कुमारियों ने उनका कृत्य सम्पन्न किया और चौसठ इन्द्रों ने मेरुपर्वत पर उनका जन्माभिषेक किया। उनकी देह पर अङ्गराग कर पूजा और आरती की। तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्र ने इस प्रकार स्तुति की :

'जिनके अठारह दोष विनष्ट हो गए हैं, जिनका अठारह प्रकार के ब्रह्मचारीगण ध्यान करते हैं, ऐसे अठारहवें तीर्थङ्कर आपको मैं प्रणाम करता हूं। गर्भ से ही तीन ज्ञान जिस प्रकार आप में वर्तमान थे उसी प्रकार यह त्रिलोक आप में समाहित है। राग-द्वेष रूपी दस्यु इतने दिनों तक इस संसार को मोह-रूपी निद्रा में वशीभूत कर शासन कर रहे थे। अब हे प्रभु, आप उनका उद्धार करें। क्लान्त पथिकों के लिए रथ सदृश, पिपासार्त्त के लिए नदी-से, तपन ताप से क्लिष्ट के लिए वृक्ष की छाया-से, डूबते हुए मनुष्य के लिए नौका-से, रोगी के लिए आरोग्य-से, अन्धकार क्लिष्ट के लिए आलोक-से, पथ-भ्रष्ट के लिए पथ-प्रदर्शक की तरह, व्याघ्रभीत के लिए अग्नि की तरह, हे तीर्थनाथ! दीर्घ दिनों से प्रभु से वंचित हमने आपको प्रभु रूप में प्राप्त किया है। प्रभु रूप में आपको पाकर देव, असुर और मनुष्य जैसे नवीन चन्द्र देखने सब एकत्र होते हैं उसी प्रकार यहां एकत्र हुए हैं। हे भगवन्, मैं आपसे और कुछ नहीं चाहता, केवल इतना ही चाहता हूं कि जन्म-जन्म में आप मेरे प्रभु बनें।'
(श्लोक २६-४०)

इस प्रकार स्तुति कर सौधर्मेन्द्र प्रभु को लेकर हस्तिनापुर गए और उन्हें महारानी देवी के पार्श्व में सुला दिया। राजा सुदर्शन ने पुत्र जन्मोत्सव किया। महारानी देवी ने स्वप्न में चक्के का अर देखा था इसलिए जातक का नाम रखा अर। मित्ररूपी देवों के साथ धात्रीरूपिणी देवियों द्वारा अनुमोदित क्रीड़ा करते हुए वे क्रमशः बड़े हुए। तीस धनुष दीर्घ अरनाथ ने पिता का आदेश पालन करने के लिए यथासमय विवाह किया। तदुपरान्त एक सौ हजार वर्ष व्यतीत होने पर पिता की आज्ञा से ही राज्यभार ग्रहण किया।
(श्लोक ४१-४५)

२१००० वर्ष और बीत जाने पर उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अतः चक्र एवं अन्य तेरह रत्नों का अनुसरण करते हुए अरनाथ ने ४०० वर्ष में समग्र भरत क्षेत्र को जीत लिया।
(श्लोक ४६-४७)

एक सौ हजार वर्ष चक्री रूप में व्यतीत होने पर लोकान्तिक देवों ने आकर तीर्थ स्थापित करने को कहा। प्रभु ने एक वर्ष तक वर्षीदान देकर राज्यभार पुत्र अरिनन्दन को सौंपकर एवं वैजयन्ती

पालकी में बैठकर सहस्राम्रवन उद्यान में गए। नन्द्यावर्त लांछनयुक्त प्रभु ने उस उद्यान में प्रवेश किया जहां कोकिलाएँ मौन व्रतधारी साधुओं की तरह वृक्षशाखाओं पर बैठी थीं। पथिक वहां गोप बन्धुओं के सङ्गीत से आकृष्ट होकर आए थे। नगर विलासिनियों के दीर्घ केश-भार से मानो लज्जित होकर, मयूर अपने पंखों को फेंक कर इक्षु क्षेत्र में आश्रय लिए हुए थे। पुन्नाग पुष्पों की गन्ध से भ्रमर उन्मत्त हो उठे थे और फूल एवं कमलानींबू के सम्भार से समस्त वन ने हरिद्रावर्ण धारण कर रखा था। लावली, फलिनी, यूथी, मुचकुन्द फूलों ने शीत ऋतु के हास्य की भांति विकसित होकर समस्त उद्यान को आलोकित कर रखा था। लोध्र फूलों के पराग ने आकाश को अन्धकारमय कर रखा था। वैजयन्ती शिविका से उतर कर दो दिनों के उपवासी प्रभु ने एक हजार राजाओं के साथ अग्रहायण शुक्ला एकादशी के दिन चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में अवस्थित था स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा ग्रहण के साथ-साथ उन्हें मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। द्वितीय दिन प्रभु ने राजपुर नगर के राजा अपराजित के घर पर क्षीरान्न ग्रहण कर पारणा किया। देवों ने पांच दिव्य प्रकट किए। राजा अपराजित ने प्रभु जिस स्थान पर खड़े हुए थे वहीं एक रत्नवेदी का निर्माण करवाया।
(श्लोक ४८-५८)

प्रभु बिना कहीं सोए, बिना कहीं बैठे व्रत यापन करते हुए तीन वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में पृथ्वी पर विचरण करते रहे। तदुपरान्त वे उसी सहस्राम्रवन उद्यान में पुनः लौट आए और प्रतिमा धारण कर आम्रवृक्ष के नीचे अवस्थित हो गए। कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में था तब घाती कर्मों के क्षय हो जाने से प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। देवों ने तत्क्षण समवसरण की रचना की। प्रभु पूर्व द्वार से उसमें प्रविष्ट हुए और तीन सौ साठ धनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा देकर 'नमो तित्थाय' कहकर पूर्व दिशा में रखे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए। व्यन्तर देवों ने अन्य तीन ओर उनकी प्रतिमूर्तियां रखीं। चतुर्विध संघ भी यथास्थान बैठ गया। प्रभु समवसरण में अवस्थित हुए हैं, जानकर कुरुपति अरविन्द वहां आए और प्रभु को प्रणाम कर शक्र के पीछे बैठ गए। तदुपरान्त शक्र और अरविन्द ने प्रभु की इस

प्रकार स्तुति की :

'त्रिभुवनपति की जय हो ! निखिलजन सुहृद की जय हो ! करुणासागर की जय हो ! अप्राकृत शक्तिधारी की जय हो ! सूर्य किरणों से सर्वदा समस्त विश्व आलोकित होता है। चन्द्र किरणों से पृथ्वी का ताप दूर होता है। वृष्टि के जल से धरती को सजीवता प्राप्त होती है। हवा से वह पुनर्जीवित होती है—इनके पीछे जैसे कोई उद्देश्य नहीं होता उसी भांति हे देव, आपकी तपश्चर्या भी त्रिलोक के कल्याण के लिए है। (अर्थात् कोई उद्देश्य प्रणोदित नहीं है।) इतने दिनों तक पृथ्वी अन्धकारमय थी। अब वह आपके कारण आलोकित हो गई है, उसे चक्षु प्राप्त हुए हैं। अब नरक के द्वार बन्द हो जाएँगे। तिर्यंच योनि में सामान्य जन ही जन्म ग्रहण करेंगे। स्वर्ग उपनगर की भांति समीप हो जाएगा और मोक्ष भी अब दूर नहीं रहेगा। सबके कल्याण के लिए जब आप पृथ्वी पर विचरण करेंगे तब ऐसा कौनसा अचिन्त्य आनन्द है जिसे मनुष्य प्राप्त नहीं करेगा ?' (श्लोक ५९-७४)

इस प्रकार स्तुति कर सौधर्मेन्द्र और अरविन्द चुप हो गए। तब भगवान अरनाथ ने यह देशना दी :

'संसार के चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही श्रेष्ठ या आनन्द-सरोवर है। मोक्ष ध्यान की साधना से सिद्ध होता है और ध्यान मन पर निर्भर करता है। इसलिए योगी पुरुष मन को आत्मा के अधिकार में रखते हैं; किन्तु राग-द्वेष उन पर विजय प्राप्त कर उन्हें पुद्गलों के अधीन कर देते हैं। सावधानीपूर्वक निग्रह कर मन को शुभ परिणति में लगा देने पर भी निमित्त प्राप्त होने पर वे बार-बार पिशाच की भांति उसे अपने अधीन कर लेते हैं। राग-द्वेष रूपी अन्धकार में जीव को अन्धा अन्धे को ले जाने की तरह अज्ञान की अधोगति में ले जाकर नरक रूपी गह्वर में पटक देता है। द्रव्यों में आसक्ति (रति) और आनन्द (प्रीति) ही राग और अप्रीति द्वेष है। यही राग-द्वेष समस्त प्राणियों के लिए दृढ़ बन्धन रूप है और समस्त दुःखों का मूल है। संसार में यदि राग-द्वेष नहीं रहता तो यहां सुख से कोई विस्फारित नेत्र नहीं होता, उसी प्रकार दुःख से करुणार्द्र भी नहीं होता। फिर तो सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाता। राग के अभाव में द्वेष और द्वेष के अभाव में राग होता ही

नहीं। इनमें एक का परित्याग कर देने से दोनों का ही परित्याग हो जाता है। कामादि दोष राग के भृत्य और मिथ्या अभिमान आदि द्वेष के अनुचर हैं। मोह राग-द्वेष का पिता, बीज, नायक अथवा परमेश्वर है। यह मोह रागादि से भिन्न नहीं हैं। एतदर्थ समस्त दोषों का पितामह मोह ही है। मोह से सभी को सावधान रहना चाहिए। संसार में राग, द्वेष और मोह ये तीन ही दोष हैं, उन्हें छोड़कर अन्य कोई दोष नहीं है। इस त्रिदोष के कारण ही जीव संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है। जीव का स्वभाव तो स्फटिक की भांति स्वच्छ है, उज्ज्वल है; किन्तु इस त्रिदोष के कारण ही जीव के विभिन्न रूप होते हैं। विश्व के आध्यात्मिक राज्य में यह कैसी अराजकता है कि राग, द्वेष और मोह रूप भयंकर दस्यु जीवों का ज्ञान रूपी सर्वस्व और स्वरूप स्थिरता रूपी सम्पत्ति दिन के समय ही सबके सामने लूट लेता है। जो जीव निगोद में है और जो शीघ्र मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं उन सभी पर मोहराज की निर्दय निष्ठुर सेना टूट पड़ी है। मोहराज को क्या मुक्ति से शत्रुता है और मुमुक्षुओं से वैर है जिसके कारण वह जीवों की मुक्ति के सम्बन्ध में बाधक है। आत्मार्थी मुनियों को न सिंह का भय रहता है, न बाघ का और न ही सर्प, चोर, अग्नि और जल का। वे भी रागादि त्रिदोष से भयभीत हैं। कारण, ये इहभव और परभव नष्ट कर देते हैं। संसार अतिक्रमण का जो पथ योगी जनों ने ग्रहण किया है वह संकीर्ण है जिसके दोनों ओर राग-द्वेष रूपी बाघ और सिंह खड़े हैं। अतः आत्मार्थी मुनियों के लिए उचित है कि वे प्रमाद रहित होकर समभाव सहित पथ पर चलें और राग-द्वेष रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।' (श्लोक ७५-९३)

भगवान की देशना सुनकर बहुतों ने मुनिधर्म ग्रहण किया और कुम्भ आदि ३३ गणधर बने। प्रथम याम उत्तीर्ण होने पर प्रभु देशना से निवृत्त हुए। तब गणधर कुम्भ ने प्रभु के पादपीठ पर बैठकर देशना दी। दूसरा याम बीत जाने पर वे देशना से निवृत्त हो गए। शक्र और अन्यान्य सभी प्रभु की वन्दना कर स्व-स्व निवास को लौट गए। (श्लोक ९४-९६)

भगवान के शासन में त्रिनेत्र कृष्णवर्ण शङ्खवाहन यक्षेन्द्र उत्पन्न हुए। जिनके दाहिने छह हाथों में से पांच हाथों में बिजोरा

नींबू, तीर, खड्ग, हथौड़ा और पाश था एवं छठा हाथ वरद मुद्रा में था। बायीं ओर के छह हाथों में क्रमशः नकुल, धनुष, ढाल, त्रिशूल, अंकुश और अक्षमाला थी। इसी भांति नीलवर्णा पद्मासना यक्षिणी उत्पन्न हुई। जिनके दाहिने दोनों हाथों में बिजोरा नींबू, और नील कमल था एवं बाएँ दोनों हाथों में रक्त कमल और अक्षमाला थी। ये दोनों भगवान के शासन देव और देवी बने जो सर्वदा भगवान के निकट रहते थे। (श्लोक ९७-१००)

भगवान अरनाथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक दिन पद्मिनीखण्ड नगर के बाहर अवस्थित हुए। वहां समवसरण में भगवान ने देशना दी। उनकी देशना के पश्चात् गणधर कुम्भ ने समस्त सन्देहों का निरशन करने वाली देशना दी। देशना के समय एक बौने जैसे व्यक्ति के साथ श्रेष्ठी सागरदत्त आए और देशना सुनने लगे। देशना के अन्त में सागरदत्त खड़े हुए और गणधर कुम्भ को प्रणाम कर बोले :

'भगवन्, स्वभाव से ही संसार के सभी जीव दुःखी हैं। विशेष कर मैं, जिसे कोई सुख नहीं है। मेरी पत्नी का नाम जिनमति है जिसके गर्भ से प्रियदर्शना नामक मेरे एक कन्या हुई। वह स्वर्ग की देवी से भी अधिक सुन्दर थी। वह समस्त प्रकार की कलाओं में पारंगत होती हुई यौवन को प्राप्त हुई। वह जैसी सुन्दर थी वैसी ही चतुर भी। उसके लिए उपयुक्त वर को लेकर मैं चिन्तित था। मुझे चिन्तित देखकर जिनमति बोली—'स्वामी, आप चिन्तित क्यों हो रहे हैं?' मैंने कहा—'प्रिये! बहुत ढूंढने के बाद भी प्रियदर्शना के उपयुक्त वर मैंने खोज नहीं पाया है, इसलिए चिन्तित हूं।' जिनमति ने उत्तर दिया—'स्वामी, उसके लिए ऐसा श्रेष्ठ पति खोजिए जिसके हाथों में सौंपकर हमें पश्चात्ताप न करना पड़े।' मैंने कहा—'यहां भाग्य ही बलवान होता है। अपना भला तो सभी चाहते हैं, कोई भी अपना बुरा नहीं चाहता है।' (श्लोक १०१-११०)

'इस चर्चा के पश्चात् मैं बाजार गया। वहां ताम्रलिप्ति के धनिक वणिक ऋषभदत्त से मेरा मिलाप हुआ। स्वधर्मी होने के नाते पुराने मित्रों की भांति हम लोगों में व्यवसाय के विषय में चर्चा हुई। एक दिन वह कार्यवश मेरे घर आया और प्रियदर्शना को जो देखा तो बहुत देर तक देखता ही रह गया। उसने मुझसे

पूछा—'यह लड़की कौन है ?' मैंने जवाब दिया—'मेरी लड़की है; किन्तु आप उसकी ओर इस प्रकार क्यों देख रहे हैं ?' ऋषभदत्त ने कहा—'श्रेष्ठी, वीरभद्र नामक मेरा एक पुत्र है। वह सुशील और तरुण है। रूप में वह कन्दर्प, काव्य रचना में शुक्र, वाग्मिता में बृहस्पति, शिल्पकर्म में वर्द्धकी, सङ्गीत में हूहू, वीणावादन में तुम्बरु, नाट्यकला में भरत और कौतुक करने में नारद है। गुटिका भक्षण कर वह देवों की तरह अपना रूप परिवर्तित कर सकता है और क्या कहूं ऐसी कोई कला नहीं है जिसे ईश्वर की भांति वह न जानता हो। उसके उपयुक्त कन्या मैं अन्यत्र कहीं खोज नहीं पाया। बहुत दिनों पश्चात् आपकी कन्या को देखकर लगा कि यह उसके उपयुक्त है।' (श्लोक १११-११९)

मैंने कहा—'मेरी यह कन्या भी समस्त कलाओं में निपुण है। इसके वर के लिए मैं भी चिन्तित हूं। सौभाग्य से आज आप से मेरा मिलना हुआ। मैं चाहता हूं वर-वधू रूप में इनका मिलन हो।' (श्लोक १२०-१२१)

'उपयुक्त पुत्रवधू प्राप्त कर ऋषभदेव आनन्दित होकर स्व-नगर में लौट गया और वीरभद्र को आत्मीय परिजनों सहित यहां भेजा। मैंने जब वीरभद्र को देखा तो उसके पिता के कथनानुसार उसे रूप, यौवन और गुणसम्पन्न पाया। तदुपरान्त एक शुभ दिन वीरभद्र ने उच्चकुलजात महिलाओं के मङ्गलगीत और आशीर्वचन के मध्य प्रियदर्शना का पाणिग्रहण किया। कुछ दिन यहां रहकर वह स्वपत्नी को लेकर स्वदेश लौट गया क्योंकि स्वाभिमानी श्वसुर गृह में अधिक दिनों तक नहीं रहते।' (श्लोक १२२-१२५)

'एक दिन मैंने सुना कि वीरभद्र रात्रि के शेष याम में मेरी निद्रित कन्या का परित्याग कर अन्यत्र कहीं चला गया। मैं उसी दुःख से दुःखी था। यह वामन उसकी खबर लेकर आया है; किन्तु वह कुछ भी ठीक से समझा नहीं पा रहा है। हे भगवन्, यथार्थ स्थिति क्या है—यह आप ही बतलाएँ।' (श्लोक १२६-१२७)

यह सुनकर दयालु हृदय गणधर कुम्भ ने सागरदत्त से कहा—

'उस रात्रि में आपके जँवाई ने सोचा—मैं विभिन्न कलाओं में पारदर्शी और मन्त्रविद् हूं। आश्चर्यजनक बहुविध दिव्य गुटिकाओं का प्रयोग मैं जानता हूं और सर्व प्रकार की शिल्पकलाओं में भी

पारंगत हूं; किन्तु उनका प्रदर्शन यहां न कर सकने के कारण वे बेकाम हो गई हैं। यहां गुरुजनों के सम्मुख वे अन्यथा सोचेंगे समझकर अपने पराक्रम को व्यक्त नहीं कर पा रहा हूं। हाय, मुझे धिक्कार है! मैं यहां कूपमण्डुक की भांति रह रहा हूं। अतः मैं अन्यत्र जाऊँगा और अपना पराक्रम दिखाऊँगा। यह सोचकर वह उठ बैठा; किन्तु तभी सोचा, यदि मेरी पत्नी कपट निद्रा में हुई तो वह मुझे बाधा देगी। अतः उसने उसे जगाया; किन्तु वह बोली—'मुझे परेशान मत करो। मेरा माथा दुःख रहा है।' तब वीरभद्र बोला—'तुम्हारा माथा दुख रहा है इसमें किसका दोष है?' प्रियदर्शना बोली—'तुम्हारा।' वीरभद्र ने पुनः प्रश्न किया—'कैसे?' प्रियदर्शना बोली—'रात्रि के इस अन्तिम प्रहर में तुम जो इस प्रकार बोल रहे हो उसी कारण।' तब वीरभद्र बोला—'तुम मुझ पर क्रोध मत करो। मैं तुम्हें इस प्रकार अब कभी दुःखी नहीं करूँगा।' (श्लोक १२८-१३६)

'उद्देश्यमूलक भाव से उसे इस प्रकार कहकर वीरभद्र ने उसके साथ केलि की। क्लान्त होकर उसकी पत्नी पुनः सो गई। उसका उद्देश्य वह जान भी नहीं पाई। इस बार उसे सचमुच निद्रामग्न देखकर वह वस्त्रादि लेकर उसका परित्याग कर घर छोड़कर चला गया। गुटिका भक्षण कर उसने स्वयं को कृष्णवर्णीय बना लिया। अक्षरों के परिवर्तन से कविता का रूप बदल जाता है। उसी प्रकार रंग परिवर्तन से आकृति भी अन्य प्रकार की होती है। तदुपरान्त वह स्वच्छन्द भ्रमण करता हुआ विद्याधर की भांति अपनी कला-कौशल से स्वयं का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करता हुआ ग्राम, नगर में विचरण करने लगा। प्रियदर्शना भी पतिगृह त्याग कर पितृगृह चली आई। कारण, उच्चकुलजाता के लिए स्वामी बिना अन्यत्र रहना उचित नहीं होता।' (श्लोक १३७-१४१)

'इस भांति घूमता हुआ वीरभद्र सिंहलद्वीप के रत्नपुर नगर में गया। वहां राजा रत्नाकर राज्य करते थे। वह उस नगर के शङ्ख से धवल गुण सम्पन्न श्रेष्ठी शङ्ख की दूकान पर जाकर बैठ गया। उसे देखकर श्रेष्ठी ने पूछा—'तुम कहां से आए हो?' वीरभद्र ने जवाब दिया—'मैं ताम्रलिप्त से आया हूं। घर से रूठकर निकल पड़ा हूं।' श्रेष्ठी ने कहा—'पुत्र, तरुण अवस्था में

तुम्हारा इस प्रकार रूष्ट होकर निकलना, उचित नहीं है; किन्तु भाग्यवश ही तुम सकुशल मेरे यहाँ आ गए।' (श्लोक १४२-१४६)

'ऐसा कहकर श्रेष्ठी शङ्ख उसे स्व-पुत्र की तरह अपने घर ले गए और स्नानाहार के पश्चात् उससे बोले—'मेरे कोई पुत्र नहीं है। आज से तुम मेरे पुत्र हो। मेरी अतुल सम्पत्ति के आज से तुम्हीं अधिकारी हो। देव की तरह मेरी इस अतुल सम्पति का भोग कर तुम मुझे दृष्टि का आनन्द दो। धनसंचय करना कठिन नहीं है। उस धन का उपभोग करने वाला पुत्र पाना कठिन है।' वीरभद्र विनीत भाव से बोला— 'यद्यपि मैं पितृगृह त्याग कर आया हूं; किन्तु लगता है यहां भी मैं पितृगृह में ही आ गया हूं। आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। मैं आपका शिष्य हूं। पुत्र तो पुत्र ही होता है; किन्तु मैं आपका धर्म पुत्र हूं।' (श्लोक १४७-१५१)

'अब वीरभद्र श्रेष्ठी शङ्ख के घर रहने लगा और अल्प दिनों के मध्य ही उसकी कला और शिल्प कौशल ने नगर के अधिवासियों को विस्मित कर दिया। (श्लोक १५२)

'अनिन्द्य सुन्दरी अनंगसुन्दरी राजा रत्नाकर की एकमात्र कन्या थी; किन्तु वह पुरुष विद्वेषी थी। श्रेष्ठी शङ्ख के भी विनयवती नामक एक सुशीला कन्या थी। वह प्रतिदिन अनंगसुन्दरी के पास आया-जाया करती थी। एक दिन वीरभद्र ने उससे पूछा—'बहन, तुम रोज राजमहल में क्यों जाती हो?' विनयवती ने उसे सारी बात स्पष्टतया बताई। तब वीरभद्र ने पूछा—'तुम्हारी सहेली अपना समय कैसे व्यतीत करती है?' विनयवती ने बताया—'वीणावादन आदि कलाभ्यास में।' वीरभद्र बोला—'तब तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।' विनयवती ने उत्तर दिया—'पुरुषों का वहां जाना निषेध है। यहां तक कि बालक का भी। तुम वहां कैसे जाओगे?' वीरभद्र ने कहा—'स्त्रीवेश में।' विनयवती के सम्मत होने पर अभिनेता की तरह उसने स्त्रीवेश धारण कर लिया। उसे देखकर अनंगसुन्दरी ने विनयवती से पूछा—'सखि, यह तुम्हारे साथ कौन आई है?' विनयवती ने कहा—मेरी बहन।'

(श्लोक १५३-१५९)

'अनंगसुन्दरी एक नवीन चित्रपट पर विरहिणी हंसिनी का चित्र अंकित कर रही थी। वह चित्र देखकर वीरभद्र बोला—'आप

विरहिणी की वेदना को परिस्फुट करना चाह रही हैं; किन्तु उसकी आँखें वैसी नहीं बनी है।' यह सुनकर अनंगसुन्दरी वह पट, रंग और तूलिका वीरभद्र को देती हुई बोली—'तब तुम वह अङ्कित कर दिखाओ।' (श्लोक १६०-१६२)

'वीरभद्र ने भावाभिव्यक्ति सहित अल्प समय में ही वह चित्र अङ्कित कर अनंगसुन्दरी के हाथों में दे दिया। उस चित्र में सूक्ष्मातिसूक्ष्म सही भावाभिव्यक्ति देखकर अनंगसुन्दरी बोली—'चित्रांकन के वैदग्ध्य से भावाभिव्यक्ति सुन्दर हुई है। उसकी आंखों से अश्रु झर रहे हैं, मुख मलिन हो गया है, ओष्ठों ने विस्मृत-से पद्मनाल को पकड़ रखा है, कंधा लटक गया है, पंख शिथिल हो गया है। इसकी इसी आकृति ने विरह-वेदना को प्रस्फुटित कर कर दिया है, वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं है।' तदुपरान्त विनयवती को उलाहना के स्वर में बोली—'बहिन, इसे इतने दिनों तक यहां क्यों नहीं लाई? ऐसे कलाविद् को गोप्य वस्तु की भाँति घर में ही क्यों छिपा रखा था?' (श्लोक १६३-१६७)

'वीरभद्र बोला—'गुरुजनों के भय से ही मेरी बहिन मुझे इतने दिनों तक यहां नहीं लाई। और कोई कारण नहीं है।' अनंगसुन्दरी ने उससे कहा—'तुम अपनी बहिन के साथ अब रोज यहां आना।' फिर विनयवती की ओर देखकर बोली—'इसका नाम क्या है?' वीरभद्र ने झट से उत्तर दिया—'मेरा नाम है वीरमती।' राजकन्या ने पुनः पूछा—'क्या तुम अन्य कला भी जानती हो?' इस बार विनयवती ने कहा—'वह तो तुम स्वयं परख कर देखो। दूसरे के कहने पर विश्वास करना उचित नहीं है।' अनंगसुन्दरी आनन्दित होकर बोली—'ऐसा ही होगा।' फिर उन्हें आप्यायित कर विदा किया। (श्लोक १६८-१७२)

'घर आकर वीरभद्र ने स्त्री वेश का परित्याग किया और पिता के प्रति श्रद्धावश दुकान पर गया। श्रेष्ठी ने स्नेहयुक्त स्वर में कहा—'इतनी देर तुम कहां थे? यहां लोग बार-बार आकर तुम्हारे बारे में पूछ रहे थे।' वीरभद्र बोला—'पिताजी, मैं उद्यान में गया था।' श्रेष्ठी बोले—'ऐसा ही है तो ठीक ही है।'

(श्लोक १७३-१७५)

'दूसरे दिन सर्वकलाविद् वीरभद्र उसी रूप में राजकुमारी

के पास गया। अनंगसुन्दरी उस समय वीणा बजा रही थी। वीरभद्र ने उससे कहा—'देवी, तारों के मध्य कहीं सिर का केश अटका हुआ है। अतः शुद्ध स्वर निकल नहीं रहा है। अनंगसुन्दरी ने कहा—'यह तुमने कैसे जाना?' वीरभद्र ने उत्तर दिया—'आप जिस राग को बजा रही थीं उस राग को सुनते ही समझ गई।' तब अनंगसुन्दरी ने वीणा उसके हाथों में दी। सत्यज्ञाता वीरभद्र ने तब तारों को खोल डाला। हृदय से तीर निकालने की भांति वीणा के मध्य भाग से एक केश निकालकर, राजकुमारी को दिखाया। राजकुमारी के तो विस्मय की सीमा ही नहीं रही। उसने उस तार को पलट कर नया तार लगाया और तुम्बरु से भी अधिक सुन्दर बजाकर सुनाया। सारणी से श्रुति को स्फुट करने वाला स्वर और धातु व व्यञ्जन को स्पष्ट करने वाली तान व कूट तान उत्पन्न कर द्रुत और विलम्बित वादन से कानों के लिए अमृत तुल्य राग व रस युक्त स्वर-लहरी से उसने अनंगसुन्दरी और उसकी परिचारिकाओं को मुग्ध कर डाला। वे चित्र खिंचित-सी उस स्वर-लहरी को सुनने लगीं। हरिणी को संगीत सुनाकर ही आबद्ध किया जाता है। उस वीणावादन को सुनकर राजकुमारी सोचने लगी—ऐसे सुयोग्य कलाविद् को खोज पाना तो देवों के लिए भी असाध्य है। इसके बिना तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है। मूर्ति सम्पूर्ण होने पर भी माल्य भूषित होकर ही सुन्दर लगती है।

(श्लोक १७६-१८६)

'इसी भांति वीरभद्र ने समय-समय पर अपनी अन्य कलाओं का भी परिचय देकर राजकन्या के हृदय को पूर्ण रूप से अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। जब वीरभद्र ने निश्चित रूप से समझ लिया कि अनंगसुन्दरी उस पर आसक्त हो गई है तब उसने एक दिन श्रेष्ठी को गुप्त रूप से कहा—'विनयवती के साथ स्त्री-वेश में मैं अनंगसुन्दरी के यहां राजमहल में कई बार गया हूं। भयभीत नहीं हों। मैंने ऐसा कुछ अनुचित नहीं किया है जिससे आपकी क्षति हो बल्कि आप तो उससे सम्मानित ही होंगे। राजा यदि अपनी कन्या को मेरे लिए आपको देना चाहें तो आप तुरन्त सम्मत मत होइएगा। कारण अधिक आग्रह ही सम्मान लाता है।' श्रेष्ठी बोले—'यह तो तुम ही अधिक जानते हो कारण हम लोगों

में तुम्हीं बुद्धिमान हो; किन्तु एक बात तुम्हें कहूंगा—इससे कहीं तुम विपदा में न पड़ जाओ।' वीरभद्र ने कहा—'पिताजी, इसके लिए आप चिन्तित न हों। आप शीघ्र ही अपने इस पुत्र की योग्यता और चरित्र का परिचय प्राप्त करेंगे—'यह तो तुम्हीं जानो' कहकर श्रेष्ठी चुप हो गए। (श्लोक १८७-१९३)

'राजा रत्नाकर के सभासदों में इस प्रकार आलोचना होने लगी—'श्रेष्ठी शङ्ख के घर ताम्रलिप्ति से एक नवयुवक आया है। नानाविध कलाओं का प्रदर्शन कर वह लोगों का मन हर लेता है। विदेशागत होने से उसके वंश का परिचय तो नहीं मालूम; किन्तु आकृति से वह उच्चकुलजात लगता है।' राजा ने मन ही मन सोचा - यह नवयुवक रूप में कामदेव-सा और सुशील सुदर्शन कलाविद् एवं बुद्धिमान भी है। यदि वह मेरी कन्या से विवाह करने को राजी हो जाए तब तो यही कहा जाएगा योग्यों को मिलाने में विधाता कंजूसी नहीं करता। (श्लोक १९४-१९८)

'उधर एक दिन सुयोग पाकर वीरभद्र ने अनंगसुन्दरी से कहा—'तुम भोग सुख से इतनी विरक्त क्यों?' अनंगसुन्दरी बोली—भोग सुख कौन नहीं चाहता; किन्तु योग्य पति को ढूँढकर पाना सहज नहीं है। कांच के साथ अंगूठी में जड़ जाने से अधिक अच्छा हीरे के लिए अकेला रहना ही है। जिस प्रकार सामुद्रिक कुम्भी आदि से पूर्ण नदी से जलहीन नदी ही अच्छी होती है, तस्करपूर्ण गृह से शून्य गृह, विष वृक्ष पूर्ण उद्यान से वृक्ष हीन उद्यान, उसी प्रकार कुलहीन कलाहीन दुर्गुणी स्वामी से तो तरुण और सुन्दरी होने पर भी अविवाहित रहना ही अच्छा है। हे सखि, अब तक मैं अपने लिए उपयुक्त वर खोज नहीं पाई हूं। कलाहीन स्वामी को वरण कर मैं क्यों सबके लिए हास्यास्पद बनूँ?'

(श्लोक १९९-२०४)

'वीरभद्र बोला—'ऐसा मत कहो कि तुम्हारे योग्य या तुम से अधिक कलाविद् वर नहीं है। क्या पृथ्वी पर रत्नों का अभाव है? आज ही तुम्हारे योग्य स्वामी मैं चुन दूँगी। नहीं तो फिर जैसी तुम्हारी रुचि—अन्य कोई तुम्हें सुखी नहीं कर पाएगा।' अनङ्गसुन्दरी बोली—'तुम मुझे आशा बँधा कर मेरे मुख से बात बाहर निकालना चाहती हो या झूठ बोल रही हो? यदि तुम सत्य

कह रही हो तो बताओ ऐसा कौन है जो मेरी कला, यौवन और सौन्दर्य को तृप्त कर सकता है।' (श्लोक २०५-२०८)

'अनङ्गसुन्दरी के ऐसा कहने पर वीरभद्र ने स्वयं का परिचय दिया। अनङ्गसुन्दरी तब बोली—'मैं तुम्हारी अनुगत हूं, तुम्हीं मेरे स्वामी हो।' वीरभद्र ने कहा—'तब ठीक है। इसे लेकर कोई बातचीत मत करना। मैं भी आज से तुम्हारे यहां नहीं आऊँगा। तुम अपने पिता से कहो—आप श्रेष्ठी शङ्ख को बुलाकर कहें—मैं वीरभद्र को अनङ्गसुन्दरी देना चाहता हूं।' अनङ्गसुन्दरी के सम्मत होने पर वीरभद्र स्व-आवास को लौट गया। (श्लोक २०९-२१२)

'अनङ्गसुन्दरी मां से जाकर बोली—'मां, इतने दिनों तक योग्य पति नहीं ढूँढ पाने के कारण विवाह करने से इन्कार कर तीर से बींधने की तरह मैंने आपको कष्ट दिया। अब मैंने शङ्ख पुत्र वीरभद्र को जो कि रूप, कला एवं तारुण्य आदि से समन्वित है उपयुक्त वर खोज लिया है। उसके साथ आज ही मेरा विवाह कर दें। तुम पिताजी से जाकर कहो वे शङ्ख को बुलवाएं और कहें वे मुझे वीरभद्र को देना चाहते हैं।' यह सुनकर आनन्दमना रानी तत्क्षण जाकर राजा से बोली—'सौभाग्यवश अपनी लड़की के लिए आपको आज वर मिल गया है, इसके लिए अजस्र धन्यवाद! अनङ्गसुन्दरी ने स्वयं कहा है कि श्रेष्ठी शङ्ख का पुत्र उसके लिए योग्य वर है।' राजा ने कहा—'यह संवाद लेकर तो तुम मेरे सम्मुख कामधेनु या चिंतामणि रत्न की तरह उपस्थित हुई हो। इतने दिनों तक प्रतीक्षा कर उसने जिस वर को चुना है उससे उसकी बुद्धिमत्ता और धैर्य ही प्रकाशित हुआ है। (श्लोक २१२-२१९)

'राजा के द्वारा आमन्त्रित होकर श्रेष्ठी शङ्ख कई वणिक पुत्रों सहित राजा के यहां गए और उन्हें प्रणाम किया। राजा ने श्रेष्ठी शंख से कहा—'आपके यहां ताम्रलिप्त से कोई युवक आया है। सुना है कि वह समस्त कलाओं में दक्ष है, असाधारण रूपवान है, लावण्ययुक्त और अनेक गुणों का आकर है।' शंख बोले—'महाराज, उसके गुणों को तो सर्वसाधारण जानते हैं। राजा ने कहा—'वह आपकी आज्ञा का पालन करता है कि नहीं?' श्रेष्ठी ने कहा—'आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? उसके गुणों के कारण सब उसी की बात मानते हैं।' राजा ने कहा—'मैं अनङ्गसुन्दरी को उसे देना

चाहता हूं। योग्य के साथ योग्य का मिलन हो।' श्रेष्ठी ने कहा—'महाराज, आप हमारे राजा हैं, हम आपकी प्रजा हैं। आप द्वारा रक्षित हैं। वैवाहिक सम्बन्ध और बन्धुत्व समपर्याय के लोगों में होना ही उचित है।' राजा बोले—'तब क्या आप प्रकारान्तर से मेरा अनुरोध अस्वीकृत कर रहे हैं? दुविधा में मत पड़िए। मेरी आज्ञा का पालन करिए। जाइए और अभी विवाह का आयोजन करिए।' (श्लोक २२०-२२७)

राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर श्रेष्ठी घर लौट आए और वीरभद्र को सारी बात कह सुनाई। तदुपरान्त शुभ दिन और शुभ क्षण में महा धूमधाम के साथ वीरभद्र और अनङ्गसुन्दरी का विवाह सम्पन्न हुआ। दिन-प्रतिदिन उनका प्रणय वर्द्धित होने लगा। पात्र-पात्री जब परस्पर एक दूसरे का चयन करते हैं तब प्रणय की वृद्धि होती रहती है। जैन धर्म की शिक्षा देकर क्रमशः वीरभद्र ने अनङ्गसुन्दरी को जैन श्राविका बना लिया। इहलोक का सम्बन्ध परलोक में भी सुखकर हो ऐसा ही करना चाहिए। वीरभद्र ने अर्हत् और समवसरण का चित्र बनाकर अनङ्गसुन्दरी को दिया और उसे इससे सम्बन्धी परिज्ञान कराया। (श्लोक २२८-२३२)

'एक दिन वीरभद्र ने सोचा, वह मुझ पर प्रेमवती है; किन्तु चञ्चलमना नारियों के प्रेम में स्थिरता नहीं होती। ठीक है, इसकी मुझे परीक्षा लेनी होगी। ऐसा सोचकर उसे एक दिन अत्यन्त समीप पाकर वीरभद्र बोला—'प्रिये, तुमसे अधिक प्रिय मुझे कोई नहीं है। फिर भी तुम्हें छोड़कर एक बार मुझे देश जाना होगा। कारण, मेरे माता-पिता इस लम्बे विच्छेद से कातर हो गए हैं। मुझे उन्हें सान्त्वना देनी होगी। तुम यहीं रहो। मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा। तुम्हें छोड़कर मैं कहीं भी अधिक दिनों तक नहीं रह सकूँगा।' (श्लोक २३३-२३७)

'विवर्ण बनी अनङ्गसुन्दरी बोली—'तुमने जो कुछ कहा वह ठीक ही है; किन्तु यह सुनने मात्र से ही मुझे तो लगता है, मेरे प्राण निकलने वाले हैं। लगता है तुम्हारा हृदय अत्यन्त कठोर है, तभी तो तुम यह बात मुझसे कह सके। तुम्हारे जैसी मैं भी होती तो तुम्हारी इस बात को सहन कर सकती। (श्लोक २३८-२३९)

'प्रिये, क्रोध मत करो। तुम्हें साथ लेकर जाने के लिए ही

मैंने तुम्हें यह बात कही थी।' (श्लोक २४०)

'तब वीरभद्र ने अनङ्गसुन्दरी को साथ लेकर स्वदेश लौट जाने की बात राजा से निवेदित की। नहीं चाहने पर भी अन्ततः कन्या सहित जामाता को देश जाने की अनुमति राजा को देनी पड़ी। कन्या और जामाता का विच्छेद तो सबके लिए दुःख का कारण होता है। तब वे दोनों जलपथ से जाने के लिए जहाज पर चढ़े। जो साहसी हैं उनके लिए जलपथ और स्थलपथ समान ही हैं। अनुकूल वायु में प्रत्यंचा से छूटे तीर की भांति या नीड़ त्यागी पक्षी की तरह जहाज द्रुतगति से आगे बढ़ने लगा। जब जहाज बहुत दूर चला गया तब एक दिन प्रलयकालीन झंझावात-सा भयंकर तूफान आया और हाथी जैसे सहज ही बिचाली का पुलिन्दा उठा लेता है वैसे ही उसने जहाज को उठा लिया। बार-बार उठने-गिरने से और तीन दिनों तक इधर-उधर प्रवाहित होते रहने से एक पहाड़ की चोटी से टकराकर जहाज पक्षी के अण्डे की तरह टूटकर चूर-चूर हो गया। जहाज टूटने के साथ-साथ अनङ्गसुन्दरी के हाथ काठ का एक तख्ता लग गया। जिसकी आयु होती है उसकी मृत्यु नहीं होती। उसी कारण तख्ते की सहायता से अनङ्गसुन्दरी पांच दिन और पांच रात्रि तक हंसिनी की तरह प्रवाहित होती अरण्य संकुल एक तट पर जा गिरी। आत्मीय स्वजनों से बहुत दूर विदेश यात्रा में जल में डूब जाने के फलस्वरूप पति और सम्बल खोकर तरंगों के आघात को सहन कर क्षुधा-तृष्णा से कातर जब वह तट पर जा पड़ी तो वह जलहीन मीन की तरह मूर्च्छित हो गई। उसी अवस्था में उसे एक दयालु तरुण तापस ने देखा और कन्धे पर उठाकर आश्रम में ले गया। (श्लोक २४१-२५२)

'अनङ्गसुन्दरी की चेतना लौटी। आश्रम के कुलपति ने उसे आश्वासन दिया—'माँ, तुम हमारे यहां निर्भय होकर रहो।'

(श्लोक २५३)

'तापसों की परिचर्या से अनङ्गसुन्दरी शीघ्र ही स्वस्थ हो गई और वहां पितृगृह की तरह रहने लगी। कुलपति सोचने लगे—वह यदि यहां रहेगी तो अपने असाधारण रूप के कारण तापसों के ध्यान में विघ्न स्वरूप होगी। ऐसा सोचकर वृद्ध कुलपति उससे बोले—'यहां से कुछ दूर पर पद्मिनी खण्ड नामक एक नगर है। वहां

के अधिवासी अधिकांशतः सज्जन और धनी हैं, तुम वहां जाकर रहो। कारण, वहां रहने से तुम स्वतन्त्र रूप से रहोगी और वहां तुम्हारे पति का भी तुमसे साक्षात्कार हो सकता है। वृद्ध तापसगण तुम्हें वहां छोड़ आएँगे।' (श्लोक २५४-२५८)

'कुलपति के आदेश से अनङ्गसुन्दरी बड़ तापसों के साथ हंसिनी जैसे कमलखण्ड में जाती है वैसे ही पद्मिनीखंड में चली गई। 'हम नगर में प्रवेश नहीं करते' कहकर तापस उसे नगर के द्वार पर छोड़कर आश्रम लौट गए। यूथभ्रष्ट हरिणी की तरह भीत नेत्रों से चारों ओर देखकर स्वदृष्टि से चारों दिशा को कमलमय कर अनङ्गसुन्दरी ने नगर में प्रवेश किया। नगर में प्रवेश करते ही उसने साध्वियों से परिवृता अपनी माता-सी साध्वी-प्रमुखा सुव्रता को स्थण्डिल भूमि की ओर जाते देखा। सोचने लगी—ये साध्वियां तो वैसी ही हैं जैसा मेरे पति ने चित्रपट पर अङ्कित कर मुझे दिखाई थीं। ये तो पूज्य और समस्त दोषों से रहित हैं। ऐसा सोचकर अनङ्गसुन्दरी उनके पास गई और उन्हें एवं अन्य साध्वियों को पति से प्राप्त शिक्षा के अनुरूप वन्दना कर करबद्ध होकर बोली, 'सिंहल द्वीप के अर्हत् चैत्यों की जय हो।' यह सुनकर सुव्रता बोली—'तुम क्या सिंगल द्वीप से आई हो; किन्तु तुम अकेली क्यों हो? तुम्हारी आकृति से ही लगता है तुम अनुचरहीन नहीं हो। तुम्हारे अनुचर कहां है?' तब अनङ्गसुन्दरी बोली—'आप मुझे आश्रय स्थल पर ले चलें, मैं आपको सब कुछ बता दूंगी।' तब सुव्रता उसे आश्रय स्थल पर ले गई। वहां जब वह अन्य साध्वियों की वन्दना कर रही थी, तुम्हारी पुत्री प्रियदर्शना वहां उपस्थित थी। सुव्रता और प्रियदर्शना द्वारा पूछे जाने पर उसने समस्त इतिवृत्त कह सुनाया। वह इतिवृत्त सुनकर प्रियदर्शना अनङ्गसुन्दरी से बोली—'सुश्री, कला आदि के सम्बन्ध में तुमने जो कुछ बताया है उसे सुनकर तो वे मेरे पति वीरभद्र ही लगते हैं; किन्तु उनके शरीर का रंग क्या बताया—कृष्णवर्ण? यह मेरे पति से नहीं मिलता।' तब साध्वी प्रमुखा ने अनङ्गसुन्दरी से कहा—'प्रियदर्शना तुम्हारी स्वधर्मी है। धर्म पालन करते हुए तुम उसके साथ रहो।' प्रियदर्शना ने भी स्नेह के साथ उसे ग्रहण कर लिया और तभी से वे दोनों वहां एक साथ रहने लगीं। (श्लोक २५९-२७३)

'उधर वीरभद्र ने भी जब जहाज तरंगों की आघात से भग्न हो गया तो एक काष्ठ फलक को कसकर पकड़ लिया। सातवें दिन विद्याधरराज रतिवल्लभ ने उसे उस अवस्था में देखा तो उसे उठाकर वैताढ्य पर्वत पर ले गया। स्वयं पुत्रहीन होने के कारण उसने अपनी पत्नी मदनमंजुषा को उसे पुत्र रूप में सौंप दिया। पूछने पर वीरभद्र ने उसे अपनी और पत्नी का समुद्रपतन आद्योपांत सुनाया। बोला—'पिताजी, समुद्ररूपी यम के मुख से आपने मुझे बचाया है; किन्तु नहीं जानता अनङ्गसुन्दरी की क्या दशा हुई है? तब रतिवल्लभ ने आभोगिनी विद्या द्वारा समस्त तथ्य अवगत कर उससे कहा—तुम्हारी दोनों पत्नियां अनङ्गसुन्दरी और प्रियदर्शना धर्म पालन करती हुई साध्वी सुव्रता के उपाश्रय में रह रही हैं।'

(श्लोक २७४-२८०)

'दोनों पत्नियों का कुशल संवाद सुनकर मानो उसकी देह अमृत से सिंचित हुई हो इस प्रकार स्वस्ति की निःश्वास ली। जिस समय रतिवल्लभ ने उसे समुद्र से बाहर किया उसी समय वीरभद्र ने उस गुटिका का जिसके बल से उसने कृष्णवर्ण धारण किया था, निकाल लिया था। अतः पुनः अपने स्वाभाविक गौरवर्ण में लौट आया। रतिवल्लभ ने अपनी पत्नी वेदवती से उत्पन्न स्वकन्या रत्नप्रभा के साथ उसका विवाह कर दिया। वीरभद्र ने भी यहां स्वयं का परिचय बुद्धदास कहकर दिया और रत्नप्रभा के साथ सांसारिक सुख भोगने लगा। (श्लोक २८१-२८४)

एक दिन दल के दल विद्याधरों को जाते देखकर उसने अपनी पत्नी से पूछा—'ये लोग इतनी शीघ्रता से कहां जा रहे हैं?' रत्नप्रभा ने उत्तर दिया—'इस पर्वत पर स्थित शाश्वत जिनों का दर्शन करने जा रहे हैं।' (श्लोक २८५-२८६)

'यह सुनकर बुद्धदास पत्नी सहित पर्वत शिखर पर चढ़ा। वहां शाश्वत जिन की भक्तिपूर्वक पूजा की और उसकी पत्नी ने देवों के सम्मुख गीत सहित नृत्य किया। बुद्धदास ने रत्नप्रभा से कहा—'ये देव मेरे लिए नवीन हैं। कारण, मैं सिंहलद्वीप में रहता हूं और हमारे कुल देवता बुद्ध हैं।' यह सुनकर रत्नप्रभा बोली—'मात्र इस कारण से आप कह रहे हैं ये नए हैं? वास्तव में ये देवाधिदेव सर्वज्ञ, सर्वदोषहीन, वीतराग हैं। त्रिलोक में ये ही पूज्य

हैं। ये ही सच्चे देव हैं, अर्हत् हैं, भगवान् हैं। ये बुद्ध ब्रह्मादि देव नहीं हैं। वे लोग तो मनुष्य को संसार चक्र में डाल देते हैं। अक्ष-मालादि धारण कर वे अपना अज्ञान ही प्रकट करते हैं।'

(श्लोक २८७-२९२)

इस प्रकार सुख भोग करते हुए उन्होंने और कुछ समय बिताया। (श्लोक २९३)

'एक दिन रात्रि के शेष याम में बुद्धदास ने रत्नप्रभा से कहा—'प्रिये, आज हम भरतार्द्ध के दक्षिणार्द्ध में घूमने जाएँगे।' उसके सम्मत होने पर वे दोनों पद्मिनीखण्ड में साध्वीप्रमुखा सुव्रता के उपाश्रय के सम्मुख विद्या-बल से उपस्थित हुए। वीरभद्र ने रत्न-प्रभा से कहा—'तुम जरा यहीं खड़ी रहो, मैं पानी पीकर आता हूं।' यह कहकर उसे वहीं छोड़कर वह कुछ आगे गया और आड़ में खड़े होकर राजा के गुप्तचर की तरह उस पर नजर रखी। बहुत देर तक पति के नहीं लौटने पर चक्रवाकी की तरह एकाकिनी रत्नप्रभा जोर-जोर से रोने लगी। स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है। उसका करुण क्रन्दन सुनकर करुणहृदया साध्वीप्रमुखा सुव्रता बाहर आई और पूछा—'वत्से, तुम कौन हो? कहां से आई हो? तुम अकेली क्यों हो? फिर रो क्यों रही हो?' रत्नप्रभा सुव्रता को वन्दन कर बोली—'आर्या, अपने स्वामी के साथ मैं यहां वैताढ्य पर्वत से घूमने आई थी। वे पानी पीने गए; किन्तु इतनी देर हो जाने के कारण मैं भयभीत हो गई हूं। वे मेरे बिना एक मुहूर्त भी नहीं रह सकते। अतः विलम्ब के कारण चिन्तित होकर मैं रो रही हूं। ऊष्ण भूमि पर नेवला जैसे सन्तप्त हो जाता है उसी प्रकार मैं भी सन्तप्त हो गई हूं। मेरे लिए तो जीवन धारण भी असह्य हो गया है।' यह सुनकर सुव्रता स्नेहसिक्त कण्ठ से बोली—'हे पतिगतप्राणा, भय की कोई बात नहीं है। जब तक तुम्हारे पति जल पीकर नहीं आ जाते हैं तब तक तुम इसी उपाश्रय में रहो।' सुव्रता के ऐसा कहने पर रत्नप्रभा उनके साथ उपाश्रय में प्रविष्ट हुई।

(श्लोक २९४-३०५)

'वीरभद्र ने जब रत्नप्रभा को उपाश्रय में प्रवेश करते देखा तो निश्चिन्त होकर अन्यत्र चला गया और वामन रूप में कला का प्रदर्शन करते हुए नगर में घूमने लगा। क्रमशः उसकी बात राजा

ईशानचन्द्र के कानों में पहुंची। राजा ईशानचन्द्र उसकी कला पर मुग्ध हो गए। जब कि एक कला ही मनुष्य को मुग्ध कर देती है तो अनेक कलाओं का तो कहना ही क्या। (श्लोक ३०५-३०७)

इधर अनङ्गसुन्दरी और प्रियदर्शना ने रत्नप्रभा को देखकर पूछा—'तुम्हारे पति कौन हैं और वे देखने में कैसे हैं?' रत्नप्रभा बोली—'मेरे पति सिंहल द्वीप निवासी गौरवर्णीय समस्त कलाओं के निधान और रूप में कामदेव जैसे हैं। उनका नाम बुद्धदास है।' प्रियदर्शना बोली—सिंहल निवास और नाम बुद्धदास के अतिरिक्त मेरे पति भी ऐसे हैं।' अनङ्गसुन्दरी ने कहा—'गौरवर्ण, निवास सिंहल और नाम बुद्धदास के अतिरिक्त मेरे पति भी ऐसे ही हैं।' पति का कोई संवाद न पाकर वे तीनों तीन बहनों की तरह उसी उपाश्रय में तप और स्वाध्याय में समय व्यतीत करने लगीं और छद्मवेशी वामन प्रतिदिन अपनी तीनों पत्नियों को वहां आकर देख जाता। उनके शील व स्वभाव को देखकर वह आनन्दित हुआ।
(श्लोक ३०८-३१३)

'एक दिन राजा ईशानचन्द्र के कानों में यह संवाद पहुंचा कि साध्वी सुव्रता के उपाश्रय में तीन विरहिणियां निवास कर रही हैं जो कि सुन्दर, सुशील और तीन रत्न की तरह पृथ्वी को पवित्र कर रही हैं। सच्चरित्रा और सत्कुलजाता होने के कारण वे किसी पुरुष से बात नहीं करती हैं। राजसभा में यह सुनकर छद्मवेशी वह वामन बोला, 'मैं उनको एक एक कर तीनों को ही बात करवा सकता हूं।' राजा ने कौतूहलवश तब उसे बात कराने को कहा। वह मन्त्री, राजकर्मचारी और कुछ नागरिकों को लेकर साध्वी सुव्रता के उपाश्रय में गया। उपाश्रय में प्रवेश करने के पूर्व ही अपने साथियों से कहा—'आप लोग वहां मुझे कहानी सुनाने को कहिएगा।' तदुपरांत वह उनके साथ उपाश्रय में प्रविष्ट हुआ और साध्वी सुव्रता एवं अन्यान्य साध्वियों को वन्दना कर वहां से कुछ दूर जाकर प्रवेश द्वार के पास बैठ गया। अद्भुत वामन की बात सुनकर अन्यान्य साध्वियों सहित उसकी तीनों पत्नियां भी कौतूहलवश उसे देखने वहां आईं।
(श्लोक ३१४-३२१)

'वामन ने अपने साथियों से कहा—'जब तक राजा के वहां जाने का समय नहीं होता है तब तक हम यहां बैठकर कथा-कहानी

सुनाते हुए समय काटें।' साथियों में एक बोला—'तब हम लोगों को कोई मजेदार कहानी सुनाओ।' वामन बोला—'कथा सुनाऊँ या वृत्तान्त ?' तब वह बोला—'कथा और वृत्तान्त में क्या भेद है ?' वामन बोला—वृत्तान्त होता है स्व-अनुभव सम्बन्धी कथा और कथा होती है अतीत की लोकप्रचलित कथा।' तब वह बोला, तब वृत्तान्त ही सुनाओ।' वामन ने कहा, 'तब सुनो।'

(श्लोक ३२२-३२५)

'इस भरत क्षेत्र में ताम्रलिप्त नामक एक नगर है। वहां ऋषभदत्त नामक एक गुणवान वणिक रहते हैं। एक बार वे कार्य-वश पद्मिनीखण्ड नगर में आए। वहां उन्होंने सागरदत्त की कन्या प्रियदर्शना को देखा और उसके साथ अपने पुत्र वीरभद्र का विवाह स्थिर किया। वीरभद्र प्रियदर्शना का पाणिग्रहण कर उसके साथ सांसारिक सुख भोगने लगा। एक दिन रात को सोई हुई समझकर उसने प्रियदर्शना को जगाया। इससे क्रुद्ध होकर वह बोली—'मुझे तंग मत करो, मेरा शिर दुख रहा है।' वीरभद्र बोला—'इसमें किसका दोष है ?' प्रियदर्शना ने प्रत्युत्तर दिया—'तुम्हारा।' वीर-भद्र ने कहा—'मेरा दोष कैसे ?' वह बोली—'इतनी रात को जो तुम इतना बकबक कर रहे हो इसलिए।' तब वीरभद्र बोला—अच्छा, अब मैं तुम्हें अधिक तंग नहीं करूँगा।' ऐसा कहकर उसने प्यार किया। उसके बाद जब वह सचमुच ही सो गई, वीरभद्र उसे छोड़कर अन्यत्र चला गया। (श्लोक ३२५-३३१)

'यह कहकर वामन शीघ्रता से उठा। बोला—'अरे, राज-सभा में जाने का समय हो गया है।' उसके उठने पर प्रियदर्शना ने उससे पूछा—'तब बताओ वीरभद्र अभी कहां है ? तुम तो निश्चय ही जानते होगे।' वामन बोला—'मेरे कुल में कलंक लग जाएगा इसलिए मैं दूसरे की स्त्री से बात नहीं करता।' प्रियदर्शना बोली—'तुम्हारा व्यवहार उच्चकुल के जैसा ही है; किन्तु कुलीन व्यक्ति का प्रथम गुण होता है नम्र भाव से उत्तर देना।' 'मैं कल उत्तर दूंगा' कहकर वह तुरन्त चला गया। राजा के लोगों ने भी जो जो घटित हुआ राजा को कह सुनाया। (श्लोक ३३२-३३६)

दूसरे दिन सुबह वामन पूर्व की भांति ही साध्वी सुव्रता के उपाश्रय में गया और सुनने को उत्सुक लोगों को आगे सुनाने

लगा। (श्लोक ३३७)

'वीरभद्र ने नगर परित्याग कर गुटिका भक्षण कर कृष्णवर्ण धारण कर लिया और विभिन्न देशों में भ्रमण करता हुआ सिंहल द्वीप पहुंचा। वहां वह रत्नपुर के श्रेष्ठी शंख की दूकान पर जाकर बैठ गया। उसका इतिवृत्त सुनकर श्रेष्ठी अपने घर ले गया और पुत्र की तरह उसे रखने लगा। वहां वीरभद्र नगरवासियों के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन करता हुआ उनकी प्रशंसा जुटाते हुए सुखपूर्वक रहने लगा। एक दिन वीरभद्र श्रेष्ठी कन्या के साथ स्त्री वेश में राजकन्या अनङ्गसुन्दरी के प्रासाद में गया। अपनी कला का प्रदर्शन कर और अपना परिचय देकर उसने राजकन्या से विवाह कर लिया। उसकी कला ने अनङ्गसुन्दरी को मुग्ध कर दिया था। इसलिए उसी के कहने पर उसके पिता ने वीरभद्र से उसका विवाह कर दिया था। बहुत दिनों तक वह उसके साथ सांसारिक सुख भोग करता रहा। बाद में जब वह उसे लेकर ताम्रलिप्त लौट रहा था तब एक दिन तूफान में फँसकर उनका जहाज चूर-चूर हो गया।' (श्लोक ३३८-३४३)

'इतनी कहानी सुनकर वह उठ खड़ा हो गया। बोला—'अब मेरा राजसभा में जाने का समय हो गया है। सेवा नहीं करने पर सेवकों की जीविका नहीं रहती।' उसे उठते देखकर अनङ्गसुन्दरी व्यग्रतापूर्वक बोली—'वीरभद्र अब कहां है?' 'कल बताऊँगा' कह कर वह वामन राजप्रासाद में चला गया। राज-कर्मचारियों ने गत कल की भाँति जो कुछ घटा था राजा को कह सुनाया।

(श्लोक ३४४-३४६)

'तृतीय दिन वामन पुनः उपाश्रय में आया और बोलने लगा, 'जहाज भग्न हो जाने पर वीरभद्र एक काष्ठ फलक का सहारा लेकर जल में प्रवाहित होने लगा। उसी अवस्था में विद्याधरराज रतिवल्लभ ने उसे देखा तो जल से बाहर निकाला और अपने निवास स्थान वैताढ्य पर्वत पर ले गए। जब वे उसे समुद्र से उठा रहे थे तो वीरभद्र ने जिस गुटिका को खाकर कृष्णवर्ण धारण किया था उसे हटा लिया। अतः वह पुनः ताम्रलिप्त की तरह गौर-वर्णीय हो गया। रतिवल्लभ के पूछने पर उसने अपना नाम बुद्धदास बताया और सिंहल द्वीप में रहने वाला। रतिवल्लभ के आग्रह पर

वीरभद्र ने उनकी कन्या रत्नप्रभा से विवाह किया और सांसारिक सुख भोग करने लगा। एक दिन वह रत्नप्रभा को लेकर पद्मिनी-खण्ड घूमने निकला और 'पानी पीकर आता हूं' कहकर उसे उपाश्रय के सम्मुख छोड़कर अन्यत्र चला गया।' (श्लोक ३४७-३५२)

ऐसा कहकर 'मैं जाता हूं' कहते हुए उठा। तब रत्नप्रभा ने पूछा—'वामन, बुद्धदास अभी कहां है?' 'कल बताऊंगा' कहकर वह चला गया। (श्लोक ३५३)

'इस कहानी से प्रियदर्शना, अनङ्गसुन्दरी और रत्नप्रभा बड़ी प्रसन्न हुईं कि उनका पति एक ही है।' इतना कहकर गणधर कुम्भ श्रेष्ठी सागर से बोले—'श्रेष्ठिन्, यह वामन ही तुम्हारा जँवाई है और तीनों कन्याओं का पति। कौतूहल के लिए ही वह उसको छोड़कर चला गया था।' (श्लोक ३५४-३५५)

तब वामन गणधर कुम्भ को वन्दना कर बोला—'भगवन्, ज्ञान दृष्टि से आपने जो कुछ वर्णन किया वह वैसा ही है।'

(श्लोक ३५६)

द्वितीय याम उत्तीर्ण होने पर गणधर कुम्भ ने अपनी देशना समाप्त की। क्यों कि देशना का समय इतना ही होता है। तब श्रेष्ठी सागरदत्त वामन को संग लेकर सानन्द उपाश्रय लौटा। वामन को आते देखकर तीनों विरहिणियां व्यग्रतापूर्वक उसे देखने आईं। भला पति का संवाद सुनकर कौन व्याकुल नहीं होता?

(श्लोक ३५७-३५९)

तब सागरदत्त बोले—'ये तुम तीनों के ही पति हैं।' वे बोलीं, 'सो कैसे?' इस पर सागरदत्त ने सारी घटना कह सुनाई। यह सब सुनकर वे तीनों एवं साध्वी-प्रमुखा आश्चर्यचकित हो गईं। फिर वामन ने भी भीतर जाकर अपना वामन रूप परित्याग किया। पहले तो उसने वही रूप धारण किया जिसमें अनङ्गसुन्दरी ने उसे देखा था। तदुपरान्त कृष्णवर्ण परित्याग कर गौरवर्ण धारण किया। अब तो तीनों ही ने उसे पतिरूप में पहचान कर घेर लिया।

(श्लोक ३६०-३६३)

साध्वी-प्रमुखा ने तब उससे पूछा—'आपने ऐसा क्यों किया?' प्रत्युत्तर में वीरभद्र बोला—'कौतुक के लिए। कौतुक के लिए ही मैंने अपना घर और इनका परित्याग किया था।' (श्लोक ३६४)

तब साध्वी प्रमुखा बोली—'पुण्यवान दूर देश में, विदेश में, अरण्य वा पर्वत पर यहां तक कि समुद्र में एवं अप्रीतिकर स्थानों में कहीं भी रहे उसे घर का सुख ही प्राप्त होता है। सुख सत्पात्र दान का फल है। इन्होंने किस सत्पात्र को दान दिया था यह तो जिनेश्वर अर स्वामी के सिवा कोई बता नहीं सकता। अतः हम चलकर उनसे पूछें।' तब साध्वी-प्रमुखा, सागरदत्त और अपनी तीन पत्नियों सहित वीरभद्र अर स्वामी के पास गए और उन्हें यथाविधि वन्दन कर उनके सम्मुख बैठ गए। सुव्रता साध्वी ने भगवान से पूछा—'भगवन्, वीरभद्र ने पूर्वभव में ऐसा क्या किया था जिसके फलस्वरूप इस जन्म में उसे यह सुख प्राप्त हुआ?' अर स्वामी बोले—'मेरे इस भव के पूर्व तृतीय भव में मैं जब पूर्व विदेह के रत्नपुर का राज्य परित्याग कर दीक्षित होकर प्रव्रजन कर रहा था तब उस समय वीरभद्र ने श्रेष्ठीपुत्र जिनदास के रूप में भक्ति भाव से मेरे चार मास के उपवास का पारणा कराया था। उसी पुण्य के फल से वह मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यवकर जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में एक वणिक श्रावक के रूप में जन्मा और श्रावक के व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन किया। वहाँ का आयुष्य शेष होने पर इसने वर्तमान में वीरभद्र के रूप में जन्म ग्रहण किया है। पुण्यानुबन्धी पुण्य के कारण उसने इस जन्म में यह सुख प्राप्त किया है। पुण्य ही मनुष्य के सब कामों में काम आता है।' (श्लोक ३६५-३७४)

ऐसा कहकर अनेक को प्रतिबोध देकर अर स्वामी संसार के अन्धकार को दूर करने के लिए अन्यत्र प्रव्रजन कर गए। वीरभद्र बहुत दिनों तक सांसारिक सुख का भोग कर मृत्यु के पश्चात् पुण्य रूपी रथ पर चढ़कर स्वर्ग गए। (श्लोक ३७५-३७६)

भगवान अर स्वामी के संघ में ५०००० साधु, ६०००० साध्वियां, ६१० चौदह पूर्वधारी, २६०० अवधिज्ञानी, २५५१ मनः पर्यायज्ञानी, २८०० केवली, ७३०० वैक्रिय लब्धिधारी, १६०० वादी, १८४००० श्रावक और ३७२००० श्राविकाएँ थीं। भगवान अरनाथ तीन वर्ष कम २१००० वर्ष तक इस पृथ्वी पर केवली रूप में विचरण करते रहे। (श्लोक ३७७-३८२)

अपना निर्वाण समय निकट जानकर वे १००० मुनियों सहित

सम्मेत शिखर पर गए और वहां अनशन ग्रहण किया। एक मास पश्चात् अगहन महीने की शुक्ला दशमी को चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में अवस्थान कर रहा था तब उन १००० मुनियों सहित निर्वाण को प्राप्त हुए। (श्लोक ३८३-३८४)

भगवान २१००० वर्ष कुमारावस्था में, २१००० वर्ष आंचलिक राजा के रूप में, २१००० वर्ष चक्रवर्ती रूप में, २१००० वर्ष व्रत पर्याय में इस प्रकार कुल ८४००० वर्ष तक मृत्युलोक में अवस्थित रहे। भगवान अरनाथ का निर्वाण भगवान कुन्थुनाथ के निर्वाण से १००० करोड़ वर्ष कम एक चतुर्थ पल्य के बाद हुआ। इन्द्रादि देव वहां आए और भगवान अरनाथ एवं अन्य मुनियों की देह का संस्कार कर उनका निर्वाण महोत्सव किया।

(श्लोक ३८५-३८७)

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

अब, भगवान अरनाथ के शासनकाल में जिन षष्ठ बलदेव, षष्ठ वासुदेव और प्रतिवासुदेव बलि ने जन्म ग्रहण किया उनका वर्णन करता हूं। (श्लोक १)

विजयपुर में सुदर्शन नामक एक राजा थे। वे चन्द्र की भांति सुन्दर थे और पृथ्वी के लिए आनन्द स्वरूप थे। मुनि दमधर से जैन सिद्धान्त श्रवण कर उनके मन में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ। अतः उन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। दीर्घ समय तक तप, आराधना कर वे सहस्रार स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक २-३)

इसी भरतक्षेत्र में पोतनपुर नामक एक नगरी थी। कमल के लिए जिस प्रकार उदीयमान सूर्य है उसी प्रकार मित्रों के लिए मित्र रूप प्रियमित्र नामक एक राजा वहां राज्य करते थे। एक समय सुकेतु नामक एक बलवान् राजा ने उनकी पत्नी का अपहरण कर लिया। इस अपमान से वितृष्ण होकर उन्होंने मुनि वसुभूति से दीक्षा ग्रहण कर ली। पत्नी के हरण से दुःखी होकर उन्होंने कठोर तप कर यह निदान किया कि वे उसके प्रभाव से पत्नी का

अपहरण करने वाले की हत्या करने में समर्थ बनें। उपवास तो किया; किन्तु इस निदान की आलोचना किए बिना ही मृत्यु प्राप्त कर माहेन्द्र देवलोक में शक्तिशाली देव रूप में जन्म ग्रहण किया। (श्लोक ४-७)

वैताढ्य पर्वत के अरिञ्जय नामक नगर में मेघनाद नामक एक राजा राज्य करते थे। चक्रवर्ती सुभूम ने उन्हें वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों पर आधिपत्य प्रदान किया। उनकी कन्या के साथ चक्रवर्ती सुभूम का विवाह हुआ। सुकेतु के जीव ने भव भ्रमण करते-करते उसी नगरी में मेघनाद के परिवार में प्रतिवासुदेव बलि के रूप में जन्म ग्रहण किया। कृष्णवर्ण और पांच हजार वर्षों का आयुष्य लेकर छब्बीस धनुष दीर्घ बलि ने त्रिखण्ड भरत का आधिपत्य प्राप्त किया। (श्लोक ८-११)

उसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में पृथ्वी के अलङ्कार स्वरूप चक्रपुर नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम था महाशिर। द्वितीय लोकपाल की भांति उन्होंने ख्यातिमान राजाओं का मस्तक झुकाया था। इस राजन्य श्रेष्ठ राजा का चारित्र अनिन्द्य था। श्री के साथ शक्ति के योग की तरह उनमें बुद्धि के साथ विवेक संयुक्त था। स्वयम्भूरमण समुद्र के विभिन्न जीवों की तरह ऐसी कोई कला नहीं थी जो उन्हें अधिगत नहीं थी। उनके राज्य में तस्करों द्वारा अपहरण नहीं होता। वे तो केवल महामना लोगों के मन का अपहरण करते थे किसी को आनन्दित कर, किसी को भीत कर वे सज्जन और दुर्जन दोनों के ही मन में अवस्थित थे। (श्लोक १२-१७)

उनकी रानी का नाम था वैजयन्ती। वह रूप में अप्सरा को भी पराजित करती थी। उनकी दूसरी रानी लक्ष्मी स्वरूपा लक्ष्मीवती थी। (श्लोक १८)

राजा सुदर्शन का जीव सहस्रार विमान से च्यवकर अग्रमहिषी वैजयन्ती के गर्भ में अवतरित हुआ। बलदेव के जन्म सूचक चार महास्वप्नों को देखकर वे आनन्दित हुईं और श्रेष्ठ भ्रूण धारण किया। समय पूर्ण होने पर उन्होंने पूर्णिमा के चन्द्र की भांति कलंकहीन पुत्र को जन्म दिया। २९ धनुष दीर्घ उस जातक का नाम रखा गया आनन्द। (श्लोक १९-२१)

प्रियमित्र का जीव चतुर्थ स्वर्ग माहेन्द्र से च्यवकर रानी लक्ष्मीवती के गर्भ में उत्पन्न हुआ। वासुदेव के जन्मसूचक सात स्वप्नों को देखकर वह आनन्दमना बनी गर्भ का पोषण करती रही। यथा समय उसने कृष्णवर्णीय एक पुत्र को जन्म दिया। २९ धनुष दीर्घ नव जातक का नाम रखा गया पुरुष पुण्डरिक।

(श्लोक २२-२४)

गरुड़ध्वज और तालध्वज दोनों भाई नील और पीत वस्त्र धारण कर पिता की इच्छा की तरह बड़े होने लगे। वे सहज रूप से चलते, फिर भी पृथ्वी कांप उठती। जब वे छोटे थे तभी धात्रियाँ उन्हें उठा नहीं पाती थीं। क्रमशः उन्होंने नयनाभिराम यौवन प्राप्त किया और समस्त कलाओं में पारंगत हो गए। राजेन्द्रपुर के राजा उदीक्षित ने अपनी कन्या पद्मावती का विवाह वासुदेव के साथ कर दिया। प्रतिवासुदेव बलि यह ज्ञात कर कि पद्मावती अनंग-पत्नी रति से भी अधिक सुन्दरी है उसका अपहरण करने आया। आनन्द और पुण्डरीक शक्ति मदमत्त बलि की शक्ति की उपेक्षा कर उसके सम्मुखीन हुए। तभी उन्हें अस्त्र-शस्त्र, सारंग धनुष, हल आदि देवताओं से इस प्रकार तत्क्षण प्राप्त हुए मानों उनकी आयुध शाला में सुरक्षित रखे हुए हों। बलि की अधिक शक्तिशाली सैन्य द्वारा अपनी सेना को पराजित होते देखकर वे क्रुद्ध होकर रथ पर चढ़े और आनन्दित हृदय से युद्ध में अग्रसर हुए। वीरों के मन में युद्ध क्षेत्र आनन्द ही उत्पन्न करता है। पुण्डरीक ने पांचजन्य शंख बजाया। उस शंख के महानाद से भयभीत बनी बलि की सेना समुद्र से समुद्र-दानवों की पलायन की भांति उस युद्धक्षेत्र से पलायन कर गई। तदुपरान्त उन्होंने अपने शारंग धनुष पर टङ्कार किया। इससे अवशेष सेना भी टङ्कार के निर्घोष से भीत होकर रण-स्थल से भाग छूटी। तब बलि जिस प्रकार मेघ वारिवर्षण करता है उसी प्रकार बाणों की वर्षा कर युद्ध में अग्रसर हुआ। पुण्डरीक बलि के बाणों को काट डालता, बलि पुण्डरीक के। अपने बाणों के नष्ट हो जाने से बलि ने क्रुद्ध होकर चक्र धारण किया और 'यह आ गया तेरा अन्त'—कहता हुआ उस चक्र को घुमाकर वासुदेव पुण्डरीक पर निक्षेप किया। चक्र के नाभि स्पर्श करने के कारण पुण्डरीक क्षणभर के लिए बेहोश हो गए। होश आते ही वे उठ खड़े हुए और

उसी चक्र को धारण कर 'ले यह हुआ तेरा अन्त'—कहते हुए चक्र बलि पर निक्षेप किया। चक्र के आघात से बलि का मस्तक कट गया। (श्लोक २५-४०)

अग्रज आनन्द के साथ पुण्डरीक ने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया और शत्रु राजाओं को पराजित कर अर्द्धचक्री के रूप में सिंहासन पर आरूढ़ हुए। वासुदेव ने तराजू की भांति सहज ही कोटिशिला को उठा लिया। अपनी आयुष्य के ६५ हजार वर्ष अतिक्रान्त होने पर उनकी मृत्यु हो गई। अपने क्रूर कर्मों के कारण मरकर वे छठी नरक में गए। पुण्डरीक ने २५० वर्ष युवराज रूप में, २५० वर्ष राजा रूप में, ६० वर्ष दिग्विजय में और ६४४४० वर्ष अर्द्धचक्री रूप में व्यतीत किए। (श्लोक ४१-४५)

आनन्द का आयुष्य ८५ हजार वर्षों का था। भाई की मृत्यु से एकाकी और आनन्दहीन हो जाने से उनके लिए दिन काटने मुश्किल हो गए। अतः वे संसार से विरक्त होकर मुनि सुमित्र से दीक्षित हो गए। शुद्धतापूर्वक चारित्र पालन करते हुए और ज्ञान की आराधना कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और आनन्द के निवास रूप अक्षय सिद्धि पद के अधिकारी बने। (श्लोक ४६-४७)

तृतीय सर्ग समाप्त

चतुर्थ सर्ग

तीर्थङ्कर अर के शासनकाल में उत्पन्न अष्टम चक्रवर्ती सुभूम का जीवनवृत्त अब वर्णन करता हूं। (श्लोक १)

इसी भरत क्षेत्र में विशाल नामक नगरी में भूपाल नामक एक राजा राज्य करते थे। वे महाशक्तिशाली थे और क्षत्रिय व्रत का पालन करते थे। एक बार उनके शत्रुओं ने एकत्रित होकर सम्मिलित रूप से उन पर आक्रमण कर उन्हें पराजित कर दिया। कारण, समूह की शक्ति अमोघ होती है। शत्रुओं द्वारा पराजित हो जाने से खिन्न होकर उन्होंने मुनि सम्भूत से दीक्षा ग्रहण कर ली। घोर तपस्या करके उन्होंने यह निदान किया कि इस तपस्या के फलस्वरूप मुझे कामभोग की सर्वोत्तम वस्तु और सैन्यनिधि प्राप्त हो। इस निदान की आलोचना न करते हुए उपवास में मृत्यु वरण

कर वे अष्टम स्वर्ग महाशुक्र में देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक २-५)

भगवान ऋषभ के कुरू नामक एक पुत्र था। उनके हस्ती नामक एक पुत्र हुआ। जिसके नाम पर हस्तिनापुर नगरी का नामकरण हुआ था। यह नगरी तीर्थङ्करों और चक्रवर्तियों का निवास रूप थी। इसी वंश के दीर्घबाहु अनन्तवीर्य तब वहां राज्य करते थे। उस समय में बसन्तपुर नामक नगर में अग्निक नामक एक युवक रहता था। उनके वंश में कोई भी जीवित नहीं था। एक दिन वह इस स्थान का परित्याग कर अकेले घूमते हुए एक आश्रम में पहुंचा। आश्रम के कुलपति ने उसे अपने पुत्र की तरह उस आश्रम में स्थान दिया। कठिन तपस्या कर अग्नि सदृश अपने दुःसह तेज के कारण वह पृथ्वी पर जमदग्नि नाम से विख्यात हुआ।

(श्लोक ६-११)

वैश्वानर नामक देव जो पूर्व जन्म में श्रावक था और धन्वन्तरी नामक देव जो पूर्व जन्म में ब्राह्मण तापसों का भक्त था दोनो में विवाद छिड़ गया। उनमें पहले ने कहा—'अर्हत् धर्म ही श्रेष्ठ है।' दूसरे ने कहा—'तापस धर्म ही श्रेष्ठ है।' वैश्वानर ने कहा—'तुम यदि किसी नवदीक्षित निर्ग्रन्थ की भी परीक्षा लो तो वह उस परीक्षा में उत्तीर्ण होगा और यदि किसी प्रौढ़ तापस की भी परीक्षा लो तो वह उस परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा। जिसमें अधिक गुण होते हैं वही श्रेष्ठ होता है।' दोनों एकमत होकर पहले निर्ग्रन्थ साधक की परीक्षा लेने गए। (श्लोक १२-१४)

उस समय मिथिला नगरी के राजा पद्मरथ जो कि भावमुनि थे पदविहार करते हुए वासुपूज्य स्वामी से दीक्षित होने के लिए चम्पा नगरी की ओर जा रहे थे। दोनों देव उनके निकट गए एवं उनके सम्मुख आहार पानी रखकर उन्हें आहार ग्रहण करने को कहा। यद्यपि पद्मरथ क्षुधार्थ और तृष्णार्थ थे फिर भी उसे साधु के लेने योग्य न समझकर ग्रहण नहीं किया। कारण दृढ़संकल्पी कभी सत्य से विचलित नहीं होता। तब देवों ने राह में कंकर-कांटे बिछाकर राह को छूरे की धार की तरह कर दिया जिससे उनके कोमल पैर से चलना कठिन हो गया फिर भी पद्मरथ ने अविचलित भाव से इस प्रकार पथ अतिक्रम किया मानों वे रूई बिछाकर पथ पर चल रहे हों जबकि उनके पैर लहूलुहान हो गए

थे। उनके सम्मुख नृत्य-गीत नाटकादि कर उन्हें विचलित करना चाहा; किन्तु देव अस्त्र जिस प्रकार आत्मियों पर असफल हो जाता है उसी प्रकार वे सब असफल हो गए। तब वे सिद्धपुत्र का रूप धारण कर उनके सम्मुख आए और बोले—'महाभाग, आपकी उमर लम्बी है और आप अभी तरुण हैं, अतः अभी आप सांसारिक सुख भोग करें। तरुण अवस्था में योग ग्रहण की क्या आवश्यकता है? उत्साही होने पर भी ऐसा कौन है जो सन्ध्या का कार्य सुबह ही प्रारम्भ करे? जब यौवन बीत जाए और शरीर निर्बल हो जाए तब द्वितीय वार्द्धक्य की तरह तप आराधना करिएगा।'

(श्लोक १५-२३)

पद्मरथ बोले—'यदि उमर लम्बी है तो धर्म साधना अधिक होगी। पद्मनाल जल के अनुरूप ही बढ़ती है। इन्द्रियां जब चंचल है उस समय की गई तपस्या ही तपस्या है। उसे ही वीर कहा जाता है जो युद्ध में तीक्ष्ण अस्त्रों के सम्मुखीन होकर अपना वीरत्व प्रदर्शित करता है।

(श्लोक २४-२५)

देव उसकी दृढ़ता देखकर 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' कहकर जमदग्नि की परीक्षा लेने गए। उस समय जमदग्नि एक वटवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न थे उनकी बृहद् जटाएँ वृक्ष की तरह ही विस्तृत होकर भूमि स्पर्श कर रही थीं। चींटें उनके पैरों के पास से चल रहे थे। देव उनकी जङ्गल-सी दाढ़ी में एक छोटा घोंसला बनाकर उसमें पक्षी रूप धारण कर बैठ गए। नर पक्षी बोला, 'प्रिये, मैं हिमालय जा रहा हूं।' मादा पक्षी तब शंकित होकर बोली, 'देखो, वहां अन्य के प्रेम में पड़कर तुम यदि नहीं लौटे तो?' नर पक्षी बोला, 'प्रिये यदि मैं नहीं लौटूं तो मुझे गोहत्या का पाप लगे।' मादा पक्षी बोली, 'ऊं हूं, इस सामान्य शपथ से कुछ नहीं होगा। तुम यदि बोलो कि तुम्हें इस तपस्वी का पाप लगेगा तब मैं जाने दूंगी। तुम्हारी यात्रा शुभ हो।'

(श्लोक २६-३१)

उनकी बात सुनकर जमदग्नि क्रुद्ध हो उठे—उन्होंने दोनों पक्षियों को मुट्ठी में पकड़ कर कहा, 'सूर्य के मध्य अन्धकार-सा मेरे जैसे कठोर तपस्वी में ऐसा क्या पाप देखा कि मुझे गोहत्या से भी बढ़कर पापी मान रहे हो?'

(श्लोक ३२-३३)

तब नर पक्षी बोला, 'ऋषिवर, आप क्रुद्ध न हों। आपकी

समस्त तपस्या ही व्यर्थ है। क्या आप यह श्रुतिवाक्य नहीं जानते, अपुत्रक को गति नहीं होती ?' जमदग्नि विचार में पड़ गए—सोचने लगे, ठीक ही तो है। बिना पत्नी और बिना पुत्र के मेरी तो समस्त तपस्या ही जल में घुल गयी है। (श्लोक ३४--३५)

उन्हें चिन्तित देखकर धन्वन्तरी सोचने लगे कि वे तापसों द्वारा भ्रमित हो गए हैं। ऐसा सोचकर वे अर्हत् भक्त हो गए। प्रमाण द्वारा भला किसे बोध नहीं होता ? तदुपरान्त वे दोनों देव अदृश्य हो गए और जमदग्नि नैमिक-कोष्ठ नगर में गए। वहाँ राजा जितशत्रु के अनेक कन्याएँ थीं। उनमें से किसी को गौरी की तरह प्राप्त करने वे राजसभा में गए। उन्हें देखकर राजा उठ खड़े हुए और वन्दना कर करबद्ध होकर बोले, 'महाभाग, कहिए आपका शुभागमन यहां क्यों हुआ है ? मैं आपके लिए क्या कर सकता हूं ?' (श्लोक ३६-३९)

जमदग्नि बोले, 'राजन् मैं आपसे आपकी एक कन्या को माँगने आया हूं।' राजा बोले, 'मेरे सौ कन्याएँ हैं। उनमें जो आपको वरण करना चाहे उसे आप ग्रहण करें।' तब जमदग्नि अन्तःपुर गए और राजकन्याओं को सम्बोधित कर बोले,—'तुममें से कोई मुझे वरण करो।' ऐसा सुनकर वे थूः थूः करने लगी और बोलो,—'पके हुए केश, जटाधारी शीर्ण और भिक्षाजीवि तुम्हें ऐसा कहने में लज्जा नहीं आती ?' (श्लोक ४०-४२)

जमदग्नि ने तब क्रुद्ध होकर धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते समय धनुष को जैसे झुकाया जाता है उसी प्रकार उन्हें कुबड़ी बना दिया। उस समय राजा की सबसे छोटी कन्या प्रांगण में रखी बालू के ढेर पर खेल रही थी। उसे देखकर ऋषि ने, 'रेणुका,' कहकर पुकारा और बिजोरा नींबू दिखाकर कहा, 'यह लोगी ?' उसने हाथ बढ़ाया, (विवाह में जैसे पाणिग्रहण किया जाता है) ऋषि ने उसे ग्रहण कर दरिद्र जैसे अर्थ को छाती से चिपका लेता है उसी प्रकार उसे छाती से चिपका लिया। तब राजा ने गौ आदि देकर विधिवत् रेणुका को ऋषि को दान कर दिया। सन्तुष्ट होकर ऋषि ने अपनी पत्नी की निनानवे बहिनों को तपोबल से पुनः स्वस्थ कर दिया। मूर्ख ही ऐसी तपस्या करते हैं। तदुपरान्त ऋषि उसे आश्रम में ले गए और यत्नपूर्वक उसका

लालन-पालन करने लगे। वह शान्त स्वभाव व सरल थी। उसके नेत्र हरिणी के नेत्रों की तरह भीरु थे। जब तक उसने मदन के सुन्दर निकुञ्ज-सा यौवन प्राप्त नहीं किया तब तक जमदग्नि अंगुली के पोरों पर दिन, महीने, वर्ष गिनते रहे। जब रेणुका यौवन को प्राप्त हुई तब अग्नि को साक्षी बनाकर भूतेश (शिव) ने जिस प्रकार पार्वती से विवाह किया था उसी प्रकार विधिवत् रेणुका से विवाह कर लिया। (श्लोक ४३-५०)

ऋतुकाल में जमदग्नि रेणुका से बोले,—'मैं तुम्हारे लिए ऐसा चरु प्रस्तुत करूँगा जिससे तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण श्रेष्ठ होगा।' यह सुनकर रेणुका बोली,—मेरी बहिन हस्तिनापुर के राजा अनन्त-वीर्य की रानी है उसके लिए भी ऐसा ही चरु प्रस्तुत करें ताकि उसका पुत्र क्षत्रियश्रेष्ठ हो।' पुत्र की कामना में जमदग्नि ने तब दोनों चरु प्रस्तुत किए और रेणुका को वे चरु दिए। रेणुका तब सोचने लगी मैं तो वन की हिरणी बनी हूं; किन्तु मेरा पुत्र ऐसा नहीं बने ऐसा सोचकर उसने क्षत्रिय चरु स्वयं रख लिया और ब्राह्मण चरु अपनी बहिन को भेज दिया। दोनों गर्भ से पुत्रों ने जन्म ग्रहण किया। रेणुका के राम और उसकी बहिन के कृतवीर्य जन्मा। (श्लोक ५१-५५)

एक दिन आकाश से एक विद्याधर जा रहा था। वह सहसा अतिसार रोग से आक्रान्त होने के कारण विद्या भूल गया अतः वहाँ उतरा। राम ने भाई की तरह औषधि आदि देकर उसकी सेवा की, उसे स्वस्थ किया। विद्याधर इससे प्रसन्न होकर राम को एक परशु विद्या दी। इक्षु क्षेत्र में जाकर राम ने उस परशु विद्या को अधिगत किया और तभी से वह परशुराम रूप से परिचित होने लगा। (श्लोक ५६-५८)

एक दिन रेणुका स्वामी से विदा लेकर अपनी बहिन को देखने हस्तिनापुर गयी। जहां प्रेम होता है वहां दूरी नहीं होती। हरिण-नयनी रेणुका को देखकर अनन्तवीर्य कामान्ध हो उठा और उससे कामक्रीड़ा की, यह भी नहीं सोचा यह मेरी पत्नी की बहिन है। सचमुच कामान्ध क्या नहीं कर बैठता। पुरन्दर ने अहिल्या के सहवास से जिस प्रकार आनन्द प्राप्त किया था, अनन्तवीर्य ने भी ऋषिपत्नी के सहवास से उसी प्रकार आनन्द

प्राप्त किया। ऊतथ्य पत्नी ममता ने जैसे बृहस्पति के औरस से एक पुत्र प्राप्त किया, उसी प्रकार रेणुका ने अनन्तवीर्य के औरस से एक पुत्र प्राप्त किया। जमदग्नि ने उस पुत्र सहित रेणुका को ग्रहण किया कारण स्त्रैण व्यक्ति पत्नी का दोष नहीं देख पाता; किन्तु परशुराम क्रुद्ध होकर द्राक्षालता में जिस प्रकार असमय में फल लगने पर उसे काटकर फेंक दिया जाता है उसी प्रकार रेणुका और उसके पुत्र को काट कर फेंक दिया। रेणुका के पति ने जब यह बात अनन्तवीर्य से कही तब हवा से जैसे अग्नि उद्दीप्त हो जाती है वैसे ही वे क्रोध से उद्दीप्त हो गए। अनन्तवीर्य जिसका पराक्रम असहनीय था जमदग्नि के आश्रम में गए और मतवाले हाथी की तरह उस आश्रम को विनष्ट कर लौट गए। आश्रम-वासी भयभीत होकर चारों ओर भाग गए और अनन्तवीर्य आश्रम की गौएँ आदि पशु लेकर सिंह की तरह धीरे-धीरे राजधानी की ओर अग्रसर होने लगे। त्रस्त आश्रमवासियों से जब परशुराम को यह संवाद मिला और उनकी दुर्दशा जब उन्होंने अपनी आँखों से देखी, तब क्रुद्ध होकर यम की भाँति दौड़ा और परशु विद्या द्वारा सैन्य सहित राजा अनन्तवीर्य को काट-काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। (श्लोक ५९-६९)

कृतवीर्य शक्तिशाली होने पर भी उस समय बालक था। अतः मन्त्रीगण उसे सिंहासन पर बैठाकर राज्य शासन करने लगे। कृतवीर्य भी क्रमशः बड़ा होकर अपनी पत्नी तारा के साथ समय व्यतीत करने लगा। (श्लोक ७०-७१)

राजा भूपाल का जीव अपनी आयुष्य पूर्ण कर महाशुक्र विमान से च्युत होकर तारा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। तारा ने चौदह महास्वप्न देखे। अपनी माँ से पिता की मृत्यु का रहस्य अवगत कर कृतवीर्य जमदग्नि के आश्रम में गया और सर्प की तरह उसकी हत्या कर दी। परशुराम पिता की हत्या से क्रुद्ध होकर हस्तिनापुर दौड़ा और कृतवीर्य की हत्या कर डाली। भला यम से कौन रक्षा पा सकता है। तब परशुराम ने हस्तिनापुर राज्य पर स्वयं को प्रतिष्ठित किया। कारण, राजशक्ति पराक्रम के अधीन है, उत्तरा-धिकार या उत्तराधिकार के अभाव का सापेक्ष नहीं है। तारा के गर्भवती होने पर भी हरिणी जैसे व्याघ्र संकुल अरण्य का परित्याग

कर अन्य अरण्य में चली जाती है उसी प्रकार परशुराम द्वारा विजित उस नगरी का परित्याग कर तापसों के एक आश्रम में चली गई। दयालु कुलपति ने धरोहर की भांति उसे भूमिगृह में रखा और निष्ठुर परशुराम के हाथों से उसकी रक्षा की। उसी भूमिगृह में चौदह महास्वप्नों द्वारा जो कुछ सूचित हुआ उसी के अनुरूप एक पुत्र का जन्म हुआ। भूमिगृह में जन्म लेने के कारण उसका नाम रखा गया सुभूम। (श्लोक ७२-७८)

परशुराम की कुठार क्षत्रिय देखते ही मानो मूर्तिमान क्रोधाग्नि हो इस प्रकार जल उठती। क्षत्रियों को निःशेष करते-करते एक बार वे उसी आश्रम में गए। धुआं जैसे अग्नि की सूचना देता है उसी प्रकार उनका कुठार जल उठने से यह सूचित हुआ कि यहां क्षत्रिय अवस्थित है। तापसों से तब उन्होंने पूछा—'यहां कौन क्षत्रिय उपस्थित है, बताओ?' उन्होंने प्रत्युत्तर दिया—'हम ही क्षत्रिय हैं, जो अब तापस हो गए हैं।' यह सुनकर परशुराम लौट गए। दावाग्नि जैसे पहाड़ पर उगे लता-पत्रों को जलाकर राख कर देती है उसी प्रकार परशुराम ने सात-सात बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर दिया और उनके दांत जिन्हें खाकर यम परितृप्त हुआ है ऐसे यम के खाद्य रूप एक बृहद् थाल में सजाकर रखा।
(श्लोक ७९-८३)

एक दिन परशुराम ने एक नैमित्तिक से पूछा—'मेरी मृत्यु किसके हाथ से होगी?' कारण, जो युद्ध-विग्रह में लिप्त रहते हैं वे शत्रु के हाथ से मृत्यु भय से भयभीत रहते हैं। प्रत्युत्तर में नैमित्तिक ने कहा—'जिसके प्रताप से यह दांत क्षीर में परिणत हो जाएगा और जो इस सिंहासन पर बैठकर उस क्षीर का पान करेगा उसी के हाथों आपकी मृत्यु होगी।' तब परशुराम ने एक दानशाला निर्मित कर उसमें उस सिंहासन को रख दिया और उसके सामने एक उच्चासन पर वह थाल सजाकर रखा। (श्लोक ८४-८६)

प्राङ्गण में जैसे वृक्ष वर्द्धित होता है उसी प्रकार छब्बीस धनुष दीर्घ स्वर्णवर्ण सुभूम क्रमशः यौवन को प्राप्त हुआ।
(श्लोक ८७)

वैताढ्य पर्वत निवासी विद्याधर मेघनाद ने एक दिन नैमित्तिकों से पूछा—'मेरी कन्या पद्मश्री का पति कौन होगा?'

प्रत्युत्तर में उन्होंने सुभूम का नाम बताया। मेघनाद ने तब उसी आश्रम में आकर सुभूम के साथ पद्मश्री का विवाह कर दिया और स्वयं उसकी सहायता के लिए वहां रह गया। जो समग्र पृथ्वी का अधीश्वर होगा ऐसे सुभूम ने कूपवासी मण्डुक की तरह एक दिन अपनी मां से पूछा—'मां, क्या पृथ्वी इतनी ही है जिस पर हम रहते हैं?' मां ने कहा,—'पुत्र पृथ्वी बहुत बड़ी है। यह आश्रम तो पृथ्वी का एक कण मात्र है। इसी पृथ्वी पर हस्तिनापुर नामक एक नगर है। वहां तुम्हारे पिता कृतवीर्य राज्य करते थे। परशुराम ने तुम्हारे पिता की हत्या कर उसी राज्य पर अपना अधिकार कर लिया है। उसी ने इस पृथ्वी को बार-बार निःक्षत्रिय कर दिया है। उसी के भय से मैं यहां रहती हूं।' यह सुनकर क्रुद्ध हुए प्रज्वलित सोम की तरह सुभूम हस्तिनापुर नगर गए। क्षत्रिय तेज सहना कठिन होता है। वहां वह पहले दानशाला में गया और सिंह की भांति वहां रखे सिंहासन पर बैठकर उन दांतों को जो कि उनके प्रताप से खीर में परिणत हो गयी थी पान किया। तब ब्राह्मणों ने जो कि उस थाल की रक्षा कर रहे थे, सुभूम पर आक्रमण किया। मेघनाद जो कि सुभूम के साथ ही आए थे, उन्होंने बाघ जैसे हरिणी की हत्या करता है उसी प्रकार उनकी हत्या कर डाली। रक्षकगण मारे गए सुनकर क्रुद्ध परशुराम मानो यमपाश से आकृष्ट हुए हों उसी प्रकार दौड़े आए और सुभूम पर परशु निक्षेप किया; किन्तु वह परशु जल में गिर जाने से स्फुलिंग जैसे बुझ जाता है उसी प्रकार सुभूम के समीप जाते ही बुझ गया। अस्त्राभाव में सुभूम ने उसी थाल को उठाया जो कि देखते-देखते चक्र में परिणत हो गया। पुण्योदय से क्या सम्भव नहीं है? तब अष्टम चक्रवर्ती सुभूम ने उसी चक्र से परशुराम का मस्तक काट डाला। (श्लोक ८८-१००)

परशुराम ने जिस प्रकार सात बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर दिया था सुभूम ने उसी प्रकार पृथ्वी को इक्कीस बार ब्राह्मणहीन कर डाला। रक्त की नदी प्रवाहित कर और रथी, गज, अश्व और पदातिकों की हत्या कर उन्होंने पहले पूर्व दिशा को जीत लिया। मृत सैनिकों की देह द्वारा अलंकृत पथ से होकर यम के अनुरूप उन्होंने दक्षिण दिशा को जीत लिया। समुद्र तीर को

हड्डियों से सीपमय कर उन्होंने पश्चिम दिशा को भी जीत लिया। मन्दार पर्वत की तरह शक्तिशाली उन्होंने सहज ही वैताढ्य पर्वत के गुहा द्वार को खोलकर उत्तर भारत में प्रवेश किया और हस्ती जैसे इक्षु क्षेत्र को दलित मथित कर डालता है उसी भांति म्लेच्छों के रक्त से पृथ्वी रंजित कर उन्हें दलित-मथित कर डाला। चक्रवर्ती सुभूम ने मेघनाद को वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों का आधिपत्य दिया। (श्लोक १०१-१०७)

साठ हजार वर्षों की आयुष्य वाले सुभूम ने चारों ओर हत्या और रक्तपात कर छह खण्ड पृथ्वी को जीत लिया। महारम्भ और रौद्र ध्यान के लिए सुभूम यथासमय मृत्यु को प्राप्त हुआ और सप्तम नरक में गया। पांच हजार वर्ष राजकुमार रूप में, पांच हजार वर्ष राजा रूप में, पांच सौ वर्ष दिग्विजय में और पांच सौ वर्ष कम पचास हजार वर्ष चक्रवर्ती के रूप में उन्होंने शासन किया। (श्लोक १०८-११०)

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पंचम सर्ग

भगवान अरनाथ के समय सप्तम दत्त वासुदेव, नन्दन बलदेव और प्रह्लाद प्रतिवासुदेव हुए। उनका परिचय यहां विवृत करता हूं। (श्लोक १)

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पृथ्वी की अलङ्कार तुल्या सुसीमा नामक एक नगरी थी। वहां वसुन्धर नामक एक राजा राज्य करते थे। दीर्घ काल तक राज्य कर उन्होंने मुनि सुधर्म से दीक्षा ग्रहण कर ली और मृत्यु के बाद ब्रह्म देवलोक में उत्पन्न हुए। (श्लोक २-३)

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में शीलपुर नामक नगरी में मन्दरधीर नामक एक राजा थे। उनका ललितमित्र नामक एक पुत्र था। वह शक्तिशाली दीर्घबाहु, गुण रूप रत्नों का आकर और मित्ररूप कमलों के लिए सूर्यरूप था। राजा के मन्त्री खल ने उसे 'दुर्विनीत' कहकर राजा को उससे अप्रसन्न कर दिया और उसके अनुज को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। इस अपमान से संसार

के प्रति विरक्त होकर ललितमित्र ने मुनि घोषसेन से दीक्षा ग्रहण कर ली। उग्र तपस्या कर उन्होंने यह निदान कर लिया कि मैंने तपस्या कर यदि कोई पुण्य संचय किया है तो अगले जन्म में खल की हत्या कर सकूँ। इस निदान की आलोचना किए बिना ही वह मृत्यु को प्राप्त हुआ और सौधर्म देवलोक में शक्तिशाली देव रूप में उत्पन्न हुआ। (श्लोक ४-९)

दीर्घकाल तक भव अटवी पर्यटन करते हुए मन्त्री खल का जीव जम्बूद्वीप के वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के तिलकपुर नगर में विद्याधरों के अधिपति प्रतिवासुदेव के रूप में जन्म ग्रहण किया। (श्लोक १०-११)

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में गंगा की मित्र रूपा वाराणसी नामक एक नगरी थी। इक्ष्वाकुवंशीय अग्निसिंह वहां के राजा थे। वे सिंह के समान बलशाली और भृंगि के समान तेजस्वी थे। दृढ़ता और उद्यमरूप पंखयुक्त उनका यशःरूपी हंस पृथ्वी-परिक्रमा से कभी विरत नहीं होता। रणक्षेत्र में वे जिस सहजता से धनुष का चिल्ला झुका देते थे उसे देखकर विपक्षी राजागण उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर सहज ही विनत हो जाते थे। आलान स्तम्भ से बंधी हस्तिनी की तरह उनके गुणों के लिए उनके बाहुरूप स्तम्भ से आबद्ध होकर लक्ष्मी निश्चला हो गई थी। (श्लोक १२-१६)

जयन्ती और शेषवती नामक उनकी दो पत्नियां थीं जो सौन्दर्य में पृथ्वी की अन्य स्त्रियों का अतिक्रम कर गयी थीं। राजा वसुन्धर का जीव पंचम देवलोक से च्युत होकर अग्रमहिषी जयन्ती के गर्भ में अवतरित हुआ। बलराम के जन्मसूचक उन्होंने चार महास्वप्न देखे और यथा समय एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। पृथ्वी को आनन्दित करने के कारण उसका नाम रखा गया नन्दन। (श्लोक १७-१९)

ललितमित्र का जीव सौधर्म देवलोक से च्युत होकर शेषवती के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। उसने वासुदेव के जन्मसूचक सात महास्वप्न देखे। पुत्र का जन्म होने पर उसका नाम रखा गया दत्त। छब्बीस धनुष दीर्घ और क्षीरोद और कालोद समुद्र की तरह गौर और कृष्णवर्णीय वे क्रमशः बड़े होकर यौवन को प्राप्त हुए। ताल और गरुड़ध्वज वे नील और पीत वस्त्र पहने उम्र में छोटे-बड़े होने पर

भी कार्यतः समवयस्क हों ऐसे ही लगते थे। (श्लोक २०-२२)

प्रतिवासुदेव अर्द्धचक्री प्रह्लाद को एक दिन खबर मिली कि ऐरावत-सा एक सुन्दर हस्ती महाराज अग्निसिंह के पास है। उन्होंने उस हस्ती को प्राप्त करने के लिए आदमी भेजा; किन्तु नन्दन और दत्त ने उसे देने से अस्वीकार कर दिया। इससे अपमानित होकर वह सिंह की तरह क्रुद्ध हो उठा। कुपित वन्य हस्ती की तरह वासुदेव और प्रतिवासुदेव दोनों ने ससैन्य एक-दूसरे पर आक्रमण कर दिया। प्रह्लाद के आक्रमण मे अपनी सेना को हारते देख कर रथ पर चढ़कर वासुदेव और बलदेव युद्ध में अग्रसर हुए। दत्त ने शत्रु सैन्य को विनष्ट करने के लिए पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया और सारंग धनुष पर टंकार दी मानो विजयतूर्य बजा रहे हैं। प्रह्लाद भी अपने धनुष की टंकार के निनाद से आकाश को निनादित कर क्रुद्ध दण्डपाणि (यम) की तरह उनकी ओर दौड़ा। वासुदेव और प्रतिवासुदेव क्रुद्ध होकर परस्पर बाण वर्षा करने लगे। विजय लाभ के उद्देश्य से दोनों परस्पर एक-दूसरे के बाण काट देते थे। विनाश में निपुण दोनों ने परस्पर एक दूसरे की गदा, दण्ड, मुद्गर और अन्य शस्त्रों को विनष्ट कर डाला। प्रलय के समय सूर्य जैसे उल्का उद्गीर्ण करता है उसी प्रकार सहस्र शिखायुक्त अग्नि उद्गीर्णकारी चक्र प्रह्लाद ने अपने मस्तक पर घुमाकर वासुदेव पर निक्षेप किया। वासुदेव ने उसी चक्र को, जो नाकाम होकर उनके निकट स्थिर खड़ा था, ग्रहण किया और माथे पर घुमाकर प्रह्लाद पर निक्षेप किया। चक्र ने प्रह्लाद का गला काट डाला। फिर वासुदेव दिग्विजय को निकले और भरतार्द्ध को जय कर लिया। तदुपरान्त कोटि-शिला उठाकर अर्द्धचक्री के रूप में अभिषिक्त हुए। (श्लोक २३-३३)

दत्त ने दो सौ वर्ष युवराज रूप में, पचास वर्ष मांडलिक राजा के रूप में, पचास वर्ष दिग्विजय में और अवशिष्ट काल चक्री रूप में सुख भोग करते हुए व्यतीत किए। छप्पन हजार वर्ष की परमायु शेष होने पर वे अपने क्रूर कर्मों के कारण पंचम नरक में गए।

(श्लोक ३४-३५)

दत्त की मृत्यु के पश्चात् नन्दन जिनका आयुष्य पैंसठ हजार वर्ष था, किसी प्रकार जीवन को धारण किए रहे। भ्राता की मृत्यु

और लोक भावना से विरक्त होकर संसार की अलङ्कार रूपा दीक्षा ग्रहण कर ली। अतिचार रहित व्रत पालन कर वे मोक्ष गए। (श्लोक ३६-३७)

पंचम सर्ग समाप्त

षष्ठ सर्ग

भव्य जीव रूप भ्रमर द्वारा आस्वादित जूही माल्य स्वरूप भगवान मल्लीनाथ की वाणी जययुक्त हो। मैं अब कर्ण के लिए अमृतरूप उनका वर्णन करूँगा। (श्लोक १-२)

इसी जम्बूद्वीप के अपर विदेह में सलीलवती विजय में वीत-शोक नामक एक नगर था वहाँ बल नामक राजा राज्य करते थे। बल में वे अकेले हो एक वाहिनी तुल्य थे। शत्रु सैन्य रूप वाहिनी को उखाड़ने में हस्ती रूप और रूप में वे देवतुल्य थे। उनके धारिणी नामक पत्नी थी। जिसके गर्भ में महाबल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वे समस्त बल के मूर्त प्रतीक थे। कारण, उनकी माँ ने जन्म के पूर्व स्वप्न में सिंह देखा था। वे जब यौवन को प्राप्त हुए तब उन्होंने एक दिन कमल श्री आदि पांच सौ कन्याओं के साथ विवाह किया। महाबल के अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रवण और अभिचन्द्र ये छह बाल्य मित्र थे। एक दिन उसी नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व कोण में इन्द्रकुब्ज उद्यान में कुछ मुनिगण आकर ठहरे। राजा बल ने उनकी देशना सुनी और संसार से विरक्त होकर महाबल को सिंहासन पर बैठाकर मुनि दीक्षा ग्रहण कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया। (श्लोक ३-९)

सिंह स्वप्न द्वारा सूचित कमलश्री रानी के गर्भ से महाबल के बलभद्र नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। क्रमशः बलभद्र ने यौवन प्राप्त किया। उसे अपने प्रतिरूप में महाबल ने युवराज पद पर अभिषिक्त किया और स्वयं अपने छह सौ मित्रों सहित जिन-धर्म श्रवण करने लगे। (श्लोक १०-१२)

एक दिन महाबल ने अपने मित्रों से कहा—'मित्रगण, मैं संसार भय से भीत होकर दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूं। तुम लोग क्या करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया—'मित्र, जिस प्रकार हम छहों

ने एक साथ सांसारिक सुख भोग किया उसी प्रकार भविष्य में एक साथ मुक्ति का आनन्द प्राप्त करेंगे। तब महाबल ने अपने पुत्र बलभद्र को सिंहासन पर बैठाया। इसी प्रकार उनके छह मित्र राजाओं ने भी अपने-अपने पुत्रों को सिंहासन पर बैठा दिया। तदुपरान्त सातों ने मुनिवर धर्म से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होकर सातों ने यह प्रतिज्ञा की—हममें से प्रत्येक एक जैसी तपस्या करेगा। शेष छह भी वैसी ही तपस्या करेंगे। ऐसा निश्चय कर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील वे एक दिन बाद वह एक दिन इस प्रकार समान रूप से तपस्या करने लगे। (श्लोक १३-१८)

अधिक फल की कामना से महाबल ने अपने मित्रों को प्रतारित किया। वे पारणे के दिन 'आज मेरे माथे में दर्द है', 'आज मेरा पेट ठीक नहीं है', 'मुझे जरा भी भूख नहीं' ऐसा कहकर पारणा न कर व्रत कर लेते। उच्च परिणाम, उग्र तप और अर्हत् आदि २० स्थानक की उपासना कर उन्होंने एक ओर तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपार्जित किया दूसरी ओर तपस्या में मिथ्याचार करने के कारण स्त्री-देह का भी बन्ध किया। (श्लोक १९-२१)

उनके जीवन की ८४ लाख पूर्व की आयुष्य जब शेष हो गई और संयम पालन के ८४ हजार वर्ष व्यतीत हो गए तब उन्होंने अनशन ग्रहण कर लिया। दो महीने अनशन के पश्चात् अप्रमत्त अवस्था में देह त्यागकर वे सभी वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र रूप में उत्पन्न हुए। जहां उनकी आयु ३२ सागरोपम की हुई। (श्लोक २२-२३)

इसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में मिथिला नामक एक नगरी थी। वहां के अधिवासियों को धर्म में अटूट श्रद्धा थी। स्वर्ण शिखर युक्त वहां की प्रासाद श्रेणी सूर्य शोभित पूर्वाञ्चल-सी प्रतीत होती। रत्नों जड़ित इस नगरी को देखकर लोग कहानियों में वर्णित रत्नजड़ित अलकादि नगरियों पर विश्वास कर लेते। जिस प्रकार स्वर्ग में देव विहार करते हैं उसी प्रकार वहां के अधिवासियों के स्व-सुन्दरी ललनाओं सहित विहार करने के कारण वह नगरी द्वितीय स्वर्ग हो ऐसा भ्रम होता। (श्लोक २४-२७)

यहां के राजा थे कुम्भ। क्षीर समुद्र के अमृत पूर्ण कुम्भ की तरह वे लक्ष्मी के निवास रूप इक्ष्वाकु वंश के रत्न-कुम्भ थे। समस्त

नदियां जिस प्रकार समुद्र की अनुगामिनी होती है उसी प्रकार सभी रानियां उनकी अनुगामिनी थीं। रोहण रत्न की तरह वे समस्त प्रकार के सदाचारों के उत्स थे। बुद्धिमान वे जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता थे उसी प्रकार समस्त अस्त्र विद्या के भी पारंगत। वे पृथ्वी से कर ग्रहण करते थे; किन्तु जो असमर्थ थे, दलित थे उनमें बांट देते थे। विवेकवान वे यश के आकांक्षी थे; किन्तु अर्थ के नहीं। अर्थ के विषय में उदार होने पर भी राज्य सीमा के संरक्षक के रूप में वे उदार नहीं थे। धर्म के अनुगत होने पर भी द्यूत के वे अनुगत नहीं थे। (श्लोक २८-३१)

इन्द्र के शची-सी उनकी पत्नी का नाम था प्रभावती। उसका मुखमण्डल चन्द्र को भी लज्जित करता था। वे धरती की अलङ्काररूपा थीं। उनका अलङ्कार था धर्म। केयूर अङ्गद आदि तो व्यवहार के लिए धारण करती थीं। अपने निष्कलङ्क चरित्र से पृथ्वी को पवित्र कर, आनन्दकन्द कर वे जीवन्त तीर्थ रूप में परिगणित होती। चन्द्र जिस प्रकार दाक्षायणी के साथ सुख भोग करता है उसी प्रकार राजा कुम्भ प्रियकारिणी प्रभावती के साथ सुख भोग करते। (श्लोक ३२-३५)

वैजयन्त विमान की आयुष्य पूर्ण होने पर महाबल का जीव वहां से च्युत होकर फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी के दिन चन्द्र जब अश्विनी नक्षत्र में अवस्थित था प्रभावती की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ। प्रभावती ने तीर्थङ्कर के जन्म-सूचक चौदह महास्वप्न देखे। गर्भ धारण के तीसरे महीने में पञ्चवर्णीय और सुगन्धित पुष्पों की शय्या पर सोने का उन्हें दोहद उत्पन्न हुआ। वाण व्यन्तर देवों ने उस दोहद को पूर्ण किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर अग्रहायण शुक्ला एकादशी के दिन चन्द्र जब अश्विनी नक्षत्र में अवस्थित था तब पूर्वजन्म कृत मायाचार के कारण कन्या रूप में १९वें तीर्थङ्कर का जन्म हुआ। कुम्भलांछन और सर्व सुलक्षणों से युक्त उनके देह का वर्ण गाढ़ा नीला था। दिक्कुमारियों ने आकर उनका जन्म कृत्य सम्पन्न किया। इन्द्रों ने उन्हें मेरुपर्वत पर ले जाकर स्नानाभिषेक किया। शक्र ने उनकी देह पर दिव्य विलेपन कर पूजा की। अन्तत: आरती कर इस प्रकार स्तुति की : (श्लोक ३६-४२)

'हे त्रिलोकपति, हे तीन गुण के धारक, हे उन्नीसवें तीर्थङ्कर,

मैं आपको प्रणाम करता हूं। हे भगवन्, बहुत दिनों के पश्चात् आपके दर्शन का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। साधारण मनुष्य जिन देवों को देख नहीं पाते उन्हीं देवों का देवत्व, हे देवाधिदेव, आपके जन्माभिषेक के समय आपका दर्शन कर सार्थक हुआ है। एक समय आप अच्युतेन्द्र थे, एक समय मानव। अतः संसार चक्र से हमारी रक्षा करिए। पृथ्वी के स्वर्ण किरीट तुल्य इस मेरुपर्वत पर नीलकान्त मणि की तरह आप शोभित हो रहे हैं। भव्य जीव आपके स्मरण करने मात्र से ही मुक्ति को प्राप्त करेंगे मानो इसी लिए आपने जन्म ग्रहण किया है। फिर जिन्होंने आपको देखा है, आपकी स्तुति की है उनका तो कहना ही क्या? उनका फल तो महत्तम होगा ही। एक ओर समस्त सुकर्म हैं, अन्य ओर आपका दर्शन, वह दोनों तुल्य मूल्य है, दूसरी बार दर्शन की भी आवश्यकता नहीं है। आपके चरणों में पतित होकर मनुष्य जिस आनन्द को प्राप्त करता है वह आनन्द तो इन्द्र क्या अहमिन्द्र बनकर भी नहीं पाया जा सकता, यहां तक कि मोक्ष में भी नहीं।' (श्लोक ४३-५०)

उन्नीसवें तीर्थङ्कर की इस प्रकार स्तुति कर शक्र उन्हें मिथिला ले गए और माँ के पास सुला दिया। वे जब गर्भ में थे तब उनकी माँ को पुष्प पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था इसीलिए राजा ने पुत्री का नाम रखा मल्ली। इन्द्र द्वारा नियुक्त पांच धात्रियों द्वारा पालित होकर मल्ली ने फूल की तरह विकसित होकर यौवन प्राप्त किया। (श्लोक ५१-५३)

अचल के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर भरत क्षेत्र के साकेत नगर प्रतिबुद्धि नामक राजा के रूप में जन्म ग्रहण किया। उनकी पत्नी पद्मावती सौन्दर्य में पद्म के अनुरूप थी, वह अन्तःपुर के चूड़ामणि रूप थी। उस नगर के ईशान कोण के नाग मन्दिर में एक नागमूर्ति स्थापित थी जो कि भक्तों की कामना पूर्ण करती थी। एक दिन पद्मावती ने अनुचरों सहित उस मन्दिर में जाने की राजा से आज्ञा मांगी। राजा ने केवल अनुमति ही नहीं दी पुष्पादि मँगवाकर स्वयं भी उस नाग मन्दिर में गए। वहां पुष्प-संभार से सज्जित सभामण्डप और स्वपत्नी को दिखाकर प्रतिबुद्धि ने अपने प्रधानमन्त्री से पूछा—'आप तो राज्यकार्य से अनेक राज्यों में, अनेक राजधानियों में जाते हैं, क्या कहीं भी ऐसा सुसज्जित मण्डप और

ऐसी सुसज्जित नारी देखी है ?' (श्लोक ५४-६०)

सुबुद्धि बोले 'महाराज, आपके आदेश से जब मैं मिथिला गया था वहाँ महाराज कुम्भ की कन्या मल्ली को देखा। रमणी रत्नों में प्रथमा मल्ली के जन्म दिवस पर वहाँ नाना वर्णीय पुष्पों से जिस सभामण्डप की रचना की गई थी। वैसी तो स्वर्ग में भी नहीं होती। मल्ली के रूप के सम्मुख चक्रवर्ती का रमणीरत्न, मदन की रति, इन्द्र की शची भी तृणवत् है। कुम्भ की कन्या मल्ली को जिसने भी एकबार देखा है वह अमृत के स्वाद की तरह उस अपरूप सौन्दर्य को कभी भूल नहीं सकता। क्या मानवी, क्या देवी उसके अनुरूप कोई नहीं है। सच कहें तो उस रूप को भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। (श्लोक ६१-६५)

पूर्व जन्म की प्रीति के कारण प्रतिबुद्धि ने तत्क्षण मल्ली से पाणिग्रहण का प्रस्ताव लेकर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा। (६६)

धरण के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर चम्पा नगरी में चन्द्रच्छाया नामक राजा रूप से जन्मग्रहण किया। उसी नगर में अरहन्नक नामक एक जैन श्रेष्ठी रहते थे। वे वाणिज्य के लिए समुद्री यात्रा किया करते थे। एक बार जबकि वे समुद्री यात्रा पर थे शक्र ने एक दिन देव सभा में यह कहकर उनकी प्रशंसा की कि अरहन्नक जैसा श्रावक नहीं है। एक देव को इस पर विश्वास नहीं हुआ। अतः उनकी परीक्षा लेने के लिए मृत्युलोक में उतरा और मेघ एवं चक्रवात वायु की सृष्टि की। नाविक भयभीत होकर सम्यक्त्वहीन देव-देवियों की शरण लेने लगे; किन्तु अरहन्नक ने सोचा इस संकट काल में यदि मृत्यु होती है तो मेरे लिए अनशन लेना उचित है। (श्लोक ६७-७९)

एतदर्थ वे संसार के समस्त बन्धनों को छिन्न कर ध्यान में निमग्न हो गये। तब वे देव राक्षस का रूप धारण कर आकाश में स्थित रहकर उनसे बोले, 'अर्हत धर्म परित्याग कर मेरी आज्ञा मानो। नहीं तो तेरे इस जहाज को खिलौने की तरह तोड़कर टुकड़ा-टुकड़ा कर दूंगा और तुझे और तेरे साथियों को जल-जन्तुओं का शिकार बना दूंगा। (श्लोक ७२-७४)

इस भय प्रदर्शन पर भी जब अरहन्नक अविचल रहा तो वे देव विस्मित हुए और शक्र की प्रशंसा वाली बात सुनाकर उनसे

क्षमा माँगी। उन्होंने अरहन्नक को कानों के दो जोड़ी कुण्डल दिए और वायु को शान्त कर चले गए। (श्लोक ७४-७६)

कालान्तर में समुद्र यात्रा से लौटते समय अरहन्नक ने दो जोड़ी कुण्डलों में से एक जोड़ी कुण्डल राजा को भेंट किये। राजा ने वे कुण्डल तत्क्षण मल्ली को दिए और अरहन्नक को सम्मानित कर विदा दी। वहाँ से वाणिज्य कर अरहन्नक चम्पा आए और दूसरी जोड़ी कुण्डल वहाँ के राजा चन्द्रच्छाया को दिये। राजा ने उनसे पूछा, 'वणिक, ये कुण्डल आप को कहाँ से मिले ? तब अरहन्नक ने बिना कुछ छिपाए कुण्डल प्राप्ति की सारी कथा कह सुनायी। अन्य जोड़ी राजा कुम्भ को देने के प्रसंग में उन्होंने मल्ली के सौन्दर्य की बात बतायी। बोले, 'मल्ली यदि मुँह उठाकर देखे तो चन्द्र परास्त होकर छिप जाए, उसकी देह से जो दीप्ति निकलती है वह मरकत मणि को भी लज्जित करती है। उसके देह लावण्य की जो सरिता है उसके सामने जाह्नवी का जल भी मैला लगता है। और आकृति ? ऐसी आकृति तो स्वर्ग की देवियों की भी नहीं होतीं। यदि उसे एक बार भी नहीं देखा तो उस पुरुष के तो नेत्र ही व्यर्थ है। जिसने विकसित कमल वन को नहीं देखा ऐसा हंस किस काम का ?' (श्लोक७७-८५)

पूर्व जन्म की प्रीति के कारण चन्द्रच्छाया उसके प्रति आकृष्ट हो गए और मल्ली की पाणि-प्रार्थना करने दूत को कुम्भ के पास भेजा। (श्लोक ८६)

पूरण के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर श्रावस्ती के राजा रुक्मी के रूप में जन्म ग्रहण किया। पत्नी धारिणी के गर्भ से उसके सुबाहु नामक एक कन्या हुई। रूप में वह नागकन्या की तरह सुन्दर थी। एक बार सुबाहु का चातुर्मासिक स्नानोत्सव उसकी सहचरियों ने मनाया। विशेष स्नान के पश्चात दिव्य रत्नाभरण धारण कर वह पिता को प्रणाम करने गयी। राजा ने उसे गोद में बैठाकर कंचुकी से पूछा—'क्या तुमने ऐसा स्नानोत्सव कहीं अनुष्ठित होते देखा है ?' कंचुकी ने प्रत्युत्तर दिया, 'आपके आदेश से जब मैं मिथिला गया था, वहाँ राजा कुम्भ की कन्या मल्ली के जन्मोत्सव पर जिस उत्सव को अनुष्ठित होते देखा वह बहुत सुन्दर था। उस अनन्या का रूप ऐसा था, उसका यदि मैं पूर्ण

वर्णन करूँ तो भी लगेगा कुछ कहा ही नहीं। वहाँ तो मेरा वाक्य ही प्रमाण है। अतः उस रमणी रत्न को देखने के पश्चात मैंने अन्य रमणी के रूप का वर्णन न करने की शपथ ग्रहण कर ली है। उसकी तुलना में अन्य रमणियाँ परित्यक्त फूल-सी हैं। कल्पतरु के मुकुल के सम्मुख आम्र मुकुल का क्या मूल्य ?' (श्लोक ८७-९५)

ऐसा सुनकर पूर्व जन्म के स्नेह के कारण राजा रुक्मी ने मल्ली के पाणिग्रहण की प्रार्थना कर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा। (श्लोक ९६)

वसु के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर वाराणसी के राजा शंख के रूप में जन्म ग्रहण किया। एक बार अरहन्नक प्रदत्त मल्ली के वे कुण्डल टूट गए। राजा कुम्भ ने स्वर्णकार को उसे ठीक करने को दिया। उसने निवेदन किया, 'महाराज, इस अलौकिक कुण्डल को मैं ठीक नहीं कर सकता।' इस पर क्रुद्ध होकर राजा कुम्भ ने उसे नगर से निष्कासित कर दिया। वह स्वर्णकार वाराणसी गया और राजा शंख से आश्रय मांगा। उसने अक्षत कुण्डल से लेकर मल्ली के रूप का भी वर्णन राजा के सम्मुख किया। कहने लगा-'मल्ली के मुख से चाँद की तुलना की जा सकती है। ओष्ठ से बिम्बफल की, कंठ से शंख की, बाहुओं से पद्मनाल की, कटि से वज्र के मध्य भाग की, जंघा से कदली वृक्ष की, नाभि से नदी के आवर्त की, नितम्ब से दर्पण की, पैरों से हरिणी के पैरों की, करतल और पदतल से कमल की तुलना की जा सकती है। रूप वर्णन में जो उपमाएँ दी जाती हैं वे सभी उसके लिए प्रयोज्य हैं।'

(श्लोक ९७-१०४)

उसके रूप की कथा सुनकर पूर्वजन्म के स्नेह के कारण राजा शंख ने मल्ली के पाणि-ग्रहण की प्रार्थना लेकर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा। (श्लोक १०५)

वैश्रवण के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु के रूप में जन्म ग्रहण किया।

(श्लोक १०६)

मल्ली के छोटे भाई मल्ल ने प्रमोदगृह के रूप में एक चित्रशाला निर्मित करवाई थी। वहाँ के चित्रकारों में एक कुशल चित्रकार था जो देह के एक अवयव मात्र को देखकर उस व्यक्ति

की हू-ब-हू आकृति चित्रित कर सकता था। एक बार यवनिका के अन्तराल से मल्ली के पैरों को देखकर उसने मल्ल की चित्रशाला में मल्ली की हू-ब-हू प्रतिकृति अंकित कर दी। सोचा अपूर्व सुन्दरी का चित्र देखकर राजकुमार प्रसन्न होंगे। (श्लोक १०७-११०)

चित्रशाला निर्मित हो जाने पर मल्ल उसमें क्रीड़ा करने के लिए गया। वहाँ मल्ली के चित्र को सचमुच की मल्ली समझकर लज्जित हो गया और शीघ्र ही उस स्थान का परित्याग कर बाहर निकल आया। कंचुकी के पूछने पर मल्ल ने कहा, 'वहाँ मेरी बहिन मल्ली खड़ी है, मैं वहाँ कैसे प्रमोद करूँ ?' तब कंचुकी भीतर गई और सब कुछ देखकर बाहर आकर बोली, 'कुमार वह आपकी बहन स्वयं मल्ली नहीं, उसका चित्र है। अतः आप जाइए।' यह सुनकर युवराज ने क्रुद्ध होकर चित्रकार को शीघ्र बुलाया और उसके दाहिने हाथ की तर्जनी और अंगूठा काटकर देश से निर्वासित कर दिया। (श्लोक १११-११३)

वही चित्रकार हस्तिनापुर गया और राजा अदीनशत्रु से इस प्रकार मल्ली के रूप का वर्णन किया— (श्लोक ११४)

'आकाश मे चन्द्रकला की भाँति मल्ली पृथ्वी की एक मात्र रूपसी है। ऐसी रूपसी न कभी जन्मी न कभी जन्मेगी। मल्ली को देखने के पश्चात अन्य किसी रमणी को देखना इन्द्रनील मणि को देखने के पश्चात् काँच का टुकड़ा देखने जैसा है। रूप, लावण्य, गति, हावभाव में जिस प्रकार नदियों में जाह्नवी प्रथमा है उसी प्रकार रमणियों में मल्ली प्रथमा है। ऐसा कहकर उस कुशल चित्रकार ने राजा को मल्ली का चित्र दिखाया। (श्लोक ११५-११८)

उस चित्र को देखकर राजा विस्मित हो गए और पूर्व जन्म के स्नेह के कारण मल्ली के पाणिग्रहण की प्रार्थना लेकर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा। (श्लोक ११९)

अभिचन्द्र के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर काम्पिल्य के राजा जितशत्रु के रूप में जन्म ग्रहण किया। धर्म के द्वारा आकृष्ट होकर मानों स्वर्ग की अप्सराएँ ही धरती पर आ गई है ऐसी धारिणी प्रमुख उनके एक हजार पत्नियाँ थी। (श्लोक १२०-१२१)

एक बार मिथिला में चोक्षा नामक एक परिव्राजिका आयी और राजन्य एवं अभिजातों के घर-घर जाकर कहने लगी—'दान

ही धर्म का मूल है। तीर्थस्थानों में जलदान करने से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। यही एकमात्र सत्य है? उस नगरी तथा राज्य के अधिवासियों को इस प्रकार प्रतिबोधित करते-करते एक दिन वह राजकुमारी मल्ली के प्रासाद में गयी। उसकी देह पर गैरिक परिधान थे, हाथ में त्रिदण्ड था। दर्भयुक्त कमण्डल से जल छिड़ककर वहाँ आसन बिछाकर वह बैठ गयी। (श्लोक १२२-१२५)

अन्य लोगों को जैसे वह अपने धर्म का उपदेश देती थी मल्ली को भी उसी प्रकार उपदेश दिया; किन्तु मल्ली तीन ज्ञान की अधिकारी थी। अतः परिव्राजिका से कहा, 'एकमात्र दान ही धर्म का मूल नहीं होता है, तब तो कुत्तों बिल्लियों को खिलाना ही धर्म होता। तीर्थस्थल का जल छिड़कने से ही कुछ पवित्र नहीं हो जाता, कारण उससे जीव हिंसा होती है। क्या रक्त से पोंछने से रक्त का दाग मिट जाता है? धर्म का मूल है विवेक। जहाँ विवेक नहीं है वहाँ धर्म नहीं है। अज्ञान कृत तप से देह-पीड़ा ही होती है, मोक्ष नहीं होता।' (श्लोक १२६-१२९)

यह सुनकर चोक्षा लज्जित होकर नतमुख हो गयी। यथार्थ वचन की अवहेलना कौन कर सकता है? उसकी वह अवस्था देखकर अन्तःपुर की दासियाँ भी उसका उपहास करती हुयी बोलीं—'आप अपने मिथ्या मत से कब तक लोगों को भ्रमित करती रहेंगी?' (श्लोक १३०-१३१)

तब चोक्षा ने मन ही मन सोचा, राज मद के गर्व से गर्वित होकर मल्ली ने मेरा अपमान किया है। इतना ही नहीं, दासियों ने भी मुझे जो चाहा सो कहा है। मैं इसका प्रतिशोध लूंगी। मैं मल्ली को बहुत-सी पत्नियों के मध्य डाल दूँगी जिससे वह मेरे अपमान का फल भोगेगी। (श्लोक १३३-१३३)

इस प्रकार सोचकर कुपित चोक्षा काम्पिल्य के राजा जितशत्रु के पास गयी। राजा ने उठकर उसे सम्मानित किया। राजा को आशीर्वाद देकर अपना आसन बिछाकर वह बैठ गयी। राजा और अन्तःपुरिकाओं द्वारा उत्साहित होकर उसने वहाँ भी धर्म का मूल दान और पवित्र जल सिंचन का उपदेश दिया। जब राजा ने उससे पूछा, 'भगवती, आप तो पृथ्वी पर सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करती हैं। बताइए मेरे अन्तःपुर में जितनी सुन्दर रमणियाँ है क्या

उतनी सुन्दर रमणियाँ और कहीं है ? (श्लोक १३४-१३८)

चोक्षा हँसकर बोली, 'राजन्, आप तो उस कूपमंडूक की भाँति हैं इसीलिए ऐसा सोच रहे हैं कि आपकी अन्तःपुरिकाएँ ही सुन्दर हैं। मिथिला के राजा कुम्भ की कन्या मल्ली के सम्मुख ये कुछ नहीं हैं। वह हरिणनयनी रमणीकुल का रत्न है। उनकी अंगुलियों में भी जो सौन्दर्य है वैसा सौन्दर्य न देवकन्याओं में है, न नागकन्याओं में। वह आकृति में जैसी अनन्य है वैसी ही रूप और लावण्य में। और अधिक क्या कहूं ? (श्लोक १३९-१४२)

अपने पूर्वजन्म के प्रेम के कारण जितशत्रु ने मल्ली की पाणि-प्रार्थना कर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा। (श्लोक १४३)

अवधि ज्ञान से मल्ली ने अपने पूर्वजन्म के छह मित्रों इन छह राजाओं के मनोभाव को अवगत कर अपनी एक स्वर्ण प्रतिकृति बनवाकर अशोक वन के प्रासाद के एक कक्ष में रत्नवेदी पर स्थापित करवा दी। उस प्रतिकृति के ओष्ठ थे मानिक के, केश इन्द्रनील मणि के, नेत्र इन्द्रनील मणि और स्फटिक के, हाथ और पैर प्रवाल के, पेट से तालु तक जुड़ी एक नली थी। तालु के छिद्र स्वर्ण कमल द्वारा आवृत और अंग प्रत्यंग थे सर्वाङ्ग सुन्दर। जहाँ मूर्ति रखी हुयी थी उसके सामने की दीवार पर मल्ली ने छह दरवाजे और छह जालीदार खिड़कियाँ बनवाई। उन दरवाजे के पीछे छह पृथक-पृथक कक्ष बनवाए गए। और वह मूर्ति जहाँ रखी गयी थी उसके पीछे भी एक दरवाजा बनवाया गया। प्रतिदिन खाने के पूर्व मल्ली समस्त प्रकार के खाद्य का एक कौर बनाकर स्वर्ण कमल से आवृत तालू के छिद्र में डाल देती। (श्लोक १४४-१५०)

छः राजाओं के दूत प्रायः एक साथ मिथिला में उपस्थित हुए। पहले दूत ने निवेदन किया—'साकेतपति प्रतिबुद्ध जिनके चरण कमल बहुत से सामन्त और नृपतियों के मस्तक से रगड़े जाते हैं, जो दीर्घबाहु, साहसी और रूप में मीनकेतु की तरह हैं, जो व्यवहार में चन्द्र की तरह, प्रभा में सूर्य की तरह, ज्ञान में बृहस्पति के तरह हैं आपकी अभिनिन्द्य सुन्दरी कन्या मल्ली के साथ विवाह करना चाहते हैं। कन्या तो किसी न किसी को दान करनी ही पड़ती है अतः साकेतपति को अपनी कन्या देकर उन्हें अपना आत्मीय बना लें ? (श्लोक १५१-१५५)

द्वितीय दूत ने कहा—चम्पाधिपति चन्द्रच्छाया जिनकी भुजाएँ जुआ की तरह है, मन्त्रणा प्रशस्त है, नेत्र स्निग्ध हैं, बुद्धि परिमार्जित है, जो बुद्धिमान और स्व-वाक्य पालन में दृढ़ है, युद्ध में पराक्रमी है, समस्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के वेत्ता हैं अस्त्र प्रयोग में कुशल हैं और चन्द्र के समान प्रभा - सम्पन्न हैं, वे मल्ली का हाथ ग्रहण करने को उत्सुक हैं। आप उन्हें मल्ली दान करें।'

(श्लोक १५६-१५७)

तृतीय दूत बोला—'श्रावस्तीपति रुक्मी जो साधारण लोगों के लिए कल्पतरु हैं, योद्धाओं में श्रेष्ठ योद्धा हैं, शरणार्थिओं के लिए शरण्य है और साहसियों में प्रथम है, विजयरूपी लक्ष्मी के लिए जो क्रीड़ा निकेतन हैं वे आपकी कन्या के साथ विवाह करना चाहते हैं। हे राजन्, योग्य के साथ योग्य का मिलन करवाइए। योग्य क्या है यह आप जानते ही हैं।' (श्लोक १५८-१५९)

चतुर्थ दूत बोला, काशीराज शंख ने अपनी अलौकिक शक्ति से कुबेर को भी अतिक्रम किया है। जो वाक्पटु हैं, रूप में कन्दर्प हैं, शत्रुओं के गर्व को जो खर्च करने वाले हैं, जो कि चारित्र पथ के पथिक हैं जिनकी आज्ञा पाकशासन की तरह पालित होती हैं, जिनका यश शंख की तरह धवल है वे आपकी कन्या का पाणिग्रहण करना चाहते हैं। आप सम्मति दीजिए।' (श्लोक १६२-१६४)

पंचम दूत बोला—'हस्तिनापुरपति अदीनशत्रु जो कि शक्ति में हस्तमल्ल की तरह लाघव हस्त हैं, दीर्घबाहु हैं, बहुयुद्धविजयी हैं, विस्तृत वक्ष, बुद्धिमान, तरुण, यशरूपी लतिका के नव पल्लव रूप, गुणरूपी रत्नों में रोहण तुल्य हैं, जो दरिद्र और अनाथों के नाथ हैं, वे आपकी कन्या के पाणिग्रहण के लिए प्रार्थी हैं। हे विदेहपति आप उन्हें अपनी कन्या दान करें।' (श्लोक १६५-१६७)

छठा दूत बोला—'हस्ती जैसे पर्वत को कम्पित नहीं कर सकता उसी भाँति काम्पिल्यपति जितशत्रु को शत्रु कम्पित नहीं कर सकता। समुद्र जैसे बहुत सी नदियों द्वारा अलंकृत होता है उसी भाँति बहु सैन्यवाहिनियों से वे अलंकृत हैं। शुनासिरों की भाँति वे बहुत से सेनापतियों से परिवृत हैं, जिनके समस्त शत्रु पराभूत हैं ऐसे वे मेरे माध्यम से आपकी कन्या के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

आप निःसंकोच होकर उन्हें अपनी कन्यादान करें।'
(श्लोक १६८-१७०)

उनकी बातें सुनकर राजा कुम्भ बोले, 'वे सब क्या धृष्ट दुराचारी और मूर्ख है और मृत्यु की आकांक्षा कर रहे हैं ? देव तो क्या स्वयं शक्र भी त्रिलोक की सारभूता मेरे कन्यारत्न के योग्य नहीं हैं। ईर्ष्या परायण तुम्हारे राजाओं की इच्छा पूर्ण होने वाली नहीं है। अतः नीच कुल जात दूतगण, जाओ मेरे राज्य का परित्याग करो।' (श्लोक १७१-१७३)

राजा कुम्भ द्वारा इस प्रकार अपमानित होकर छहों दूत शीघ्र अपने-अपने राज्य को लौट गये और क्रोधरूपी अग्नि को उद्दीप्त करने वाले राजा कुम्भ के ये वाक्य अपने-अपने प्रभु को सुनाए। छहों राजा ने समान रूपसे अपमानित होने के कारण परस्पर विचार विनिमय कर एक साथ मिथिला पर आक्रमण करने की योजना बनायी। शक्ति में दिक्पर्वत-से वे छहों राजा पृथ्वी को सैन्य द्वारा आवृत कर युद्ध यात्रा करते हुए मिथिला में उपस्थित हुए। आगमन-निर्गमन का पथ अवरुद्ध कर सर्प जैसे चन्दन वृक्ष को आवेष्टित कर लेता है उसी प्रकार उन लोगों ने उस नगरी को चारों ओर से घेर लिया। (श्लोक १७४-१७७)

घेर लेने के फलस्वरूप नागरिकों की दुर्दशा से जब राजा कुम्भ चिन्तित हुए तब मल्ली एक दिन उनके पास आकर बोली, 'पिताजी आप क्यों चिन्तित हैं ?' राजा कुम्भ ने अपनी चिन्ता का कारण बताया। तब मल्ली बोली, 'आप गुप्तचरों द्वारा प्रत्येक राजा को अलग-अलग कहला भेजिए "मैं आपको मल्ली देना चाहता हूं। तदुपरांत सन्ध्या समय उन्हें एक-एक कर गुप्त रूप से जहाँ मेरी प्रतिकृति रखी हुई है अलग-अलग छह कक्षों में ठहरा दें। राजा कुम्भ ने वैसा ही किया, छहों राजाओं ने वातायन की जाली से मल्ली की उस प्रतिकृति को देखा। (श्लोक १७८-१८२)

इस प्रतिकृति को साक्षात् मल्ली समझकर वे मन ही मन सोचने लगे इस मृगाक्षी को तो पुण्योदय से ही मैंने प्राप्त किया है। मल्ली ने उस प्रतिकृति के मस्तक का स्वर्ण कमलरूपी ढक्कन पर्दे की आड़ से खोल दिया। खोलते ही पूर्व डाले अन्न की सड़ी दुर्गन्ध जिसे कि नाक सहन कर सके फैला गयी। वही गन्ध दरवाजे की जालियों से

उनके कक्ष में प्रविष्ट हुई। प्राणघातक उस गन्ध से जिस प्रकार शत्रु से भयभीत लोग दूर भागते हैं, उसी प्रकार नाक को वस्त्र से आवृत कर वे भी वहाँ से दूर भाग गये। (श्लोक १८३-१८७)

'आप सब लौट क्यों रहे हैं ?' मल्ली ने पूछा। उन्होंने उत्तर दिया 'इस भीषण दुर्गन्ध को हम सहन नहीं कर पा रहे हैं।' तब मल्ली बोली, 'वह स्वर्णमूर्ति है। उसमें प्रतिदिन डाला गया अन्न सड़कर दुर्गन्ध फैला रहा है। तब जो पिता के वीर्य और माता के रज: से उत्पन्न होता है उसके विषय में तो क्या कहूं ? भ्रूण से वह क्रमश: पूर्णांग होता है। मां के देह से उत्पन्न आहार और दूध पान कर वह पोषित होता है। जरायु के नरक में रहकर उसका शरीर मल-मूत्र के मध्य विकास करता है। इस प्रकार जो देह निर्मित होती है उसका मूल्य ही क्या है ? वही शरीर तो अम्ल रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और मूत्र नाली से निर्गत शुक्र की तरह दूषित वस्तुओं का भंडार है। नगर नालियों की तरह वह दुर्गन्ध युक्त और कफादि वस्तु के लिए चमड़े की थैली विशेष है। अमृत वर्षा लवणाक्त मिट्टी पर पड़कर जैसे लवणाक्त हो जाती है उसी प्रकार कर्पूरादि सुगन्ध द्रव्य द्वारा सुवासित देह चिता के सम्पर्क में आकर विशेष दुर्गन्धमय हो जाती है। इसलिए विवेकशील व्यक्ति की इस शरीर पर जो कि भीतर और बाहर से एक सा अशुद्ध है आसक्ति कैसे रह सकती है? हे अज्ञानी, क्या तुम लोगों को याद नहीं पूर्व के तीसरे भव में तुम लोग अपर महाविदेह में सलीलवती विजय में मेरे साथ तपस्या कर रहे थे। (श्लोक १८८-१९६)

मल्ली की बात सुनकर राजाओं को पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ। अर्हतों की कृपा से क्या नहीं होता ? मल्ली ने जाली के दरवाजे खोल दिए तब वे छहों सम्बुद्ध राजा मल्ली के पास आए।

(श्लोक १९७-१९८)

'हमें स्मरण हो आया है कि पूर्व जन्म में हम सातों मित्र थे। और एक साथ प्रतिज्ञाबद्ध होकर एक-सी तपस्या करते थे। तुमने हमें यह स्मरण करवाकर बहुत अच्छा किया है। हम नरक जाने से बच गए हैं। अब हमारा क्या कर्तव्य है ? तुम्हीं बताओ। कारण, तुम्हीं हमारे गुरु हो।' (श्लोक १९९-२००)

'ठीक समय पर मेरे निर्देशानुसार आप सब दीक्षा ग्रहण

करेंगे' ऐसा कहकर मल्ली ने उन सबों को विदा दी। वे भी अपने-अपने नगर को लौट गए। ((श्लोक २०१)

तत्पश्चात् लोकान्तिक देवों ने मल्ली कुमारी के पास आकर प्रार्थना की, 'अब आप तीर्थ स्थापित करें।' मल्ली ने भी जृम्भक देवों द्वारा लाए द्रव्यों को एक वर्ष तक दान दिया। जब उनकी उम्र सौ वर्ष की हो गयी तब पच्चीस धनुष दीर्घ मल्ली के महाभिनिष्क्रमण का उत्सव राजा कुम्भ और देवेन्द्रादि द्वारा अनुष्ठित हुआ। जयंती नामक रत्नजड़ित शिविका में बैठकर मल्ली उद्यान श्रेष्ठ सहस्राम्रवन उद्यान में गयीं। मल्ली ने उस उद्यान में प्रवेश किया जिसके कुछ भाग में कृष्ण इक्षु का क्षेत्र था और कुछ भाग में शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह श्वेत इक्षु का क्षेत्र था। उस उद्यान में कमला नीबू के पेड़ पर मानिक की तरह पके हुए कमला नीबू लटक रहे थे। वृक्ष पंक्तियों के कारण वह उद्यान नीलकान्त मणि का हो ऐसा भ्रम हो रहा था। पथिकगण कुएँ का जल थोड़ा-थोड़ा करके पी रहे थे और शीत के लिए नारी स्तनों की उष्णता जैसे, वट वृक्ष की उष्णता में आश्रय ले रहे थे। वह उद्यान शीतलक्ष्मी के हास्य-सी प्रस्फुटित मल्लिका के पुष्पों से अलंकृत था। मार्गशीर्ष मास की शुक्ला ग्यारस को चन्द्र जब अश्विनी नक्षत्र में अवस्थित था तब तीन उपवास के पश्चात् यथावत् उत्सव सहित मल्ली ने केशोत्पाटन कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उसी समय मल्ली को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी दिन अशोक वृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने समवसरण की रचना की जिसके मध्य भाग में ३०० धनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष स्थापित किया गया। मल्ली ने पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर चैत्यवृक्ष को प्रदक्षिणा दी और 'नमो तित्थाय' कहकर तीर्थ को नमस्कार किया। मल्लीनाथ के पूर्वाभिमुख होकर रत्न-सिंहासन कर बैठने के पश्चात् व्यन्तर देवों ने तीन ओर उनका प्रतिरूप स्थापित किया। चतुर्विध संघ के यथास्थान अवस्थित होने पर कुम्भ और छह राजा शक्र के पीछे आकर बैठ गए। शक्र और राजा कुम्भ ने जगद्गुरु को वन्दना कर श्रद्धाप्लुत हृदय से आनन्द-मना बने इस प्रकार स्तुति की : (श्लोक २०२-२१६)

'संसार भय से भीत होकर जो आपको वन्दना करता है तो समझो भाग्योदय ही जैसे उसके ललाट पर आपके चरण नखों की

दीप्ति रूप सुरक्षा का तिलक अंकित कर देता है। जन्म से ही ब्रह्मचर्य पालन करने के कारण आप जन्म समय से ही दीक्षित हो गए थे। मुझे लगता है आपका जन्म मानो व्रत ग्रहण का पुनरावृत्ति रूप है। उस स्वर्ग से भी क्या प्रयोजन है जहाँ आपका दर्शन नहीं होता? आपके दर्शनों के कारण यह पृथ्वी उत्तम है। हे भगवन्, संसार भय से भीत मनुष्य, देवता और अन्य जीवों के लिए आपका समवसरण आश्रय और दुर्ग रूप है। आपके गुणों की वन्दना करने के अतिरिक्त अन्य कर्म मन्दकर्म या कर्मबन्धन और भव परम्परा की सृष्टि करता है। आपके ध्यान के सिवाय अन्य ध्यान मन्द ध्यान है कारण उस ध्यान में मकड़ी जिस प्रकार अपने ही बुने जाल में आबद्ध हो जाती है, जीव भी उसी प्रकार आबद्ध हो जाता है। आपके गुणों की कथा के अतिरिक्त अन्य कथा विकथा है। तित्तिर पक्षी के शब्द की तरह वह उसकी मृत्यु का कारण बनता है। हे जगद्गुरु, आपके चरण कमलों की सेवा से मेरा बार-बार जन्म लेने का अन्त हो एवं जब तक ऐसा नहीं हो जाता है तब तक जन्म-जन्म में आपकी भक्ति प्राप्त करूँ।' (श्लोक २१७-२२४)

इस प्रकार स्तुति कर देवराज इन्द्र और नरकुंजर कुम्भ बैठ गए। तदुपरान्त मल्ली प्रभु ने सुनने को उत्सुक संघ को इस प्रकार देशना दी— (श्लोक २२५)

'यह संसार रूपी समुद्र अपार होने पर भी पूर्णिमा के दिन जिस प्रकार समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार राग द्वेषादि के कारण और बढ़ जाता है। जो जीव उत्तरोत्तर आनन्द प्रदान-कारी समता जल में स्नान करते हैं उनका राग-द्वेष रूपी मैल धुल जाता है। जो कर्म कोटि जन्म तक कठोर तपस्या करने पर भी नष्ट नहीं होता वही कर्म समता का अवलम्बन लेने पर क्षण मात्र में विनष्ट हो जाता है। जीव और कर्म दोनों मिलकर जब एक रूप हो जाते हैं तो साधुजन ज्ञान द्वारा उसे अवगत कर समता शलाका द्वारा उन्हें पृथक् कर देते हैं। योगी पुरुष सामायिक रूपी किरण से रागादि रूप अन्धकार को विलष्ट कर स्व-परमात्मा स्वरूप का दर्शन करते हैं। (श्लोक २२६-२३०)

'जिन प्राणियों के स्वार्थ के कारण नित्य और जाति बैर रहता है ऐसे प्राणी भी समता सिद्ध प्राणी के निकट आकर

पारस्परिक द्वेष-भाव भूल जाते हैं।' समता उसी विशिष्ट आत्मा में निवास करती है जो चेतन और अचेतन किसी भी वस्तु पर इष्ट अनिष्ट का विचार कर मोहित नहीं होते। उनमें उत्तम समता अवस्थान करती है जिनके हाथ पर गोशीर्ष चन्दन विलेपन करने पर या हाथ काट डालने पर मनोवृत्ति में कोई भेद उत्पन्न नहीं होता। जो उनकी प्रशंसा करे और जो क्रोधान्ध होकर उन्हें गाली दे, इन दोनों के प्रति ही जो प्रीति परायण हैं, समता उनमें रहती है।
(श्लोक २३१-२३४)

'यदि समता का अवलम्बन ग्रहण कर लें तो उसे न यज्ञ की आवश्यकता है, न प्रार्थना की, न तप की, न जप की, न दान की; वह तो बिना मूल्य के ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। एतदर्थ बिना प्रयत्न के सहज रूप में सुखकारी समता धारण करना सबका कर्तव्य है। स्वर्ग और मोक्ष सुख को तो परोक्ष कहकर उसको अस्वीकार किया जा सकता है; किन्तु समता सुख तो प्रत्यक्ष है। अतः कोई अनात्मवादी भी इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। कविगण जिसे ब्रह्मानन्द कहते हैं और जो रूढ़ हो गया है उस पर मुग्ध होने की जरूरत नहीं है; किन्तु जो आनन्द इस अनुभव में आता है उस समता रूपी अमृत का निरन्तर पान करने में बाधा क्या है? गले में कोई सांप डाले या पुष्पमाला पहनाए इन पर, जिन्हें विराग या राग नहीं है, वे समता के अधीश्वर हैं। समता ऐसा गूढ़ विषय नहीं है जो समझ में नहीं आए और न ही इसके लिए भाषा-टीका की आवश्यकता है। जो सहज और सरल ज्ञान सम्पन्न है, समता उनके लिए भवराग से मुक्त होने के लिए औषधि रूप है। राग-द्वेष दमनकारी योगियों में भी ऐसे क्रूर कर्म हैं जो समता रूपी शस्त्र नष्ट करते हैं। समता का परम प्रभाव तो यह है कि पापी भी यदि समता ग्रहण करें तो क्षणमात्र में ही शाश्वत पद प्राप्त कर सकते हैं। समता रहने पर ही सम्यक ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी त्रिरत्न फल प्रदान करता है। समता न रहने पर सम्यक ज्ञानादि त्रिरत्न भी निष्फल हो जाते हैं। जब नाना-विध उपसर्ग आकर उपस्थित होता है अथवा मृत्यु, उस समय समता श्रेष्ठ ही अवलम्बनीय है। इसीलिए समता जो मोक्ष रूपी वृक्ष का एकमात्र बीज है और अनुपम सुख प्रधानकारी है वह

राग-द्वेष को जय करने वाले के लिए अवश्य ही अवलम्बनीय है।'
(श्लोक २३५-२४६)

इस देशना को सुनकर उन छहों राजाओं ने दीक्षा ग्रहण कर ली और उनके माता-पिता ने श्रावक धर्म अङ्गीकार कर लिया। मल्ली प्रभु के भीषक आदि २८ गणधर हुए। मल्ली प्रभु की देशना के पश्चात् गणधर भीषक ने देशना दी। दूसरे दिन उसी उद्यान में राजा विश्वसेन से खीर ग्रहण कर प्रभु ने पारणा किया। इन्द्रादि देव और कुम्भादि राजा भगवान के चरणों में वन्दना कर स्व-स्व निवास को लौट गए। (श्लोक २४७-२५०)

उनके तीर्थ में शासन देव के रूप में इन्द्रधनुष वर्ण के चतुर्मुख गजवाहन कुबेर नामक यक्ष उत्पन्न हुए। उनके चार दाहिने हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में था, दूसरे हाथ में कुठार, तीसरे हाथ में त्रिशूल और चौथा हाथ अभय मुद्रा में था। बायीं ओर के एक हाथ में बिजोरा नींबू, दूसरे में भाला, तीसरे में हथौड़ी और चौथे हाथ में अक्षमाला थी। इसी भाँति शासन देवी के रूप में उनके तीर्थ में कृष्णवर्णा पद्मासना वैरोटया देवी उत्पन्न हुई। उनके दाहिनी ओर के दो हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में था। दूसरे हाथ में थी अक्षमाला। बाईं ओर के एक हाथ में बिजोरा नींबू और दूसरे हाथ में भाला था। (श्लोक २५१-२५४)

भव्य जीवों के उद्धार के लिए प्रभु ग्राम, नगर, खान आदि समस्त पृथ्वी पर विचरण करने लगे। उनके साथ ४०००० साधु, ५५००० साध्वियां, ६६८ पूर्वधर, २२०० अवधिज्ञानी, १३५० मनःपर्याय ज्ञानी, २२०० केवली, २८०० वैक्रिय लब्धिधारी, १४०० वादी, १८३००० श्रावक, ३७०००० श्राविकाएँ थीं। इस प्रकार वे ३०० वर्ष कम ५५००० वर्षों तक पृथ्वी पर विचरण करते रहे। (श्लोक २५५-२६१)

अपना निर्वाण समय ज्ञात कर मल्ली प्रभु ५०० साधु और ५०० साध्वियों के साथ सम्मेत शिखर पधारे। एक मास के उपवास के पश्चात् फाल्गुन शुक्ला दशमी को चन्द्र जब भरणी नक्षत्र में अवस्थित था ५०० साधु और ५०० साध्वियों सहित प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् अरनाथ के ५००० करोड़ वर्षों पश्चात् मल्ली प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया। समस्त दिशाओं से इन्द्रादि

देव आकर उपस्थित हुए और उनका निर्वाण महोत्सव उद्‌यापित किया। (श्लोक २६२-२६६)

षष्ठ सर्ग समाप्त

सप्तम सर्ग

जिनके ज्ञान रूपी क्षीर समुद्र के प्रवाह द्वारा यह पृथ्वी पवित्र बनी है और जो दन्तपंक्ति की भांति शुभ्रवर्ण के थे ऐसे सुव्रत स्वामी जयवन्त हों। ज्ञानियों के ज्ञानवर्द्धन के लिए निर्मल, मानो भगवती सरस्वती से ही प्राप्त हुआ हो, ऐसे उनके जीवन चरित्र का वर्णन करूँगा। (श्लोक १-२)

इस जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह में भरत नामक विजय में चम्पा नामक एक वृहद् नगरी थी वहां दीर्घबाहु और अमित बलशाली इन्द्र-से सुरश्रेष्ठ राजत्व करते थे। वे चारों प्रकार से वीर थे अर्थात् दानवीर, रणवीर, आचारवीर और धर्मवीर। वे अपना रण कौशल युद्ध में नहीं युद्धाभ्यास के समय ही दिखा पाते थे। कारण, उनका आदेश ही राजाओं को वशीभूत कर देता था। यहां तक कि मौन व्रती मुनि भी उनके गुणगान में अपना मौन व्रत भंग कर देते थे। (श्लोक ३-७)

एक बार मुनिनन्दन के चम्पा नगरी के उद्यान में पधारने पर वे उन्हें वन्दन करने गए। मिथ्यात्व रूप जंजाल को दूर करने में समर्थ उनकी देशना सुनकर वे संसार से विरक्त हो गए। अतः वे सुरश्रेष्ठ उनसे दीक्षित होकर सम्यक् चारित्र का पालन करने लगे। उन्होंने अर्हत् भक्ति और बीस स्थानक की उपासना कर तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपार्जन किया और मृत्यु के पश्चात् प्राणत नामक देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर उन्होंने हरिवंश में जन्म ग्रहण किया। एतदर्थ प्रसंगवश हरिवंश का विवरण यहां दिया जाता है। वह इस प्रकार है— (श्लोक ८-१२)

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वत्स देश के अलङ्कार स्वरूप कौशाम्बी नामक एक नगरी थी। वहां सुमुख नामक एक राजा राज्य करते थे। जिनके यश रूपी चन्दन से स्वर्ग का मुख भी चर्चित हुआ था। जंगल के अधिकार को जिस प्रकार सर्प लंघन नहीं

करता उसी प्रकार राजाओं द्वारा उनका आदेश पालन किया जाता था फलतः वे वज्रपाणि इन्द्र की तरह पृथ्वी पर शासन करते थे। जो दाक्षिण्य के उपयुक्त होता उसे वे कोमल हृदयी पिता की भांति सहयोग देकर, जो उपहार से वशीभूत होने योग्य होता उसे प्रेतात्मा को वश में करने वाले की तरह उपहार देकर, जो चतुर होते उन्हें चुम्बक जैसे लोहे को विभक्त करता है उसी भांति उनमें भेद सृष्टिकर और जो अपराधी होते उन्हें द्वितीय दण्डपाणि की तरह दण्ड देकर वशीभूत रखते। (श्लोक १३-१७)

एक दिन मदन-सखा वसन्त का आविर्भाव होने पर वे क्रीड़ा करने उद्यान में गए। हाथी पर चढ़कर जाते समय उनकी दृष्टि जुलाहा वीर की पत्नी पद्मनयना वनमाला पर पड़ी। उसके स्फीत उन्नत वक्ष, पद्मनाल-सी कोमल बाहें, वज्र के मध्य भाग-सी कमर, नदी सैकत-से विस्तीर्ण नितम्ब, आवर्त-सी गम्भीर नाभि, हस्ती सुण्ड-सी पुष्ट जंघा, कमल-सी रक्ताभ हथेलियां और पदतल एवं बंकिम भौंहे देखकर राजा का मन मदन द्वारा विचलित हो गया। उसके वस्त्र स्खलित होने पर भी उसने बाएँ हाथ से नितम्ब का वस्त्र और दाहिने हाथ से वृक्षों के वस्त्रों को पकड़ रखा था। उसे इस अवस्था में देखकर राजा हस्ती की गति मन्द कर सोचने लगे—क्या यह स्वर्ग से आगत शापभ्रष्टा कोई अप्सरा है या वनलक्ष्मी स्वयं ही रूप धारण कर यहां आई है या यह वसन्तश्री अथवा कामदेव से वियुक्ता रति या नागकन्या है? अथवा यह रमणी रत्न है जिसे विधाता ने कौतूहलवश बनाया है। (श्लोक १८-२५)

ऐसा सोचकर राजा हाथी को अग्रसर न कर बार-बार वहीं घुमाने लगे मानों वे किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों। राजा का मनोभाव जानने के लिए तब मन्त्री ने उनसे पूछा—'महाराज, हमारे परिजन आदि सभी उपस्थित हो गए हैं फिर विलम्ब क्यों?' मन्त्री की बात सुनकर बहुत कष्ट से स्वयं को संवरण कर वे वृहत् यमुनोद्वर्त उद्यान में गए; किन्तु आम्रमंजरी से सुशोभित आम्रवन, नवपल्लवों से सुशोभित अशोक कुञ्ज, हवा से आन्दोलित कुसुम स्तवकों में लटके भ्रमर राजि, जिनके पत्तों ने पंखों का आकार ले लिया है ऐसा कदली वृक्ष, वसन्त लक्ष्मी की कर्णाभरण रूप कर्णिकार पुष्प या अन्य दर्शनीय सामग्री भी वनमाला की चिन्ता

में निमग्न राजा को जरा भी आनन्द देने में समर्थ नहीं हुए। मन्त्री सुमति राजा के मनोभावों को जानकर भी नहीं जानने का भान कर भाराक्रान्त हृदय से पूछने लगे—'स्वामिन्, किसी मानसिक विक्षोभ या शत्रुकृत उद्वेग से आप का मन विषण्ण हुआ है ? कारण इसके अतिरिक्त अन्य किसी कारण से राजाओं का मन विषण्ण नहीं होता। शत्रुकृत उद्वेग आपको हो नहीं सकता कारण आपके प्रताप से पृथ्वी आपके अधीन है। यदि कोई मानसिक विक्षोभ हुआ है और उसे बताने में कोई बाधा नहीं हो तो मुझे बताएँ।' (श्लोक २६-३४)

राजा ने प्रत्युत्तर दिया—'छलना का आश्रय नहीं लेने पर भी तुम्हारे प्रताप से शत्रु मेरे अधीन है। मेरे मानसिक विक्षोभ का भी तुम्हारे पास अवश्य ही निदान है—ऐसा मैं सोचता हूं। अतः तुम्हें न बतलाने का तो कोई कारण ही नहीं है। मैं जब यहाँ आ रहा था तब राह में एक ऐसी रमणी को देखा जिसने समस्त रमणियों का सौन्दर्य चुरा लिया है। काम द्वारा आहत मेरा मन उसी के द्वारा आच्छन्न है। अतः मेरे मन में कोई खुशी नहीं है। अब इस प्रसंग में तुम कोई ऐसा उपाय करो जिससे मैं उसे प्राप्त कर सकूँ। (श्लोक ३५-३८)

मंत्री ने कहा, राजन्, मैं उसे जानता हूं। वह जुलाहा वीर की पत्नी है। उसका नाम वनमाला है। मैं शीघ्र ही उसे आपकी सेवा में उपस्थित करूँगा। अभी आप अनुचरों सहित प्रासाद को लौट जाएँ। (श्लोक ३९-४०)

यह सुनकर राजा अस्वस्थ व्यक्ति की तरह पालकी पर चढ़े और वनमाला के विषय में सोचते हुए प्रासाद को लौट गए। (श्लोक ४१)

मन्त्री सुमति ने तब असम्भव को भी सम्भव करने वाली चतुर परिव्राजिका आत्रेयी को वनमाला के पास भेजा। आत्रेयी तत्क्षण वनमाला के घर गयी और वनमाला द्वारा सम्मानित होकर आशीर्वाद देते हुए बोली, वत्से, शीत के आगमन से जैसे कमल म्रियमाण हो जाता है उसी प्रकार तुम्हें भी म्रियमाण देख रही हूं। दिवस की चन्द्रकला की भाँति तुम्हारे कपोल पीले पड़ गए हैं। तुम्हारी दृष्टि में सूनापन है। तुम किस चिन्ता में निमग्न हो ? पहले तो तुम मुझे अपनी सारी बातें बताती थी। तुम्हें क्या दुःख है वह

अब मुझे क्यों नहीं बताती ? (श्लोक ४२-४५)

तब वनमाला दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुयी बोली, जो वस्तु मिल नहीं सकती उसके लिए आप से क्या कहूं ? एक ओर सामान्य गर्दभी और अन्य ओर अश्वरत्न उच्चैःश्रवा है, एक ओर सामान्य शृगाली, दूसरी ओर वनराज सिंह है, एक ओर सामान्य मादा गौरैया अन्य ओर पक्षीराज मयूर है : मैं एक सामान्य कुलाहा की पत्नी हूं और जो मुझे प्रिय है, वह मुझे अलभ्य है। भगवद् इच्छा से ऐसा मिलन कदाचित् सम्भव भी हो जाता है; किन्तु नीच कुल में उत्पन्न मेरा मिलन उनसे होना स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

(श्लोक ४६-४९)

आत्रेयी बोली, वत्से, मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूँगी। मन्त्र और वशीकरण से क्या सम्भव नहीं होता ? तब वनमाला बोली, आज मैंने राजा को हाथी पर चढ़कर पथ पर जाते देखा। ऐसा लगा मानो स्वयं मदन ही वहाँ बैठा हो चन्दन प्रलेप-से सुखद उन्हें देखने के पश्चात् से प्रबल काम ज्वर मेरे समस्त शरीर में व्याप्त हो गया है। इस काम ज्वर के उपचार स्वरूप उनका मिलन तो तक्षक दंश की भाँति दुर्लभ है। अब मैं क्या करूँ ? आप ही बताइए।

(श्लोक ५०-५३)

यह सुनकर आत्रेयी बोली, मैं मन्त्रबल से देव, राक्षस, सूर्य, चन्द्र और विद्याधरों को भी पृथ्वी पर उतार सकती हूं, यह तो सामान्य मनुष्य की कथा है। मुग्धे, कल सुबह ही मैं राजा के साथ तुम्हारा मिलन कराऊँगी, नहीं तो जीवित ही अग्नि में जल मरूँगी। मुझ पर विश्वास रख। (श्लोक ५४-५५)

इस प्रकार वनमाला को आश्वस्त कर परिव्राजिका मन्त्री सुमति के पास गयी और बोली, बस समझ लो राजा का मनोरथ पूर्ण हो गया है। मन्त्री ने भी राजा के पास जाकर उन्हें सान्त्वना दी। प्रिया को पाने की आशा भी आनन्ददायक होती है।

(श्लोक ५६-५७)

सुबह आत्रेयी वनमाला के घर गयी और बोली, राजा सुमुख मेरे प्रभाव से तेरे प्रति सदय हो गए हैं। अब चल मेरे साथ तुझे राजमहल पहुंचा दूँ। वहाँ रानी की तरह राजा के साथ, इच्छा अनुसार रहना। तब वनमाला तैयार होकर आत्रेयी के साथ चली

गयी। राजा तो कामासक्त थे ही। अतः उसे अन्तःपुर में स्थान दे दिया। (श्लोक ५८-६०)

अब राजा सुमुख वनमाला के साथ उद्यान में, नदी तट पर, सरोवर पर, गिरिशृंग पर विहार कर यौवन सुख भोग करने लगे। (श्लोक ६१)

जुलाहा वीर ने घर आकर जब वनमाला को नहीं देखा तो उसे इधर-उधर खोजने लगा; किन्तु जब वह नहीं मिली तो उसकी अवस्था विक्षिप्त-सी हो गयी। मानो वह भूताविष्ट हो गया हो या मदिरा पान किए हो। उसी अवस्था में वह इधर-उधर घूमने लगा। वह धूलधूसरित, पुराने मैले कपड़े पहने हुए, रुक्ष-शुष्क केश, दाढ़ी नाखून बढ़े हुए, ऐसी अवस्था में 'हाय वनमाला, तुम कहाँ हो? तुम कहाँ हो?' चिल्लाता हुआ भटकने लगा। उसे पागल समझ कर शहर के लड़के-बच्चे भी उसके पीछे-पीछे चिल्लाते हुए घूमने लगे। वह कहने लगा—'वनमाला, तुम एक बार दिख जाओ। तुमने मेरा परित्याग क्यों किया? मैंने क्या अपराध किया है? क्या तुम कौतुकवश कहीं छिप तो नहीं गयी हो? यदि ऐसा ही है तो इतने दिनों तक छिपकर रहना अच्छा नहीं है। कहीं तुम्हारे सौन्दर्य के कारण कोई राक्षस, यक्ष या विद्याधर तो तुम्हें उठाकर नहीं ले गया?' इस प्रकार वह एक पथ से दूसरे पथ पर, त्रिराहों, चौराहों पर चिल्लाता हुआ दीन दरिद्र-सा घूमने लगा। (श्लोक ६२-६७)

एक दिन इसी प्रकार चिल्लाता हुआ बन्दर के पीछे-पीछे जैसे बच्चों का झुण्ड चलता है उसी प्रकार बालकों द्वारा अनुस्यूत होता राजमहल के चौराहे पर पहुंच गया। यज्ञस्थल परित्यक्त बासी माला पहने पिशाच जैसे उसे देखकर राजमहल के कर्मचारियों ने उसे घेर लिया। वहां का कोलाहल तालियों की ध्वनि सहित अन्तःपुर में अवस्थित राजा सुमुख के कानों में पहुंचा। क्या हो रहा है देखने के लिए राजा वनमाला सहित चौराहे पर आए। जब उन्होंने वीर को उसके उस परिवर्तित रूप में देखा—धूलिमय वस्त्र, शून्यमना, जनता द्वारा प्रताड़ित और 'वनमाला वनमाला' तुम कहाँ हो की चीत्कार सुनी तो उसके मन में अनुशोचना जाग पड़ी। वे सोचने लगे—व्याध की भाँति हमने कैसा निष्ठुर कार्य किया है? उस निश्छल को हमने प्रताड़ित किया है। जो

भयंकर पाप हमने किया है ऐसा पाप तो भविष्य में शायद कोई नहीं करेगा। कारण, हम पापियों में भी अधम हैं। हम विश्वास-घातकों से भी नीच है कारण हम उसकी जीवन्त मृत्यु का कारण बन गए हैं। धिक्कार है हम मन्द विवेकियों को जिन्होंने इन्द्रियों की तृप्ति के लिए ऐसा कार्य किया है। लगता है इस पाप के फलस्वरूप नरक में भी हमें स्थान नहीं मिलेगा। वे उच्चमना धन्य हैं जो स्व-इन्द्रियों को संयमित रख इन्द्रिय सुख से निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि यह परिणाम में दुःखदायक होता है। जो दिन-रात जिन-वाणी का श्रवण और पालन करते हैं वे ही धन्य हैं। कारण, वे अन्यों के भी उपकारी होते हैं। (श्लोक ६८-७९)

जिस समय वे इस प्रकार पश्चाताप और धर्मरत जीवों की प्रशंसा कर रहे थे उसी समय सहसा विद्युत्पात से दोनों की मृत्यु हो गयी। दोनों का परस्पर प्रेम और शुभ भावना में मृत्यु होने के कारण वे हरिवर्ष में युगल रूप में उत्पन्न हुए। उनके माता-पिता ने उनका नाम रखा हरि और हरिणी। पूर्व जन्म की ही भांति पति और पत्नी रूप में एक मुहूर्त के लिए भी वे विच्छिन्न नहीं होते थे। दस कल्पवृक्षों के द्वारा उनकी समस्त इच्छा पूर्ण होने लगी। अतः सुख भोग करते हुए वे देवों की तरह रहने लगे। (श्लोक ८०-८३)

राजा और वनमाला की वज्राघात से मृत्यु हो जाने के पश्चात् वीर ने कठोर प्रज्ञान तप किया और मृत्यु के पश्चात् सौधर्म देवलोक के किल्विषक देव रूप में जन्म ग्रहण किया। अवधि ज्ञान से जब उसे अपना पूर्व भव और हरि-हरिणी के विषय में ज्ञात हुआ तब क्रोध से आँखें लाल कर यम की भाँति भृकुटि ताने उन्हें मारने के लिए हरिवर्ष गया। किन्तु वहाँ जाकर उसने सोचा यहाँ इनकी हत्या करने से क्षेत्र के कारण मृत्यु के पश्चात् ये स्वर्ग में उत्पन्न होंगे, इससे मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। अतः मैं अपने इन पूर्व जन्म के शत्रुओं को अन्य क्षेत्र में ले जाऊँ ताकि वहाँ विविध कष्टों को भोग कर ये अकाल मृत्यु को प्राप्त हों। (श्लोक ८४-८८)

ऐसा सोचकर वह देव कल्पवृक्ष सहित उनका अपहरण कर भरत क्षेत्र की चंपा नगरी में ले गया। ठीक उसी समय वहाँ के इक्ष्वाकुवंशीय राजा चन्द्रकीर्ति की मृत्यु हो गयी। उनके कोई पुत्र नहीं था। योगीगण जिस प्रकार आत्मा का अनुसन्धान करते हैं उसी

प्रकार वहाँ के मंत्री, योग्य राजा का अनुसन्धान करने लगे। देव-ऋद्धि सहित वही देव उस समय आलोक पुंज की भाँति आकाश में स्थित होकर उन्हें बोला, हे राज्य के मंत्री, उपदेशक और सामन्तगण सुनो, सुनो, आपके राजा अनुचित अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं। इसलिए आप योग्य राज्याधिकारी खोज रहे हैं। आप लोगों के शुभ भाग्योदय से आपकी चिन्ता दूर करने के लिए मैं हरिवर्ष से आप लोगों पर शासन करने में समर्थ युगलिक हरि और हरिणी को ले आया हूं। ये पति-पत्नी हैं। इनके खाद्य के लिए मैं यह कल्पवृक्ष भी ले आया हूं। श्रीवत्स, मत्स्य, कुम्भ, वज्र और अंकुश चिह्न से युक्त कमलनयन हरि तुम लोगों का राजा बने। इन्हें कल्पवृक्ष के फल और पशु-पक्षियों का मांस खिलाना और मदिरा पान करवाते रहना। (श्लोक ८९-९७)

'ऐसा ही होगा' कहते हुए उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली और उन्हें रथ में बैठाकर राजमहल ले गए। वहाँ सामन्तों ने हरि को राज्य सिंहासन पर बैठाया। पुरोहित, भाट और गायकों ने मंगलगान किया। उस देव ने स्व-शक्ति से उनका आयुष्य कम कर दिया और ५०० धनुष की उच्चता कम कर दी। हरि भगवान शीतलनाथ स्वामी के तीर्थकाल में राजा हुए थे और उनसे पृथ्वी पर हरिवंश का प्रवर्तन हुआ। (श्लोक ९८-१०१)

हरि ने समुद्र-मेखला पृथ्वी को जीत लिया और श्री जैसी सुन्दरी अनेक राजकन्याओं से विवाह किया। कुछ दिनों पश्चात् हरि और हरिणी के पृथ्वीपति नामक एक वृषस्कन्ध पुत्र हुआ। मांसादि आहार और मदिरा पानादि पाप के कारण हरि और हरिणी की मृत्यु हो गयी और उनका पुत्र पृथ्वीपति राजा बना। बहुत दिनों तक राज्य करने के पश्चात् अपने पुत्र महागिरि को सिंहासन पर बैठाकर तपस्या करते हुए मृत्यु के पश्चात् उसने स्वर्ग गमन किया। महागिरि ने भी अपने पुत्र हिमगिरि को सिंहासन पर बैठाकर दीक्षा ग्रहण कर ली और मृत्यु के पश्चात् मोक्ष प्राप्त किया। हिमगिरि ने अपने पुत्र वसुगिरि को सिंहासन पर बैठाकर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली और मृत्यु पश्चात मोक्ष गए। वसुगिरि भी स्व-पुत्र गिरि को सिंहासन पर बैठाकर दीक्षित हो गए और कर्मक्षय कर मृत्यु के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त किया। गिरि अपने

पुत्र मित्रगिरि को सिंहासन पर बैठाकर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग गमन किया। इस प्रकार हरिवंश में बहुत राजा हुए। कठोर तपश्चर्या के कारण उनमें कोई स्वर्ग, कोई मोक्ष को प्राप्त हुए। (श्लोक १०२-११०)

इसी भरत क्षेत्र में पृथ्वी को स्वस्तिक तुल्य मगध देश की अलङ्कार रूपा राजगृह नामक एक नगरी थी। वहां के प्रति गृह में तरुण-तरुणियों के प्रणय व्यापार में मुक्ता-मालाओं के छिन्न हो जाने के कारण इतने मोती बिखर जाते थे कि प्रभात समय परिचारिकाएँ सम्मार्जनी से उन्हें बुहारती थी। वहाँ प्रतिगृह में अश्व थे, प्रतिगृह में दानशाला, चित्रशाला और नाट्यशाला थी। मरालों के लिए जिस प्रकार सरोवर, भ्रमरों के लिए पुष्पदाम, उसी प्रकार मुनियों की सेवा के लिए भी वहाँ प्रबन्ध था।

(श्लोक १११-११४)

हरिवंशोत्पन्न सुमित्र उस समय वहां राज्य करते थे। वे मुक्ता की तरह निष्कलंक और सूर्य की भाँति भास्वर थे। दुष्टों को दमन करने वाले विजयलक्ष्मी के प्रतिरूप और राजाओं में अग्रगण्य वे इस पृथ्वी का भार नवम दिक्हस्ती की तरह या अष्टम वर्षधर या द्वितीय शेषनाग की तरह वहन करते थे। उदारता, दृढ़ता, गाम्भीर्य आदि सब गुण जिन आगमन के सूचक होते हैं। वे गुण उनमें पूर्णमात्र में विद्यमान थे। हरिप्रिया पद्मावती की तरह उनकी पत्नी का नाम भी पद्मावती था। उनके द्वारा यह पृथ्वी पवित्र हो रही थी। आकाश जैसे चन्द्र द्वारा अलंकृत होता है उसी प्रकार राजा का यश समस्त पृथ्वी के आनन्द उत्स रूप उनके यश द्वारा अलंकृत हो रहा था। उनका चारित्र आदि सुरभिगुण, वस्त्रों को जिस प्रकार सुरभित चूर्ण द्वारा सुरभित किया जाता है उसी प्रकार राजा के हृदय को सुरभित करता था। आकाश के नक्षत्र तुल्य उनकी अनन्त गुण राजि का वर्णन वृहस्पति भी यदि करें तो उसका अन्त नहीं हो सकता। उनके प्रेम के कारण ही पृथ्वी ने मानों रूप धारण किया है। ऐसे पद्मावती के साथ पृथिवीपति सुमित्र सुखभोग करने लगे। (श्लोक ११५-१२३)

आनन्द सागर में निमज्जित सुरश्रेष्ठ का जीव प्राणत कल्प का आयुष्य पूर्ण कर वहां से च्युत होकर श्रावण महीने की पूर्णिमा

को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में अवस्थित था, रानी पद्मावती की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के शेष याम में सुख शय्या पर सोयी हुई उन्होंने तीर्थंकर के जन्म सूचक चौद महा स्वप्न देखे।

(श्लोक १२४-१२६)

समय पूर्ण होने पर ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी तिथि को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में अवस्थित था उन्होंने कूर्मलांछन, तमाल से कृष्ण वर्ण युक्त एक पुत्र को जन्म दिया। दिक्कुमारियों के द्वारा उनका जन्म कृत्य सम्पन्न कर देने के पश्चात् इन्द्र इन्हें मेरु पर्वत पर ले गए। शक्र की गोद में बैठे जगदगुरु को श्रेषठ इन्द्रों ने तीर्थ से लाए पवित्र जल से स्नान करवाया। बाद में ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर शक्र ने उन्हें स्नान करवाया। तदुपरान्त उनकी पूजा कर इस प्रकार स्तुति की— (श्लोक १२७-१३०)

'वर्तमान अवसर्पिणी रूप सरिता के श्रेष्ठ कमल रूप आपको भाग्य वश ही बहुत दिनों के पश्चात भ्रमर रूप हमलोगों ने प्राप्त किया है। हे भगवन्, आज मेरे मन वचन काया आपकी पूजा, ध्यान और स्तव पाठ से धन्य हो गये हैं। मेरी भक्ति आप के प्रति जितनी दृढ़ हो रही है मेरे कर्म उतने ही क्षीण हो रहे हैं। हे प्रभु, हम असंयमी का जीवन व्यर्थ हो जाता यदि आपका दर्शन प्राप्त नहीं होता। पुण्योदय से ही यह सम्भव हुआ है। हमारी इन्द्रियां आपका स्पर्श कर, आपका गुणगान कर, जो पुष्प आपको प्रदत्त किए हैं उनका आघ्राण कर, आपके रूप का दर्शन कर, आप के गुणों का श्रवण कर सार्थक हो गए है। वर्षाकालीन मेघ नेत्रों को जिस प्रकार आनन्द देता है उसी प्रकार आप सहित मेरु पर्वत का नीलकान्त मणि शृंग हमें आनन्द दे रहा है। हे सर्वतोस्थित आपके भरतवर्ष में रहने पर भी हम जहां भी रहें हमारे कष्ट निवारण के लिए स्मरण करने पर हमारे निकट उपस्थित हो जाते हैं। स्वर्ग से जब हम च्युत होंगे तब आपके चरण का ध्यान करते-करते च्युत हों ताकि भावी जन्म में इस जन्म में किया आपका स्नात्रोत्सव सुकृत रूप में हमारे साथ रहे।' (श्लोक १३१-१३८)

बीसवें तीर्थंकर की इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र ने उन्हें ले जा कर रानी पद्मावती के पास यथा रीति सुला दिया।

(श्लोक १३९)

दूसरे दिन सुबह राजा सुमित्र ने बन्दियों को मुक्त कर प्रजाजनों को उपहार देकर आनन्दित करते हुए पुत्र जन्मोत्सव मनाया। जातक जब गर्भ में था तब उसकी मां मुनि-सा व्रत पालन करती थी अतः उसका नाम रखा गया मुनि सुव्रत। यद्यपि वे तीन ज्ञान के धारक थे फिर भी जैसे उन्हें कोई ज्ञान नहीं है इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए प्रभु क्रमशः बड़े हुए। जब वे बीस धनुष की लम्बाई प्राप्त कर युवा हुए तब उन्होंने प्रभावती आदि राजकन्याओं से विवाह किया। पूर्व दिशा जिस प्रकार चन्द्र को जन्म देती है उसी प्रकार प्रभावती ने सुव्रत नामक मुनि सुव्रत प्रभु के पुत्र को जन्म दिया। जब साढ़े सात हजार वर्ष व्यतीत हो गए तब उन्होंने पितृ प्रदत्त राज्य भार ग्रहण किया। भोगावली कर्मों को भोग कर ही क्षय किया जाता है यह जानकर उन्होंने ४५ हजार वर्ष राज्य संचालन में व्यतीत किए। (श्लोक १४०-१४६)

लोकान्तिक देवों द्वारा 'तीर्थ स्थापन करिए' यह सुनकर प्रभु ने एक हजार वर्ष तक दान दिया। मुनि सुव्रत प्रभु ने विग्रह नीतिविद और नीति रूपी कमल के लिए भ्रमर स्वरूप स्वपुत्र को सिंहासन पर बैठाया। उनका अभिनिष्क्रमण समारोह राजा सुव्रत और देवों ने मिलकर अनुष्ठित किया। एक हजार आदमी वहन कर सके ऐसी अपराजिता नामक शिविका में बैठकर प्रभु नीलगुहा नामक उद्यान में गए। वह उद्यान आम्रवृक्षों से सुशोभित था। उन वृक्षों की मंजरियाँ दन्तपंक्ति व किसलय जिह्वा-सी लग रही थी। हवा से झर कर इधर-उधर उड़ते सूखे पत्रों का मर्मर वसन्त के आगमन की सूचना दे रहा था। सिन्धुवार पुष्पों के सम्भार से लज्जित हुए युथी पुष्प म्रियमाण हो गए थे। शीतलता व सुगन्ध से सोमराज पुष्प सबके मन को हरण कर रहे थे। (श्लोक १४७-१५३)

फाल्गुन मास की शुक्ला द्वादशी को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में अवस्थित था प्रभु ने एक हजार राजाओं सहित दो दिनों के उपवास के पश्चात दीक्षाग्रहण कर ली। दूसरे दिन सुबह राजगृह के राजा ब्रह्मदत्त के घर खीर ग्रहण कर उन्होंने बेले का पारणा किया। देवों ने रत्नवर्षादि पाँच दिव्य प्रकट किए और राजा ब्रह्मदत्त ने जहाँ प्रभु खड़े थे वहां रत्न वेदी निर्माण करवायी। निरासक्त सर्व कामवर्जित होकर परिषहों को सहन करते हुए प्रभु ने छद्मस्थ को

भांति ग्यारह महीनों तक विचरण किया। (श्लोक १५४-१५७)

विचरण करते-करते प्रभु उसी नीलगुहा उद्यान में लौटे और चम्पक वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए। फाल्गुन मास की कृष्णा द्वादशी को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में अवस्थित था घाती कर्मों का क्षय हो जाने से केवलज्ञान प्राप्त किया। शक्र व अन्य देवों ने समवसरण की रचना की। उसके बीच में दो सौ धनुष दीर्घ अशोक वृक्ष स्थापित किया। प्रभु ने समवसरण में प्रवेश कर चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा दी और 'नमो तित्थाय' कह कर पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ गए। व्यंतर देवों ने उसके अनुरूप तीन प्रतिमा निर्मित कर तीन ओर रखी। तत्पश्चात् चतुर्विध संघ यथा स्थान अवस्थित हुआ। प्रभु समवसरण में अवस्थित हैं ज्ञात कर राजा सुव्रत वहाँ आए और प्रभु को वन्दना कर शक्र के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु को पुनः नमस्कार कर हाथों को मस्तक पर लगाकर शक्र और सुव्रत ने इस प्रकार भक्तिपूर्ण स्तुति की—

(श्लोक १५८-१६४)

आपके चरण दर्शन से ही यह शक्ति उपार्जित हुई है जिससे हम आपका गुणगान कर रहे हैं। जब आप देशना देते हैं तब सूत्ररूपी शावक के लिए मातृरूप आपकी गौस्वरूपा वाणी को हम सम्मानित करते हैं। तेलाक्त पात्र के संसर्ग से जिस भांति शुष्क पात्र भी तैलाक्त हो जाता है उसी भाँति आप की गुणावलियों को जानकर मनुष्य स्वतः ही गुणवान बन जाता है। जो अन्य कामों का परित्याग कर आपके उपदेश को श्रवण करते हैं वे पूर्ण कर्मों से तत्क्षण मुक्त हो जाते हैं। हे देव, पाप रूपी पिशाच फिर उनका कुछ नहीं कर सकता। आपने सभी को अभय दिया है अतः सभी निर्भय हो गए हैं। किन्तु मेरे यहां से चले जाने के पश्चात् आप से जो विच्छेद होगा उसी के भय से मैं भीत हूं। चिरकालीन वैर में अन्य बाह्य शत्रु ही नहीं अन्तःशत्रु भी आपके समक्ष शान्त हो जाते हैं। आपका नाम स्मरण मात्र, जो पृथ्वी की कामना पूर्ण करने में कामधेनु रूप है, मैं जहां भी रहूं वह मेरे साथ रहे।' (श्लोक १६५-१७२)

शक्र और सुव्रत के इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् सब के ज्ञान के लिए प्रभु ने निम्न देशना दी। (श्लोक १७३)

लवण समुद्र से जिस प्रकार अमूल्य रत्न प्राप्त किया जाता है

उसी प्रकार भव समुद्र से बुद्धिमान लोग धर्मरूपी अमूल्य रत्न प्राप्त करते हैं। संयम, सत्य, शुचिता, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभिता दश धर्म हैं। अपने देह की इच्छा से भी रहित, ममत्व वर्जित, सत्कार और अपमान में समदृष्टि, परिषह और उपसर्ग सहन करने में समर्थ, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना युक्त, शीलशील, विनयवान, इन्द्रिय दमनकारी गुरु के प्रति श्रद्धायुक्त एवं जाति कुल सम्पन्न व्यक्तित्व ही यति धर्म का अधिकारी है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सम्यक्त्व के मूल हैं। निम्नलिखित ३५ नियम (मार्गानुसारिता) गृहस्थ धर्म के अनुकूल हैं, यथा—न्याय से उपार्जित धन संग्रह करना, शिष्टाचार की प्रशंसा करना, अनुरूप कुलशील सम्पन्न भिन्न गोत्र में विवाह करना, पाप भीरु होना, देशमान्य नियमों का पालन करना, निन्दा नहीं करना, विशेष कर राजाओं की, घर से निकलने के दरवाजों का घर में अधिक नहीं होना, घर निर्जन में नहीं बनाना, बाजार में भी नहीं बनाना, जहाँ के पास-पड़ौसी सदाचारी हों वहीं बनाना, सत्संग करना, माता-पिता की सेवा करना, जहां उपद्रव होते हों वहाँ वास नहीं करना, निन्दित कर्म नहीं करना, आय के अनुसार व्यय करना, अपने सामर्थ्य के अनुसार वेष भूषा करना, बुद्धि के आठ गुण(१ शुश्रूषा—धर्म ग्रन्थ श्रवण करने की इच्छा, २ श्रवण—धर्म ग्रन्थ श्रवण करना, ३ ग्रहण—शास्त्रार्थ ग्रहण करना, ४ धारण—उसे मन में बसाना, ५ ऊह—उस पर विचार करना, ६ अपोह—जो युक्ति विरुद्ध हो ऐसी प्रवृत्ति नहीं करना, ७ अर्थविज्ञान—ऊहापोह जात संदेह दूर करना, ८ तत्त्वज्ञान —निश्चयपूर्वक जानना), प्रतिदिन धर्म श्रवण करना, अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करना, यथासमय भोजन करना, बिना विरोध के धर्म अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग प्राप्त करना, यथाविधि धनी दरिद्र का निर्विशेष अतिथि-सत्कार करना दुराग्रह नहीं करना, गुणों का पक्षपात करना, देशकाल निषिद्ध कार्य नहीं करना, अपनी शक्ति का ज्ञान रखना, जो व्रतधारी हैं, ज्ञानवृद्ध हैं उनकी पूजा करना, जिन्हें पोषण करना आवश्यक है उनका पोषण करना, दूरदर्शी होना, वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होना, कृतज्ञ होना, लोक प्रिय होना, दयालु और सौम्य होना, दूसरों का उपकारी होना, छह अन्तःशत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मान,

मद और दर्प) के विनाश में तत्पर रहना, इन्द्रियों को वश में रखना। ये सब गुण जिनमें वर्तमान हैं वे ही श्रावक धर्म को ग्रहण करने के अधिकारी हैं। जो व्यक्ति यति धर्म पालन करने में असमर्थ हैं; किन्तु मनुष्य जीवन को सार्थक करना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त श्रावक धर्म अवश्य ग्रहण करना चाहिए। (श्लोक १७४-१९०)

यह देशना सुनकर बहुत से व्यक्तियों ने साधु धर्म ग्रहण किया और अनेकों ने श्रावक धर्म ग्रहण किया। कारण अर्हतों का उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता। प्रभु इन्द्र आदि १८ गणधर हुए। प्रभु की देशना के पश्चात् इन्द्र गणधर ने देशना दी। जब उनकी देशना समाप्त हुई तब शक्र, सुव्रत आदि सभी उन्हें प्रणाम कर स्व-स्व स्थान को चले गए। (श्लोक १९१-१९३)

भगवान के तीर्थ में त्रिनेत्र चतुर्मुख श्वेतवर्ण जटायुक्त वृषभ वाहन वरुण नामक यक्ष उत्पन्न हुए जिनके दाहिनी ओर के चारों हाथों में से एक में बिजोरा नींबू, दूसरे में दण्ड, तीसरे में तीर और चौथे में बरछी थी। बायीं ओर के चारों हाथों में क्रमशः नकुल, अक्षमाला, धनुष और कुठार थे। इसी प्रकार उनके तीर्थ में सिंहासनारूढ़ा शुभ्रवर्णा नरदत्ता नामक यक्षिणी उत्पन्न हुई जिनके दाहिनी ओर के दो हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में था, दूसरे हाथ में अक्षमाला थी एवं दूसरे दोनों हाथों में से एक में बिजोरा नींबू, दूसरे में त्रिशूल था। ये दोनों सुव्रत स्वामी के शासन देव-देवी हुए। (श्लोक १९४-१९७)

उनके द्वारा सेवित होते हुए एवं पर्यटन करते हुए प्रभु भृगुकच्छ नगर में पधारे। राजा जितशत्रु अपने कुलीन अश्व पर आरोहित होकर प्रभु को वन्दना करने गए और उनकी देशना सुनी। उनके उस अश्व ने भी कान खड़े कर प्रभु की देशना सुनी। देशना शेष होने पर गणभृत ने पूछा, 'हे भगवन्, इस समवसरण में किसको धर्मलाभ हुआ ? प्रभु बोले, राजा जितशत्रु के कुलीन अश्व को छोड़कर किसी को भी नहीं हुआ। राजा जितशत्रु ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा, 'हे भगवन्, धर्मग्रहणकारी यह अश्व कौन है ?

(श्लोक १९८-२०३)

प्रभु ने प्रत्युत्तर में कहा—

'पद्मिनीखण्ड नगर में किसी समय जिनधर्म नामक एक व्यक्ति

रहता था। वह श्रावक धर्म का पालन करता था। उसका सागरदत्त नामक एक मित्र था जो कि नगरपालक था। सम्यक् दृष्टि प्राप्त करने के लिए वह जिनधर्म के साथ चैत्यालय जाया करता था। एक दिन उसने एक साधु के मुख से सुना कि जो अर्हत् प्रतिमा का निर्माण करवाता है वह धर्म लाभ कर परभव में मुक्त हो जाता है। यह सुनकर सागरदत्त ने अर्हत् भगवान् की स्वर्ण प्रतिमा निर्मित करवा कर खूब धूमधाम से साधुओं द्वारा उसकी प्रतिष्ठा करवाई।
(श्लोक २०४-२०७)

नगर के बाहर बहुत समय पूर्व बना हुआ एक शिवालय था। उस शिवालय में सागरदत्त शीतकालीन संक्रान्ति में जाता और होम करता। वहां अनेक घी से भरे घड़े रखे हुए थे। उसी घी को लाने के लिए पुजारीगण घड़े खींच-खींचकर बाहर निकालने लगे। घड़ों पर और घड़ों के नीचे बहुत-सी चींटियां एकत्र हो गई थीं। घड़ों को निकालते समय वे जमीन पर गिरने लगीं और पुजारियों के पैरों द्वारा कुचलने लगीं। यह देखकर सागरदत्त करुणावश उन्हें अपने वस्त्रों से दूर हटाने लगा। इससे क्रुद्ध होकर एक पुजारी बोला—'तुमने क्या श्वेत वस्त्रधारी साधुओं से यह शिक्षा प्राप्त की है?' ऐसा कहकर चींटियों को अपने पैरों तले और कुचलने लगा। सागरदत्त हतबुद्धि-सा बना आचार्य का मुख देखने लगा; किन्तु आचार्य ने उस पुजारी को अनुशासित नहीं किया। तब मन ही मन सोचने लगा—'हाय! ये सभी करुणाशून्य हैं। जो ऐसे निष्ठुर हैं उन्हें गुरु कहकर पूजा कैसे की जा सकती है? यज्ञानुष्ठान में पशुबलि देकर ये स्वयं ही नरक में पड़ेंगे।' ऐसा सोचकर आचार्य के आदेश से उन्होंने होमानुष्ठान किया और बिना सम्यक् दृष्टि प्राप्त ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। सागरदत्त स्वभावतः ही उदार और चारित्र सम्पन्न था एवं व्यवसायलब्ध अर्थ सत्कर्म में लगाता था। इसीलिए इसने कुलीन अश्व के रूप में जन्म ग्रहण किया है। मैं इसे बोध देने के लिए ही यहां आया हूं। पूर्व जन्म में अर्हत् प्रतिमा निर्मित करवाकर इसने जो शक्ति प्राप्त की उसी के प्रभाव से मेरी देशना सुनने मात्र से उसे धर्म की प्राप्ति हो गई।'
(श्लोक २०८-२१८)

प्रभु द्वारा इस कहानी को सुनकर सभी उस अश्व की प्रशंसा

करने लगे। राजा ने उस अश्व को मुक्त कर दिया और उससे क्षमा प्रार्थना की। तभी से भृगुकच्छ तीर्थ रूप में परिणत हो गया और अश्वावबोध नाम से प्रसिद्ध हुआ। (श्लोक २१९-२२०)

देशना शेष होने पर प्रभु लोक कल्याण के लिए विभिन्न स्थानों पर विचरण करते हुए एक दिन हस्तिनापुर आए। वहाँ जितशत्रु नामक एक राजा राज्य करते थे। उसी नगरी में एक हजार बणिकों का कार्तिक नामक प्रमुख निवास करता था। कार्तिक जैन श्रावक था। वहां गेरुए वस्त्र धारण करने वाला एक वैष्णव तापस रहता था। वह कई बार एक-एक महीने का उपवास करता। वहां के अधिवासी भी उसकी पूजा करते और महीने के अन्त में अपने घर पारणा करने के लिए भक्ति भाव से आमन्त्रित करते; किन्तु सम्यक् दृष्टि सम्पन्न कार्तिक उसे आमन्त्रित नहीं करता। वह तापस इससे क्रुद्ध होकर सुयोग की प्रतीक्षा करने लगा ताकि कार्तिक को दण्डित किया जा सके। एक दिन राजा जितशत्रु ने तापस को अपने घर पारणा करने के लिए आमन्त्रित किया। तब उस तापस ने राजा से कहा—'कार्तिक सेठ यदि मेरी सेवा करें तो मैं आपके यहां पारणा कर सकता हूं।' राजा बोले—'ठीक है, ऐसा ही होगा।' राजा कार्तिक के घर गए और उससे तापस की सेवा करने को कहा। कार्तिक बोला—'मिथ्यात्वी की सेवा करना मेरे लिए उचित नहीं है फिर भी मैं आपके आदेश से उसकी सेवा करूँगा।' (श्लोक २२१-२२७)

यदि मैं पहले ही दीक्षा ले लेता तो मुझे यह काम नहीं करना पड़ता—ऐसा सोचते हुए कार्तिक सेठ राज-प्रासाद में गए।' कार्तिक जब उसकी सेवा कर रहे थे, वह तापस बार-बार नाक पर अंगुली रगड़कर उसे दिखाते हुए अपनी घृणा प्रदर्शित करने लगा। इस कार्य से कार्तिक को संसार से वैराग्य हो गया। उस तापस की सेवा से अनिच्छुक कार्तिक सेठ ने एक हजार बणिकों के साथ प्रभु से दीक्षा ग्रहण कर ली। तदुपरान्त द्वादशांगी का अध्ययन कर बारह वर्षों तक महाव्रतों का पालन कर मृत्यु के पश्चात् वह सौधर्म देवलोक में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। तापस भी मृत्यु के पश्चात् अभियोगिक कर्म के कारण उसी इन्द्र का वाहन ऐरावत के रूप में सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। इन्द्र

को देखते ही वह कुपित होकर दूर भाग जाता; किन्तु इन्द्र बलपूर्वक उसको पकड़कर उस पर चढ़ते। कारण वे उसके स्वामी थे। तब उसने द्विमस्तक धारण किया। शक्र भी द्विमस्तक हो गए। ऐरावत जितने मस्तक बढ़ाने लगा। इन्द्र भी उतने ही मस्तक बढ़ाने लगे। पूर्व जन्म के वैर के कारण वह फिर भी भागने लगा। अन्ततः इन्द्र ने अपने वज्र द्वारा आहत कर उसे वश में किया।

(श्लोक २२८-२३६)

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ग्यारह मास कम साढ़े सात हजार वर्षों तक प्रभु सुव्रत स्वामी विचरण करते रहे। भगवान के संघ में ३०००० साधु, ५०००० साध्वियां, ५०० चौदह पूर्वधारी, १८०० अवधिज्ञानी, १५०० मनःपर्यायज्ञानी, १८०० केवलज्ञानी, २००० वैक्रिय लब्धिधारी, १२००० वादी, १७२००० श्रावक और ३५०००० श्राविकाएँ थीं। (श्लोक २३७-२४२)

निर्वाण काल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनियों सहित अनशन ग्रहण कर लिया। एक महीने पश्चात् ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में था प्रभु ने उन हजार मुनियों सहित मोक्ष पद को प्राप्त किया। इन्द्र और देवगण भक्तिवशतः वहां आए और मुनियों का मोक्ष गमन उत्सव यथाविधि सम्पन्न किया। (श्लोक २४३-२४७)

सप्तमसर्ग समाप्त

अष्टम सर्ग

जिनेन्द्र मुनि सुव्रत स्वामी जब पृथ्वी पर विचरण कर रहे थे तब चक्रवर्ती महापद्म ने जन्म ग्रहण किया था। उनका चरित्र यहां विवृत कर रहा हूं। (श्लोक १)

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के अलङ्कार रूप सुकच्छ विजय में श्रीनगर नामक एक नगर था। वहां प्रजापाल नामक एक राजा राज्य करते थे। वे जिस प्रकार प्रजा पुञ्ज के कल्याण में रत थे उसी प्रकार अन्य राजाओं के यश रूपी हंसों को छिन्न-भिन्न करने में मेघ रूप थे। एक दिन आकाश में विद्युत्पात होते देखकर वे संसार से विरक्त हो गए और मुनि समाधिगुप्त से श्रमण दीक्षा ग्रहण कर

ली। दीर्घकाल तक उन्होंने तलवार की धार-से महाव्रतों की रक्षा की और मृत्यु के पश्चात् अच्युत कल्प में इन्द्र रूप में जन्म ग्रहण किया। कारण, सामान्य तप भी व्यर्थ नहीं जाता। (श्लोक २-५)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अमरावती-सा हस्तिनापुर नामक एक नगर था। वहां इक्ष्वाकुवंशीय पद्मोत्तर नामक एक राजा राज्य करते थे। वे पद्मा के निवास रूप पद्मद्रह के कमल तुल्य थे। उनकी पटरानी का नाम था ज्वाला। वे विविध गुणों से उज्ज्वल अन्तःपुर की अलङ्कार तुल्य थीं और रूप में देवियों को भी मात करती थीं। सिंह स्वप्न द्वारा सूचित उनके विष्णुकुमार नामक प्रथम पुत्र ने जन्म ग्रहण किया। रूप में वे तरुण देवतुल्य थे। (श्लोक ६-९)

प्रजापाल का जीव अच्युत देवलोक का आयुष्य पूर्ण होने पर वहां से च्युत होकर रानी ज्वाला के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। चौदह महास्वप्नों द्वारा सूचित होकर ज्वाला रानी ने द्वितीय पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम महापद्म रखा गया। वह समस्त श्री का निवास रूप था। दोनों भाई क्रमशः बड़े हुए और गुरु से समस्त कला की शिक्षा ली। महापद्म चक्रवर्ती राजा होगा जानकर राजा ने उन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त किया। (श्लोक १०-१३)

उसी समय उज्जयिनी नगर में श्रीवर्मा नामक एक राजा राज्य करते थे। उनके नमूची नामक एक मन्त्री था। एक बार मुनि सुव्रत स्वामी के शिष्य आचार्य सुव्रत वहां आए। प्रासाद के ऊँचे झरोखे से राजा श्रीवर्मा ने नगरवासियों को बड़े धूमधाम से वे जहां अवस्थित थे उधर जाते देखकर नमूची से पूछा—'महा धूमधाम से ये नगरवासी कहां जा रहे हैं?' नमूची ने उत्तर दिया—'कुछ मुनि नगर के बाहरी उद्यान में अवस्थित हैं, ये सब उन्हें ही वन्दना करने और उनका उपदेश सुनने जा रहे हैं।' राजा का मन था स्वच्छ और निर्मल। अतः वे बोले—'चलो, हम भी चलें।' नमूची ने कहा—'आप यदि धर्म श्रवण करना चाहते हैं तो मैं ही आपको धर्म सुनाऊँ।' राजा ने कहा—'फिर भी मैं वहां जाऊँगा।' तब नमूची बोला—'आप वहां तटस्थ रहिएगा। मैं बाद में उन्हें परास्त और निरुत्तर कर दूँगा। क्योंकि विधर्मियों का मत साधारण जनता में विस्तृत हो रहा है।' (श्लोक १४-२१)

राजा मन्त्री व परिवार सहित आचार्य सुव्रत के पास गए।

वहां नमूची ने उद्धतभाव से पूछा—'धर्म क्या है ?' किन्तु मुनिगण वाद-विवाद न कर चुप रह गए। इससे नमूची और भी कुपित होकर अर्हत् वाणी की निन्दा करते हुए बोला—'तुम लोग क्या जानते हो ? कुछ भी नहीं जानते ?' तब आचार्य सुव्रत क्रुद्ध मन्त्री से बोले—'यदि आप वाद करना चाहते हैं तो आइए हम वाद करें।' तब आचार्य सुव्रत के एक शिष्य बोले—'इसके साथ वाद में प्रवृत्त होना आपको शोभा नहीं देता। यह अपने को महापण्डित समझ रहा है। मैं ही इसे वाद में परास्त कर दूंगा। आप केवल दर्शक बनकर देखें। इस ब्राह्मण को बोलने दीजिए। मैं इसको वाद में निरुत्तर कर दूंगा।' (श्लोक २२-२७)

इससे क्रुद्ध होकर नमूची कर्कश स्वर में बोला—'तुम लोग अपवित्र हो, विधर्मी हो एवं वेद मर्यादा के बाहर हो। तुम लोगों को इस राज्य में रहने का अधिकार नहीं है। यही हमारा पक्ष है। इसके प्रतिपक्ष में तुम क्या कहना चाहते हो ? (श्लोक २८-२९)

शिष्य बोले—'सभी जानते हैं कि जो सम्भोगी होते हैं वे ही अपवित्र होते हैं। जो सम्भोग में निरत हैं वे ही विधर्मी हैं एवं वेद मर्यादा के बाहर हैं। वैदिक सिद्धान्त यह है कि जल के स्थान, हमाम दस्ता, चक्की, चूल्हा और झाड़ू ये पांच गृहस्थों के पापस्थानक हैं, जो इन पांचों स्थानों की नित्य सेवा करते हैं, वे अपवित्र और वेद बाह्य हैं। हम लोग जो कि इन पांचों स्थानों से रहित हैं वे वेद मर्यादा के बाहर कैसे हैं ? हम जैसे निर्दोष महात्माओं का आप जैसे म्लेच्छों के मध्य रहना उचित नहीं है।' (श्लोक ३०-३३)

शिष्य के द्वारा इस प्रकार युक्तिपूर्ण प्रत्युत्तर से पराजित होकर नमूची स्वस्थान को लौट गए। राजा और उनके अनुचर भी लौट गए। आधी रात को नमूची शय्या त्याग कर अत्यधिक क्रोध से प्रज्वलित बना राक्षस की तरह मुनि शिष्य को मारने के लिए उद्यान की ओर गया। सपेरा जिस प्रकार सर्प को स्तम्भित कर देता है उसी प्रकार शासन देवी ने उसे उसी प्रकार देखा—राजा और प्रजा ने भी जब इस अलौकिक घटना को देखा और धर्म श्रवण किया तब वह मद रहित हस्ती की भांति शान्त हो गया।

(श्लोक ३४-३७)

इस प्रकार अपमानित होकर नमूची हस्तिनापुर चला गया।

अभिमानी व्यक्ति अपमानित होने पर विदेश में ही आश्रय लेते हैं। युवराज महापद्म ने उसे प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया।

(श्लोक ३८-३९)

महाबल के राज्य सीमान्त में सिंहबल नामक एक राजा राज्य करते थे। जिस प्रकार आकाश में अवस्थान करने के कारण राक्षस शक्तिशाली होते हैं उसी प्रकार सुदृढ़ दुर्ग में अवस्थान करने के कारण वे शक्तिशाली थे। वे बार-बार महापद्म के राज्य पर आक्रमण कर स्वदुर्ग को लौट आते थे; किन्तु कोई उन्हें न पकड़ पाता न पराजित कर पाता। महापद्म ने एक दिन नमूची से कहा—'सिंहबल को पकड़ने का क्या आप कोई उपाय जानते हैं?' नमूची ने उत्तर दिया—'युवराज मैं जानता हूं पर यह कैसे कहूं? तब तो घर में बैठा मैं गर्व कर रहा हूं यही अपवाद मेरे नाम के साथ जुड़ जाएगा। स्व-कौशल का प्रयोग कर परिणाम दिखाकर मैं आपको प्रश्न का उत्तर दूँगा। जो विज्ञ होते हैं वे भी कौशल के विषय में कुछ कहने की इच्छा नहीं करते।' (श्लोक ४०-४४)

महापद्म यह बात सुनकर आनन्दित हुए और नमूची को आदेश दिया। नमूची तत्क्षण चक्रवात की तरह सिंहबल के दुर्ग के पास गया और कौशल का प्रयोग कर दुर्ग में प्रविष्ट हुआ। सिंह जिस प्रकार हरिण को पकड़ता है उसी प्रकार उसने सिंहबल को पकड़कर महापद्म के सम्मुख उपस्थित किया। महापद्म ने प्रसन्न होकर नमूची से वर माँगने को कहा। नमूची ने उत्तर दिया—'मैं यथासमय इस वर को मांगूंगा।' उद्देश्यपूर्ण होने से महापद्म नमूची सहित युवराज की भाँति राजकार्य देखने लगे।

(श्लोक ४५-४८)

महापद्म की माँ ने संसार समुद्र को अतिक्रमण करने के लिए कर्णधार की भाँति अर्हत्बिम्ब के लिए एक रथ निर्मित करवाया। उसके विरुद्धाचरण के लिए मिथ्यामतावलम्बिनी उनकी सौतेली माँ लक्ष्मी ने ब्रह्मा के लिए एक रथ बनवाया और राजा से बोली—'नगर में पहले ब्रह्मा का रथ निकलेगा, उसके बाद अर्हत् का।' ज्वाला बोली—'यदि अर्हत् का रथ प्रथम बाहर नहीं निकला तो वह अनशन ग्रहण कर लेगी।' इसी स्थिति में राजा ने दोनों ही रथों का निकलना बन्द करवा दिया। निरपेक्ष व्यक्ति इसके

अतिरिक्त और क्या कर सकता है ? माँ के दुःख से क्षुब्ध होकर महापद्म रात्रि के समय जबकि समस्त नगर सोया हुआ था हस्तिनापुर का परित्याग कर अन्यत्र चले गए। इधर-उधर जाते हुए उन्होंने एक महारण्य में प्रवेश किया। वहां उन्हें एक आश्रम दिखलाई पड़ा। वहाँ के अतिथि-वत्सल तपस्वियों द्वारा सत्कृत होकर महापद्म उसी आश्रम में घर की तरह रहने लगे।

(श्लोक ४९-५६)

राजा काल ने चम्पानगरी पर आक्रमण किया। फलतः चम्पा के राजा जन्मेजय पराजित हो गए। नगरी की सुरक्षा भंग हो गई। दावानल में हरिणियाँ जिस प्रकार दिग्भ्रमित ज्ञानहीन होकर दौड़ती हैं उसी प्रकार अन्तःपुरिकाएँ भी जिसको जिधर जगह मिली, भाग छूटीं। चम्पा की रानी नागवती ने अपनी कन्या मदनावली को लिए उस आश्रम में आश्रय ग्रहण किया। पद्म और मदनावली ने काम के वशीभूत होकर एक दूसरे को देखा और एक दूसरे के प्रति आसक्त हो गए। मदनावली को प्रेमासक्त देखकर उसकी माँ बोली—'यह क्या ? इतनी चंचल क्यों हो गई हो ? तुम चक्रवर्ती राजा की पत्नी बनोगी। भविष्यवक्ता का वह कथन स्मरण करो। अतः जिस किसी के प्रेम में पड़ना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। संयम रखो। यथासमय चक्रवर्ती के साथ तुम्हारा विवाह होगा।'

(श्लोक ५७-६३)

राज कन्या का अमङ्गल हो सकता है सोचकर कुलपति ने महापद्म को बुलवाया और बोले—'पुत्र, तुम जहाँ से आए हो वहीं लौट जाओ। तुम्हारा कल्याण हो।' (श्लोक ६४)

यह सुनकर महापद्म सोचने लगे एक समय में दो चक्रवर्ती नहीं होते। जब मैं ही भविष्य में चक्रवर्ती बनूँगा तब तो यह मेरी ही पत्नी है—ऐसा सोचकर महापद्म उस आश्रम का परित्याग कर निकल गए और घूमते हुए सिन्धुसदन नगर में पहुंचे। उस समय उस नगर में वसन्तोत्सव हो रहा था। इसलिए उस नगर की स्त्रियाँ बाहरी उद्यान में एकत्र होकर नाना प्रकार की क्रीड़ा कर कामदेव की उपासना कर रही थीं। उनका कोलाहल सुनकर राजा महासेन के हाथी ने कदली वृक्ष की तरह आलान स्तम्भ को उखाड़ डाला। पीठ पर बैठे दोनों आरोही को बिछावन की धूल

की तरह झाड़ फेंका। हवा भी मानो उसका स्पर्श नहीं कर रही है इस प्रकार द्रुतगति से वह वहां पहुंचा जहां नगरवासी क्रीड़ा कर रहे थे। महावत लोग दूर से कुछ भी नहीं कर सके। लड़कियां मारे भय के भाग भी नहीं सकीं। जहां खड़ी थीं वहीं स्तम्भित-सी मकर द्वारा आकृष्ट हंसनियां जिस प्रकार चीत्कार करती हैं उसी प्रकार चिल्लाने लगीं। उनका चीत्कार सुनकर महापद्म करुणा के वशीभूत होकर हाथी जिस ओर भागा उसी ओर दौड़े और उसकी भर्त्सना करते हुए बोले—'अरे ओ मदोन्मत्त हाथी, तू इधर देख।' वह क्रुद्ध हाथी पदाघात से विदीर्ण पृथ्वी को बारम्बार कम्पित करता हुआ महापद्म की ओर मुड़ा। तभी वे लड़कियां बोल उठीं—'हमें बचाने के लिए किसी महामना ने यम के मुख में जाने की भांति स्वयं को हस्ती के सामने डाल दिया है।' जैसे ही वह दुष्ट हाथी उनके सम्मुख आकर समीप खड़ा हुआ, उन्होंने अपना उत्तरीय उतार कर आकाश में उछाल दिया। कभी-कभी छलना भी लाभ-जनक हो जाती है। उनके उस उत्तरीय को ही मनुष्य समझकर हाथी उसको छिन्न-भिन्न करने लगा। क्रोध सभी को अन्धा कर देता है। फिर जब वह क्रोध एवं अहंकार से युक्त हो जाता है तब तो उसमें सौगुणी वृद्धि हो जाती है। (श्लोक ६५-७६)

उच्च कोलाहल सुनकर तब तक उस नगर के लोग वहां आ पहुंचे। सामन्त और सेनापति से परिवृत्त महाराज महासेन भी वहां उपस्थित हो गए थे। महासेन ने महापद्म को पुकार कर कहा—'हे साहसी युवक, शीघ्र वहां से भाग जाओ। इस क्रुद्ध हाथी द्वारा मृत्यु प्राप्त कर क्या लाभ?' महापद्म ने प्रत्युत्तर दिया—महाराज, यह आप कह सकते हैं; किन्तु मैंने जिस काम को हाथ में लिया है उसे बीच में ही छोड़ देना मेरे लिए लज्जास्पद है। आप देखें मैं किस प्रकार इस दुष्ट हाथी को वश में करता हूं। देखकर लगेगा मानो जन्म से लेकर आज तक वह कभी उन्मत्त हुआ ही नहीं। दया के वशीभूत आप भय को प्रश्रय मत दीजिए।'

(श्लोक ७७-८०)

हाथी ने जैसे ही उस वस्त्र को छिन्न करने के लिए माथा नीचे किया, महापद्म ने उसी क्षण मुष्टि द्वारा उसके मस्तक पर वार किया। जब हाथी ने उन्हें पकड़ने के लिए माथा ऊँचा किया, वे

विद्युद्गति से उसकी पीठ पर जा बैठे। कभी सामने, कभी बगल में विभिन्न स्थानों से हटते हुए, कभी गण्डुकासनादि से स्वयं को बचाते हुए वे उस हाथी पर मुष्टि-प्रहार करने लगे। कभी-कभी कुम्भ पर थप्पड़ मारकर, कभी कानों पर घूंसा लगाते हुए, कभी पीठ पर लात जमाकर उसे विधृत करने लगे। लोग आश्चर्य से उन्हें देखने लगे और वाह-वाह करने लगे। राजा ने उसके वीरत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की। महावतों में अग्रगण्य वे युवराज पहले उस हाथी को अपनी इच्छानुसार चलाने लगे। फिर उससे खेल का प्रदर्शन करवाया मानो वह अब भी बच्चा ही है। फिर वे उस हाथी को चलाकर दूसरे हाथी के समीप ले गए और इस हाथी को उस हाथी के महावत के हाथ में देकर उस हाथी की पीठ पर पांव रख कर नीचे उतर आए। (श्लोक ८१-८७)

महापद्म के सौन्दर्य और शक्ति से राजा ने अनुमान लगाया, यह युवक निश्चय ही उच्चकुल-जात है। अतः वे महापद्म को साथ लेकर राजमहल लौटे और अपनी एक सौ कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया। बहुत बड़े पुण्य से ही ऐसा वर घर बैठे प्राप्त होता है। यद्यपि महापद्म उन राजकन्याओं के साथ दिन-रात सुख भोग कर रहे थे फिर भी मदनावली की स्मृति उन्हें कांटे की तरह बींध रही थी। (श्लोक ८८-९०)

एक दिन जबकि वे हंस जैसे कमल पर सोया रहता है उसी प्रकार सुख-शय्या पर सो रहे थे तभी वेगवती नामक एक विद्याधरी वायु की भांति द्रुतगति से उनका अपहरण कर उन्हें ले जाने लगी। 'अरी, ओ मेरी नींद भंग करने वाली, तुम मुझे अपहरण कर कहां ले जा रही हो?' कहते हुए कुमार ने अपनी वज्र की भांति कठोर मुष्टि उत्तोलित की। वेगवती बोली—'हे बलशाली, क्रुद्ध मत होइए। शान्त होकर सुनिए। वैताढ्य पर्वत पर सुरोदय नामक एक नगर है। विद्याधरपति इन्द्रधनु वहां के राजा हैं। उनकी रानी का नाम श्रीकान्ता है। उनके जयचन्द्रा नामक एक कन्या है। उसके उपयुक्त वर न मिलने के कारण वह पुरुष विद्वेषिणी हो गई है। पति के बिना स्त्री जीवित ही मृत है। इसलिए मैंने भरतक्षेत्र के राजाओं का चित्र अंकित कर उसे दिखाया; किन्तु उसने उनमें से किसी को पसन्द नहीं किया। (श्लोक ९१-९६)

'एक दिन मैंने उसे आपका चित्र अङ्कित कर दिखाया। आपका चित्र देखते ही वह काम के वशीभूत हो गई। पहले जो पुरुष विद्वेषिणी थी अब वह जीवन विद्वेषिणी हो गई है। कारण, पति रूप में आपको पाना बहुत कठिन है। वह मुझसे बोली— 'पद्मोत्तर के पुत्र महापद्म ही मेरे स्वामी होंगे। नहीं तो मैं अग्नि में प्रवेश करूँगी।' जयचन्द्रा आपसे प्रेम करती है यह बात मैंने उसके माता-पिता से कही। उनकी कन्या ने उपयुक्त पात्र खोज लिया है, जानकर वे आनन्दित हुए। देव, मेरा नाम वेगवती है। महाविद्या की अधिकारिणी होने के कारण उन्होंने मुझे आपको लाने के लिए भेजा है। आपके प्रेम में पड़ी जयचन्द्रा को आश्वस्त करने के लिए मैंने कहा है, तुम्हारे हृदय कमल के लिए सूर्य समान महापद्म को या तो मैं लेकर आऊँगी नहीं तो अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगी। तुम शान्त हो जाओ। इस प्रकार उसको शान्त कर मैं यहाँ आई हूं और उसके जीवन सुख के लिए अमृत रूप आपको वहां ले जा रही हूं। आप मुझ पर दया करें। क्रुद्ध न हों।' महापद्म के सहमत होने पर वेगवती उन्हें अभियोगिक देव जिस गति से अपना रथ दौड़ाते हैं उस गति से सुरोदय नगर में ले गई। प्रभात का सूर्य जैसे पूजित होता है उसी भांति इन्द्रधनु द्वारा पूजित होकर महापद्म ने चन्द्र ने जैसे रोहिणी से विवाह कर लिया था उसी प्रकार जयचन्द्रा से विवाह कर लिया। (श्लोक ९७-१०६)

जयचन्द्रा के अनेक विद्याओं के अधिकारी गंगाधर और महीधर नामक दो भाई थे। विद्या और स्वबल के अहंकार में मत्त जब उन्होंने इस विवाह की बात सुनी तो क्रुद्ध हो उठे। एक ही वस्तु को जब अनेक चाहने लगते हैं तब वह महायुद्ध का कारण हो जाती है। वे लोग अपनी सेना लेकर महापद्म के साथ युद्ध करने सुरोदय नगरी आए। असीम शक्ति के धारक महापद्म सामान्य विद्याधरों की सेना लेकर उनसे निश्छल युद्ध करने नगर परित्याग कर वहां पहुंचे। विपक्ष की सेना में किसी को भयभीत कर, किसी को आहत कर, किसी को पददलित कर सिंह जैसे हस्ती को पराजित करता है उसी प्रकार सहज ही उन्होंने उनकी सेना को हरा दिया। गंगाधर और महीधर ने जब अपनी सेना को पराजित होते देखा तब अपने प्राण बचा कर भागे। (श्लोक १०७-११२)

कालान्तर में महापद्म के यहां चक्ररत्नादि उत्पन्न हुए। महाबलवान उन्होंने छह खण्ड भरत क्षेत्र को जीत लिया। शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी के चन्द्र की तरह प्रायः पूर्ण होने पर भी जैसे उसमें एक कला का अभाव रहता है उसी प्रकार चक्रवर्ती का समस्त वैभव प्राप्त कर भी उन्हें स्त्रीरत्न का अभाव था। स्त्रीरत्न लक्ष्मीदेवी को जिसे पूर्व ही उन्होंने देखा था स्मरण कर आश्रम पद में तुरन्त गए। आश्रमवासियों ने उनका आदर किया और मदनावली के पिता जन्मेजय ने जो कि घूमते हुए वहीं आ पहुंचे थे, उन्हें अपनी कन्या दान कर दी। (श्लोक ११३-११६)

चक्रवर्ती का पूर्ण वैभव लेकर महापद्म हस्तिनापुर लौट आए और आनन्दमना होकर पहले की तरह माता-पिता को प्रणाम किया। वे भी उनको पाकर बहुत प्रसन्न हुए। कानों के लिए अमृत तुल्य पुत्र के असीम साहसिक कार्यों को सुनकर वे जलसिंचित वृक्ष की भांति उत्फुल्ल हो उठे। (श्लोक ११७-११८)

मुनि सुव्रत स्वामी द्वारा दीक्षित आचार्य सुव्रत विचरण करते हुए एक दिन हस्तिनापुर आ पहुंचे। राजा पद्मोत्तर अनुचरों सहित उन्हें वन्दना करने गए। वन्दना करने के पश्चात् संसार विरक्ति की जननी रूपा उनकी देशना सुनी। राजा ने आचार्य से कहा—'पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर जब तक मैं नहीं लौटूं तब तक आप यहीं अवस्थान करें।' 'शुभ कार्य में विलम्ब मत करो' आचार्य श्री का यह कथन सुनकर उन्हें पुनः वन्दना कर राजा नगर में लौट आए और राज्य के प्रधान पुरुष मन्त्रीगण और सामन्तादि को बुलाकर विष्णुकुमार से बोले— (श्लोक ११९-१२३)

'पुत्र, सांसारिक जीवन दुःखों का सागर है। रोग के साथ-साथ हानिकारक कुपथ्य की इच्छा जैसे बढ़ती रहती है वैसे ही सांसारिक जीवों की भी प्रतिकार्य के साथ कार्य की इच्छा बढ़ती जाती है। मेरे सौभाग्य से आचार्य सुव्रत संसार पतित मुझे उसी प्रकार हाथ बढ़ाकर सहारा देने आए हैं जिस प्रकार कुएँ के नजदीक जाते हुए अन्धे की सहायता को हाथ बढ़ा दिया जाता है। अतः आज मैं तुम्हें सिंहासन पर बैठाकर और निश्चिन्त होकर आचार्य सुव्रत से दीक्षा ग्रहण करूँगा।' (श्लोक १२४-१२६)

विष्णुकुमार बोले—'पिताजी, मुझे राज्य से कोई प्रयोजन

नहीं है। मैं भी आपके साथ ही दीक्षा लेकर आपके पथ पर ही चलूँगा।' तब पद्मोत्तर ने महापद्म को बुलवाया और बोले—'पुत्र, तुम सिंहासन ग्रहण करो ताकि मैं दीक्षा ले सकूँ।' तब महापद्म करबद्ध होकर बोले—'पिताजी, आपके समतुल्य अग्रज विष्णुकुमार के रहते मेरा राज्य ग्रहण करना अनुचित है। राज्यशासन में समर्थ अग्रज विष्णुकुमार को ही आप राज्यभार दें। मैं उनके अनुचर की भाँति युवराज पद ग्रहण करूँगा।' राजा बोले—'मैं तो विष्णुकुमार को ही राज्य देना चाहता था; किन्तु वह राज्य नहीं चाहता, वह तो मेरे साथ दीक्षा लेने को तत्पर है।' (श्लोक १२७-१३१)

महापद्म निरुत्तर हो गए। तब राजा पद्मोत्तर ने उन्हें सिंहासन पर बैठाया। साथ ही साथ चक्रवर्ती रूप में भी उनका अभिषेक हुआ। राजा पद्मोत्तर और विष्णुकुमार का अभिनिष्क्रमण उत्सव महापद्म द्वारा सम्पन्न होने पर वे दोनों आचार्य सुव्रत के पास जाकर दीक्षित हो गए। (श्लोक १३२-१३३)

महापद्म ने अर्हत बिम्ब सहित माँ का रथ नगर के बाहर निकाला। उनके शासन की तरह सभी ने उस बिम्ब का पूजन किया। रथ यात्रा के समय पद्मोत्तर और अन्यान्य साधुओं सहित आचार्य सुव्रत वहाँ उपस्थित थे। चारित्र सम्पन्न महापद्म ने अपने परिवार के साथ जिन-शासन की प्रभावना की। उन्होंने नगर ग्राम खान एवं पत्तन में कोटि-कोटि रुपए व्यय कर इतने विशाल जिनालय बनवाए मानों पहाड़ ही उठ खड़े हुए हों।
(श्लोक १३४-१३७)

गुरु के साथ विचरण एवं महाव्रतों का सद्रूप में पालन करते हुए मुनि पद्मोत्तर ने केवलज्ञान प्राप्त किया और उसका फल मोक्ष भी। मुनि विष्णुकुमार ने भी उग्र तपश्चर्या कर बहुत-सी लब्धियाँ प्राप्त कर ली। वे मेरु की तरह ऊँचा बनना, गरुड़ की तरह आकाश पथ से जाना, देवों की तरह रूप परिवर्तन कर लेना, कामदेव-सा सुन्दर रूप धारण करना, भाँति-भाँति के आकार धारण करना आदि-आदि लब्धियाँ प्राप्त हो जाने पर भी वे उसका प्रयोग नहीं करते थे। कारण साधुओं को भला इन लब्धियों से क्या प्रयोजन? (श्लोक १३८-१४१)

चातुर्मास के लिए एक दिन आचार्य सुव्रत शिष्यों सहित

हस्तिनापुर आए। मन्त्री नमूची को जब ज्ञात हुआ कि आचार्य आए हैं तो पूर्व वैर का बदला लेने के लिए महापद्म को जाकर बोला—'आप मुझे जो वर देना चाह रहे थे वह आज दीजिए।' आर्यों द्वारा दी गई प्रतिश्रुति बन्धक रखे धन की तरह सुरक्षित रहती है। राजा बोले—'बोलिए मन्त्रीवर, आपको क्या वर दूं?' नमूची बोला—'मैं एक यज्ञ करना चाहता हूं वह यज्ञ जब तक समाप्त नहीं हो जाता है तब तक आपका राज्य मुझे दें।' प्रतिश्रुति की रक्षा के लिए महापद्म ने नमूची को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं अन्तःपुर में चले गए। (श्लोक १४२-१४५)

नमूची नगर का परित्याग कर यज्ञस्थली पर गया और स्वयं को यजमान एवं राजा रूप में प्रतिष्ठित किया; किन्तु उनके मन में मायाचार था। बगुला भगत की तरह वह भीतर से कुछ और था बाहर से कुछ और। उस उत्सव में समस्त प्रजाजन आए। सुव्रत सूरि के श्वेत भिक्षुओं को छोड़कर सभी धर्म सम्प्रदायों के तापस आए। नमूची ने मन ही मन सोचा मेरे प्रति विद्वेष भाव रखने के कारण ही श्वेत साधु नहीं आए। असत् भावना के कारण नमूची इसी बहाने विवाद खड़ा कर सुव्रत मुनि के पास गया और कटूक्ति करता हुआ बोला—'चाहे राजा कोई भी हो तपस्वी और साधुओं को उनके पास जाना चाहिए। क्यों कि वे जिस उद्यान और वाटिका में तपस्या करते हैं उसका रक्षक राजा होता है। इस प्रकार वह तपश्चरण के छठे भाग का अधिकारी है; किन्तु तुम अधम धर्मद्वेषी एवं मेरे निन्दक हो। साथ ही राज्य और जनगण के विरोधी हो। अतः अब इस राज्य में अवस्थित नहीं रह सकते। अन्यत्र चले जाओ। तुम्हारा जो कोई भी यहां रहेगा मैं उसकी हत्या करूँगा।' (श्लोक १४६-१५१)

आचार्य सुव्रत बोले—'हम आपके राज्याभिषेक पर इसलिए नहीं गए कि यह हमारे आचार और मर्यादा के विरुद्ध है। हमारे मन में आपके लिए या किसी अन्य के लिए कोई भी दुर्भावना नहीं है।' (श्लोक १५२-१५३)

क्रुद्ध नमूची ने प्रत्युत्तर दिया—'मैं कोई बात सुनना नहीं चाहता। मैं आपको सात दिनों का समय देता हूं। इसके पश्चात् जो यहां रहेगा उसे वही दण्ड दिया जाएगा जो एक दस्यु को दिया

जाता है।' ऐसा कहकर नमूची स्वगृह चला गया।

(श्लोक १५४-१५५)

आचार्य सुव्रत मुनियों से बोले—'ऐसी स्थिति में अब हम लोगों को क्या करना चाहिए? तुम लोगों का क्या अभिमत है?'

(श्लोक १५६)

एक साधु बोले—'विष्णुकुमार ने छह हजार वर्षों तक तपस्या की है। वे अभी मन्दार पहाड़ पर हैं। वे राजा महापद्म के अग्रज हैं। उनके आदेश से नमूची शान्त हो जाएगा। कारण, वे नमूची और महापद्म के भी स्वामी हैं। अतः जो आकाशगामिनी लब्धि के अधिकारी हैं वे वहां जाकर उन्हें ले आएं। संघ के कार्य के लिए लब्धि का व्यवहार अनुचित नहीं है।' (श्लोक १५७-१५९)

एक साधु बोले—'मैं आकाश-पथ से वहां जा सकता हूं; किन्तु लौट नहीं सकता। आप बताएं मैं क्या करूं?' गुरु बोले—'विष्णुकुमार निश्चय ही तुम्हें ले आएंगे। इस प्रकार आश्वस्त होकर वह शिष्य गरुड़ की तरह आकाश पथ से क्षण भर में विष्णुकुमार के पास जाकर उपस्थित हो गया। विष्णुकुमार उन्हें देखकर मन ही मन सोचने लगे—मुनि का इतना शीघ्रता से आना संघ के किसी विशेष कार्य को सूचित कर रहा है। अन्यथा चातुर्मास के समय साधु का विहार निषिद्ध है। फिर वे लब्धि का भी इस प्रकार प्रयोग नहीं करते। विष्णुकुमार ऐसा सोच ही रहे थे कि वे साधु उनके निकट गए, उन्हें वन्दना की और अपने आने का कारण बताया। सब कुछ सुनकर विष्णुकुमार क्षणमात्र में ही हस्तिनापुर आए और अपने गुरु को वन्दना की। तदुपरान्त साधुओं द्वारा परिवृत होकर वे नमूची की राजसभा में गए। नमूची के अतिरिक्त अन्य सभी राजाओं ने उन्हें वन्दन किया। (श्लोक १६०-१६६)

सबको धर्म लाभ देकर विष्णुकुमार धीरकण्ठ से बोले—'राजन्, वर्षा का समय है अतः अभी इन मुनियों को आप यहीं रहने दें। ये स्वयं ही एक स्थान पर अधिक दिन नहीं रहेंगे। अभी वर्षाकाल है। अत्यधिक जीवोत्पत्ति होने के कारण अन्यत्र विहार नहीं कर सकते। हम लोगों जैसे भिक्षाजीवियों का इस बृहत् नगर में रहने से आपकी क्या क्षति हो सकती है? भरत, आदित्य, सोम आदि सभी राजाओं ने साधुओं का सम्मान किया

है। आप यदि ऐसा नहीं कर सकते हैं तो मात्र चार मास वर्षा तक उन्हें यहीं रहने दें।' (श्लोक १६७-१७०)

नमूची विष्णुकुमार का यह कथन सुनकर कर्कश स्वर में बोला—'व्यर्थ बातें करने से कोई लाभ नहीं है। मैं तुम लोगों को यहां रहने नहीं दूँगा।' (श्लोक १७२)

सामर्थ्य होने पर भी विष्णुकुमार शान्त स्वर में बोले—'ठीक है तब उन्हें नगर के बाहर उद्यान में ही रहने दें, वे नगर में प्रवेश नहीं करेंगे।' स्वयं को मन्त्री रूप में अभिहित करने वाला नमूची महामुनि को क्रुद्ध कण्ठ से बोला—'मैं तुमलोगों की गन्ध भी सहन नहीं कर सकता, रहने देना तो दूर की बात है। दस्यु जैसे सदाचारहीन श्वेत वस्त्रधारी गण न नगर में रह सकते हैं न नगर के बाहर।' यदि स्वयं का जीवन तुमलोगों को प्रिय है तो शीघ्र इस स्थान का परित्याग करो। यदि ऐसा नहीं किया तो गरुड़ जैसे सर्प की हत्या करता है मैं भी उसी प्रकार तुम्हारी हत्या करूँगा।' (श्लोक १७२-१७५)

आहुति देने से अग्नि जैसे प्रज्वलित हो जाती है—विष्णुकुमार भी नमूची के कथन पर उसी प्रकार प्रज्वलित हो उठे। बोले, 'तब आप मुझे यहाँ पर त्रिपाद (तीन पैर भर) भूमि दीजिए। प्रत्युत्तर में नमूची ने कहा—'मैंने तुम्हें त्रिपाद भूमि दी; किन्तु जो इस त्रिपाद भूमि के बाहर आएगा उसकी मैं हत्या करूँगा।' 'तब दीजिए' कहकर विष्णुकुमार बढ़ने लगे। मस्तक पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में माला, हाथ में धनुष, वज्र और खड्ग धारण कर ली। मारे भय के खेचर चिल्लाते हुए जीर्ण पत्रों की तरह जमीन पर गिरने लगे। पदाघात से कमलपत्र जैसे कम्पित होता है उसी प्रकार पृथ्वी कांपने लगी। प्रलयकालीन पवन से जैसे समुद्र उत्क्षिप्त हो जाता है उसी प्रकार समुद्र उत्क्षिप्त हो गया। बाधा पाकर नदियाँ विपरीत दिशा में प्रवाहित होने लगी। सामान्य ढेले की तरह नक्षत्र पुंज इधर-उधर बिखरने लगे। बड़े-बड़े पर्वत वल्मीक की भाँति टूट-टूट कर गिरने लगे। प्रदीप्त विष्णुकुमार विशाल होते-होते विभिन्न आकार धारण कर सुरासुर सबको भयभीत करते हुए मेरु पर्वत की उच्चता को प्राप्त हो गए।

(श्लोक १७६-१८२)

त्रिभुवन में कोलाहल होते देख इन्द्र ने उन्हें शान्त करने के लिए गायिका देवियों को उनके पास भेजा। वे लोग उनके कानों में जिनवाणी के अनुरूप गीत गांधार राग में अनवरत गाने लगीं जिसका भावार्थ था—'क्रोध ही समस्त अनर्थ की जड़ है। क्रोध में मनुष्य भूल जाता है कि उसका कल्याण किसमें है। मृत्यु के पश्चात् असह्य वेदना वाले नरक में वह जाता है।' इस प्रकार गाकर किन्नर कन्याएँ उनका क्रोध शान्त करने के लिए उनके सन्मुख नृत्य करने लगीं। विष्णुकुमार ने नमूची को जमीन पर पटक कर—उनके चरण कमलों की जय हो, एक पांव पूर्व समुद्र के किनारे और दूसरा पाँव पश्चिम समुद्र के किनारे रखा।

(श्लोक १८३-१८७)

महापद्म ने जब यह बात सुनी तब वह अपने प्रमाद और मंत्री के अपराध से भयभीत बने तुरन्त वहाँ उपस्थित हुए। अग्रज को भक्ति भाव से वन्दना करते हुए अश्रुजल से उनके चरण कमलों को सिंचित कर बोले— (श्लोक १९८-१९९)

'हे प्रभु आज ही मुझे पिता श्री पद्मोत्तर की याद आ रही थी जिनमें अनन्त गुण थे। उनकी जय हो। मैं तो जान ही नहीं पाया कि मेरा दुष्ट मन्त्री पवित्र संघ पर अत्याचार कर रहा है। फिर भी दोषी मैं ही हूं क्योंकि ऐसा दुष्ट मेरा भृत्य है। भृत्य के अपराध के लिए नीति शास्त्र में कहा है—उसमें प्रभु का भी अपराध है। मैं तो आपका भृत्य हूं। कारण, मेरे प्रभु तो आप ही हैं। अतः मेरा अपराध आपको भी लगेगा। आप क्रोध संवरण करें। उस दुष्ट के अपराध से तीनों लोक प्राण भय से भयभीत है। हे महामुनि, हे दयानिधि, आप जिन्हें त्रासित कर रहे हैं उन्हें आश्वस्त करिए।' (श्लोक १८०-१८४)

इस प्रकार नानाविध स्तुति कर राजन्य, देव, असुर और चतुर्विध संघ ने मुनि को शान्त किया। उन्होंने तो वह उच्चता प्राप्त की थी जहां मनुष्य का कण्ठ स्वर नहीं पहुंच सकता अतः वे उनकी स्तुति सुन नहीं सके थे; किन्तु जब भक्ति भाव से उन्होंने चरण स्पर्श किया तो मुनि ने नीचे की ओर देखा। तो उनके सम्मुख उनका भाई, चतुर्विध संघ,

देवता, असुर और राजन्यों को खड़े पाया। तब वे सोचने लगे—
(श्लोक १९५-१९७)

यह पवित्र संघ दयाप्रार्थी है, मेरा भाई दुःखी है, ये सब एक साथ मिलकर मेरा क्रोध शान्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। संघ का सम्मान करना मेरा कर्तव्य है, पद्म को आश्वस्त करना प्रयोजनीय है। ऐसा सोचकर जिस प्रकार विक्षुब्ध समुद्र के शान्त होने पर तरंगें लौट आती हैं उसी प्रकार मुनि स्व-उच्चता को क्रमशः कम करते-करते पूर्व रूप में लौट आए। संघ के अनुरोध पर मुनि ने नमूची को मुक्त कर दिया। चक्रवर्ती ने नमूची को पदच्युत कर देश निकाला दे दिया। उसी समय से त्रिपाद भूमि चाहने वाले महामुनि विष्णुकुमार त्रिविक्रम नाम से विख्यात हुए। संघ का कार्य कर प्रायश्चित द्वारा चारित्र की उन्होंने शुद्धि आराधना से केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को गए।
(श्लोक १९८-२०३)

महापद्म ने भी संसार भय से भयभीत होकर राज्य को तृणवत् परित्याग कर सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने ५०० वर्ष युवराज रूप में, ५०० वर्ष शासक रूप में, ३०० वर्ष दिग्विजय में १८७०० वर्ष चक्रवर्ती रूप में और १० हजार वर्ष व्रती रूप में बिताये। महापद्म की इस प्रकार कुल आयु ३० हजार वर्ष की थी। कठिन तपश्चर्या और विभिन्न प्रकार के व्रतों का पालन कर घाती कर्मों को क्षय किया एवं केवल-ज्ञान प्राप्त किया।
(श्लोक २०४-२०७)

इस पर्व में दो, जो तीर्थंकर भी थे और चक्रवर्ती भी, दो जिन, दो चक्रवर्ती, दो राम और दो वासुदेव व दो चरित्रों का वर्णन किया गया है। इन चौदह शलाका पुरुषों का यश दिशाओं में परिव्याप्त है—उनके उन्नत चरित्र की गाथा विश्वजनों के कर्ण कुहरों में आतिथ्य ग्रहण करें। (श्लोक २०८)

अष्टम सर्ग समाप्त

षष्ठ पर्व समाप्त

□